—ग्रन्थ-सामग्री—

अध्याय	पृष्ठ
प्रस्तावना	क
भूमिका	१

६. पारस पत्थर क्या होगा ? ३३

श्रीहरिदासजीकी उत्कण्ठा : मनस्वीका निश्चय : इष्ट-दर्शन : मनःसंयम : स्पर्शमणि : प्रीतमदास : ममत्व नहीं समत्व : मनखण्डीजीका परिचय : सत्य-निष्ठा :

७. साँकलका साँप ३९

कठोर तपस्या : परीक्षा : सर्प-व्याधि : सर्पके पीछे : किंकर्तव्य-विमूढ़ : ब्राह्मणसे भेंट :

८. आओ प्रीतमदास... ... ... ४४

आओ वत्स ! : सत्संगका प्रसाद : सेवाकी भावना : प्रोत्साहन : विभूति : अखाड़ोंकी स्थापना :

९. शालके वृक्षमें आम ४८

द्वारपाल : आम खानेकी इच्छा : दोनों लौटे : शालपर आम :

१०. अग्नि-समाधि ५३

नवीन जाल : लम्बी समाधिकी सूचना : कुचक्रका अवसर : विनाशकाले विपरीत बुद्धिः : छल : अन्तिम संस्कारका प्रबन्ध : शाप : मौन-वास : भविष्य-निर्देश : समाधि-स्थापना : धूनी साहब : मनखण्डीजीकी मूर्ति :

११. सिन्धु-गंगा ६०

कैलास : सिन्धु-नद : त्रिसप्तसिन्धु : सिन्धु-नदका माहात्म्य : सिन्धुका ऐतिहासिक महत्त्व : भारतका गौरव : इतनी उपेक्षा क्यों ?

१२. बाबा रूखड़दासका शाप ६८

सिन्धुका सौंदर्य : सक्खर और रोहिड़ीके बीचका द्वीप : द्वीप-पहाड़ी : बाबा दीनदयालुकी धूनी : भक्खर द्वीपके

मुसलमानोंका षड्यन्त्र : हत्यारोंकी नौका : हत्या : बाबा रूलड़दासकी समाधि :

१३. वरुण-द्वीप या जिन्दापीर ७५

मीरोंका आतंक : दैवी सहायता : कंसके अत्याचारोंकी गूंज : वरुणदेवका स्वरूप : मीरका निमन्त्रण : सेनाके साथ : महात्मा उडेरालालका सम्मान : महात्माके अपमानका फल : जल-प्रलय : क्षमा-दान : जिन्दापीर :

१४. वरदान ८२

पुत्रकी चिन्ता : श्रीमती मनोरमादेवी : स्वामी श्री-मेलारामजी उदासीन : कुरुक्षेत्रमें स्वामीजीका आगमन : वर माँगिए : स्वामीजीका सत्कार : प्रार्थना : प्रार्थना-स्वीकरण : अमोघ वचन :

१५. भालचन्द्रका जन्म ९०

भालचंद्रका संस्कार : सिद्धका आगमन : साधुरामका जन्म : भालचन्द्रकी मेधा : विराग : माता-पिताकी चिन्ता :

१६. श्रीवनखण्डीजी महाराजका उदय ९५

साधुका आगमन : संस्कार जाग उठा : गुरुकी खोजमें : अपरिचित पन्थ : गुरुसे भेंट : थानेश्वरमें चिन्ता : कुशल-समाचार : क्षमा-याचना :

१७. ज्ञान-गुदड़िया १०२

पटियाला-नरेशके साथ : नगरके बाहर : वनखण्डीजीका तेज : चिर-किशोर : परिधान : योग-गुदड़ी : टोपा : सोमी : तीर्थाटनकी यात्रा : देशाटन : अनुभव :

१८. तीर्थाटन और देशाटन ११०

स्थावर तीर्थ : तीर्थका महत्व : अमरनाथकी यात्रा : कुम्भ-पर्व : चार सिंह : गुरु-पूजाके दिन थाम :

नर-बलि बन्द : ठगोंकी विद्या कीलित : नर-भक्षक अघोरियोंसे मुक्ति : जलपोतकी गति-दान : बम्बईकी यात्री : बम्बईका आश्रम : भील सरदारका अत्याचार : आश्रम-स्थापनाका संकल्प :

१६. सिन्धु-निवास १२२

महामारीका शमन : हर्षोल्लास : प्रस्थानका संकल्प : अकेले प्रस्थान : रोहिड़ीमें : भक्करका कोतवाल : वरदान सफल :

२०. तीर्थकी स्थापना १२८

बालकोंका मुण्डन : साधुवेलामें धूनी : कपका छत्र और वृक्षारोपण : श्रीचन्द्राचार्यजीका सन्देश :

२१. माता अन्नपूर्णाका वरदान १३२

माता अन्नपूर्णाके दर्शन : याचना : कन्या-भोज : देवस्थापन : घाट-निर्माण : पुनः तीर्थ-यात्रा :

२२. अमरनाथकी यात्रा १३७

स्वयम्भू तुषारलिंग : दुर्गम पथ : अमरनाथका दर्शन :

२३. साधुवेलामें चमत्कार १४०

चमत्कार : लोक-मंगल : परीक्षाके इच्छुक साधु : दिनचर्या :

२४. जैसेको तैसा १४५

अभेद्य दुर्ग : दूसरा कुचक्र : काजीजी : सम्मिलित षड्यन्त्र : दुष्टोंको दण्ड :

२५. साधुवेलाके नाग १४६

पाले हुए नाग : भक्त नाग : विष्णुदासजीपर नागका आक्रमण : नागोंका लोप :

२६. दाल-भातमें मूसरचन्द १५३

अँगरेजोंका कुचक्र : दोनों हाथोंसे लूट : अँगरेजी राज्य :

भारतका दुर्भाग्य : पारस्परिक कलह : महाराजा रणजीतसिंह : देश-द्रोही : अंगरेजोंके कालचरण :

२७. राजमद १६०

सिन्धके मुसलिम शासक : सिन्धका भौगोलिक महत्त्व : अंगरेजोंकी दाम-नीति : अंगरेजोंकी राजनीतिक चाल : विश्वासघात : लूट-पाट : फ्रंक विल्स : बँगलेका निर्माण : अन्तर्धान : भयंकर शूल : स्वामीजीकी खोज : पश्चात्ताप : अभिमान-हरण :

२८. ब्रह्मनिर्वाण और जल-समाधि १७०

ब्रह्मनिर्वाणका संकल्प : उत्तराधिकार : आग्रह स्वीकार : अन्तिम सन्देश : योगावसान : जल-समाधि : मोतियोंकी माला : पुनः दर्शन :

२९. स्वामी हरिनारायणदासजी १७६

प्रारंभिक जीवन : सर्वस्व अर्पण : कोठारीके पदपर : वैराग्य-वृत्ति : वपुष्मत्ता : गरीब-नेवाज : सिद्धिकी कथाएँ : चमत्कार :

३०. साधुबेलाका शृंगार १२८

स्वामी हरिप्रसादजी : पुनः गद्दीपर : आश्रमका संस्कार : स्वामी अचलप्रसादजी : स्वामी जयरामदासजी :

३१. स्वामी हरिनामदासजी उदासीन १८६

गुरुका प्रसाद : श्री हरिनामदासजी : साधुबेलाका शृंगार : भारत-भ्रमण : कुम्भपर छावनी : लोक-सेवा : उदारता : व्यापक सम्पर्क : दिनचर्या : मृदु स्वभाव :

३२. पाकिस्तानकी लहर १९२

हिन्दू-मुसलिम दंगे : ब्रिटिश कूटनीति : मुसलिम लीग : पाकिस्तानकी रूपरेखा : दैव-संयोग : भारत छोड़ो :

चलो दिल्ली : ब्रिटिश दमनचक्र और मालवीयजी महाराज : समझौता : भारतका भयंकर विभाजन : हिन्दुओंकी दुर्दशा :

३३. नमस्कार ! साधुबेला ! नमस्कार ! ... २०१

काले बादल : अग्निका कष्ट : साधुबेलासे प्रस्थान : साधुबेलाकी व्यवस्था :

३४. साधुबेलाका परित्याग २०६

साधुबेलापर राजकोप : यह अन्धेर : पाकिस्तानियोंकी नीचता : साधुओंके साथ दुर्व्यवहार : सेठ माधवदासको निर्वासन-दण्ड : सक्खरमें मुसलमानोंका उपद्रव : आश्रम छोड़ दिया गया : स्वामी हरिनामदासजीका महानिर्वाण : अन्तिम संस्कार : श्रीगणेशदासजी गद्दीपर :

३५. पाकिस्तानकी यात्रा २१४

तीर्थ-दर्शनका विचार : सप्तर्षि-मण्डल : करांची तब और अब : साधुबेलाकी ओर मेला : समारोह : मोर और हरिन क्या हुए ? : हिन्दुओंका जीवन : पाकिस्तानकी आन्तरिक दशा : पाकिस्तानके हिन्दू : उत्तर-प्रदेशका आतंक : व्यापक असन्तोष : व्यापार : ये शरणार्थी मुसलमान : भारतके विरुद्ध प्रचार : प्रत्यावर्तन :

३६. जागो साधुबेला २२४

अवतार-स्वरूप : साधुबेलाकी महत्ता : भारतका दुर्भाग्य : सद्बुद्धिकी कामना : काशीका आश्रम : स्वामी गणेशदासजी महाराज : विद्यार्जन : जागो :

परिशिष्ट १ उदासीन-सम्प्रदाय-परम्परा २३१

परिशिष्ट २ श्रीश्रीचन्द्रजीकी परम्परा २३५

परिशिष्ट ३ श्रीवनखण्डीजी महाराजकी परम्परा ... २३७

—चित्र-सूची—

१. श्रीसाधुबेला-तीर्थ, सक्खर [सिन्ध] (रंगीन) १

२. मोरंग झाड़ीमें तपस्वी श्रीवनखण्डीजी (रंगीन) १०

३. बम्बईमें श्रीसाधुबेला-आश्रम १२०

४. श्रीवनखण्डीजीको माता अन्नपूर्णा हरीतकीका कमण्डलु दे रही हैं। (रंगीन) १३४

५. श्रीसाधुबेला-तीर्थके संस्थापक और महन्त (रंगीन) १८४

६. महन्त स्वामी श्री हरिनामदासजी उदासीन १८६

७. साधुबेलाका प्रमाण-पत्र १८८

८. करांची कार्पोरेशन-द्वारा स्वामी हरिनामदासजीको मान-पत्र १९०

९. श्रीगणेशदासजी गद्दीपर २१२

१०. बाबा श्रीगुरुचरणदासजी कोठारी २१४

११. साधुबेलाके यात्री २१६

१२. काशीका आश्रम २२०

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी श्री गणेशदासजी महाराज, महन्त श्रीसाधुवेला-तीर्थ, सक्खर [सिन्ध] तथा श्रीसाधुवेला-आश्रम, काशी, बम्बई तथा उत्तरकाशी ।

प्रस्तावना

मेरे परम सखा पण्डित गयाप्रसाद ज्योतिषीजीने जब मुझे यह समाचार दिया कि श्रीसाधुबेला-आश्रमके महन्तजी श्रीसाधुबेला-तीर्थका प्रामाणिक तथा ललित इतिहास मुझसे लिखवाना चाहते हैं तब मुझे कुछ थोडा कुतूहल हुआ। मैं यह नहीं जानता था कि सिन्धुनदकी प्रखर धाराके बीच समवस्थित जिस परम रमणीय तीर्थके दर्शन मैं एक बार कर आया था वह पाकिस्तानके उपद्रवोंसे ऊबकर अब काशी उठकर चला आया है। इसी कुतूहलसे प्रेरित होकर जब मैं श्रीसाधुबेला-तीर्थके वर्त्तमान महन्थ अधीश्वर स्वामी श्रीगणेशदासजीसे भेंट करने गया तो उनके शील-स्वभावसे

आकृष्ट होकर तथा आश्रमके नवीन भव्य रूपसे प्रभावित होकर मैंने यह भार अपने ऊपर लेना स्वीकार कर लिया।

श्री महन्तजीने उस ग्रन्थके सम्बन्धमें जो सामग्री दी, उसे देखकर मैंने समझा था कि यह कार्य कुछ कठिन नहीं है और तीन मासमें यह ग्रन्थ पूर्ण हो जायगा। किन्तु ज्यों-ज्यों इस ग्रन्थके लिये विकीर्ण सामग्रियोंका संग्रह, चयन और सम्पादन होने लगा त्यों-त्यों यह कार्य दुरूह और कष्टसाध्य होनेके साथ-साथ समय-साध्य भी प्रतीत होने लगा। साधारण उपन्यास या नाटकमें कल्पित इतिवृत्तका कथानक बनाकर धारा-प्रवाह लिखते जाना अत्यन्त सरल होता है किन्तु ऐतिहासिक और वास्तविक वस्तु तथा व्यक्तियोंकी कथाके आवश्यक, सबद्ध, सगत तथा भाव-पूर्ण अशोको सग्रह करना, उन्हें सम्पादित करना, उनकी कथाओंको सुश्रृंखलित करना और फिर आवश्यक काव्य-तत्त्वोंसे अलकृत करते हुए भी उसकी ऐतिहासिकता अक्षुण्ण बनाए रखना सरल कार्य नहीं है।

फल यह हुआ कि कई बार इसकी रूप रेखा बनाई बिगाड़ी गई, इसका अध्याय-क्रम अदला-बदला गया, कुतूहल-वृत्तिकी रक्षाके लिये आवश्यक तत्त्वोंका समावेश किया गया, भौगोलिक तथा ऐतिहासिक विवरणोंके प्रामाणिक आधार खोजे गए और इस सपूर्ण अध्यवसायके अवलबपर पहला रूप खड़ा किया गया और ग्रन्थ लिखा जाने लगा। उसके पश्चात् उसकी आवृत्ति करके भाषाकी-दृष्टिसे उसकी शैलीमें जहाँ शिथिलता प्रतीत होती रही, उसमें प्रौढता और सरसता भरी जाने लगी। उसके पश्चात् शैलीकी एक रूपताका निर्वाह करनेके लिये

उसका पुनः एक बार संशोधन कर लेना पड़ा।

इस प्रकार इस ग्रन्थको विशिष्ट भाषा-शैलीमें ऐतिहासिक उपन्यासके कुतूहलके साथ नवीन रूपमें प्रस्तुत करनेका अभिनव उपक्रम किया गया। इसमें नियमित रूपसे दो शैलियोंका समावेश किया गया है—एक गुम्फित वाक्योंवाली समास-बहुला उदात्त वर्णन-शैली जिसका प्रयोग प्रायः प्राकृतिक वर्णनोंके लिये किया जाता है; दूसरी है सरल वाक्योंवाली रूढोक्ति-पूर्ण प्रांजल कथा-शैली जिसमें कथा-प्रवाह अधिक व्यवस्थित और सरस प्रतीत होता है। इन दोनों शैलियोंमें गुंथे हुए प्रबन्धकी सरसता और उपादेयता निरन्तर पाठकको भाषा-संस्कारके साथ-साथ कथा-प्रवाह तथा वर्णनका सरस रस भी प्रदान करती रह सकती है इसीलिये भाषा-शैलीके सम्बन्धमें इसी नीतिका अनुसरण उचित तथा अनुकूल समझा गया।

जिस प्रकारका श्रम ऐसे ग्रन्थके लिये अपेक्षित था उसे देखते हुए मैं यह भार ग्रहण न करता किन्तु स्वामी श्रीबनखण्डीजी महाराजके अलौकिक दिव्य चरितसे मैं इतना प्रभावित हुआ कि मुझे उनकी कथाओंमें विचित्र रहस्यात्मक रस प्राप्त होने लगा और उसी रसकी अनवरत प्रेरणाने मेरी व्यस्ततामें भी मुझे इसकी ओर उन्मुख किए रक्खा।

श्रीसाधुबेला-आश्रमके यशस्वी महन्त श्रीगणेशदासजीका मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने श्रीसाधुबेलाका इतिहास इस रूपमें प्रस्तुत करनेकी प्रेरणा देकर मुझे लोकोत्तर-चरित महात्माओंके पुण्य चरितसे अपनी लेखनी और वाणीको पवित्र करनेका अवसर दिया। मुझे

विश्वास है कि यह ग्रन्थ श्रीमाधुवेला-तीर्थ, उसके संस्थापक तथा उसके पुण्यशील महात्माओंका सरस परिचय देनेमें पर्याप्त सहायक सिद्ध होगा।

काशी   सीताराम चतुर्वेदी
पौष कृष्ण ८, सं० २००६

भूमिका

मानव धर्मशास्त्रके उपदेष्टा भगवान् मनुने जब यह कहा—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा ॥

[इस देशमें उत्पन्न होनेवाले अग्रजन्मा ब्राह्मणोने इस भूतलके समस्त मानवोको अपने चरित्रकी शिक्षा दी ।]— तब उनका ध्वन्यर्थ यही था कि ससारकी समस्त ज्ञान-विद्याओने सर्वप्रथम इसी भूमिपर अवतार लेकर हमारे देशको विद्या-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न तथा शीलसम्पन्न करके इतनी नैतिक समर्थता प्रदान कर दी कि उन विद्याओका साक्षात्कार करनेवाले वैदिक ऋषियोने, उनके आश्रयसे केवल अपना या अपने देशका ही कल्याण नही किया वरन् उस ज्ञानज्योतिके महादीपका प्रकाश देकर उन्होने सपूर्ण तमसावृत मानव-समाजको असत्से सत्मे, अन्धकारसे प्रकाशमे, मृत्युसे अमरताम ला बैठाया ।

असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्माऽमृत गमय ।

उन्हें कभी यह लोभ नही हुआ कि अखण्ड तपस्याके बलपर उन्होने जो ज्ञानराशि एकत्र की है उसका उपभोग वे अकेले करें और शेष ससारके प्राणियोको अन्धकारमें डालकर, उनकी मूर्खताका अनुचित लाभ उठाकर, उन्हें बौद्धिक दासताके लौह-बन्धनमें बाँधकर, सदाके लिये निस्तेज, निर्वीर्य तथा नि शक्त बनाए रखकर उनसे अपनी सेवा कराते रहें !

आर्योंने तामसी अथवा भौतिक तत्त्वोंकी प्राप्ति या उनके संग्रहके लिये इन विद्याओंका प्रयोग नहीं किया। उन्होंने अपनी विद्या-शक्तिसे जहाँ एक ओर समाज और लोकके कल्याणके साधन एकत्र किए वहीं उन्होंने अध्यात्म-शक्तिके संचयमें भी पूर्ण शक्ति लगाकर परम तत्त्वके गूढ़तम, सूक्ष्मतम रहस्योंकी खोज करके अपना आध्यात्मिक वैभव इतना ऋद्ध कर लिया कि संसारकी समस्त शक्तियाँ उसके सम्मुख नतमस्तक हो गईं। आर्योंने ही संसारमें सभ्यताके प्रथम दर्शन करके अपने इहलौकिक तथा पारलौकिक ज्ञानको उसी समय इतना उन्नत तथा व्यापक कर लिया था कि भौतिक तथा पारमार्थिक जगत्का कोई ऐसा तत्त्व शेष नहीं रह गया था जिसके सूक्ष्मतम अंश भी उनकी दिव्य दृष्टिसे बचे रह गए हों। जिस समय अन्य देशोंके मानव, शाखामृग वनचर अरण्योंमें श्वापद-जीवन व्यतीत कर रहे थे उस समय त्रिसप्तसिन्धुके सरस प्रदेशमें आर्योंने जीवनके सभी अंगोंको पुष्ट और समृद्ध करनेके साथ मानव-जीवनके रहस्यात्मक आध्यात्मिक सम्बन्धोंका संपूर्ण रहस्य हस्तगत कर लिया था।

कर्मवाद

वैदिक युगमें ही आर्योंने इहलौकिक और पारलौकिक तत्त्वोंका ज्ञान समन्वित करके यह सिद्धान्त निकाल लिया था कि संसारका प्रत्येक प्राणी कर्मके बन्धनमें बँधा हुआ है। वह जैसा करता है वैसा ही उसे फल भोगना पड़ता है और वह फल उसे या तो इसी जन्ममें भोग लेना पड़ता है या उसे भोगनेके लिये उसे दूसरा जन्म धारण करना पड़ता है। इस दूसरे जन्ममें यह आवश्यक नहीं है कि उसे मानव शरीर प्राप्त

ही हो। अण्डज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज—इन चार आकरोंमेंसे किसीके द्वारा वह चौरासी लाख योनियोंमेंसे किसीमें भी पड सकता है।

कर्म-चक्रसे मुक्ति

इस आवागमनके फेरसे मुक्त होनेके लिये ही आर्योंने तीन विधान किए—

१—सत्कर्म किए जायें, अर्थात् धर्माचरण किया जाय।

२—ज्ञानकी अग्निमें सब कर्म ही जलाकर भस्म कर दिए जायें।

३—जो भी कर्म किया जाय, सब ईश्वरको अर्पण कर दिया जाय, जिससे सुकर्म और कुकर्म, सबसे अपना पल्ला बचा रहे, क्योंकि धर्माचरण करनेमें भी यह बन्धन तो लगा ही हुआ था कि सत्कर्मका फल भोगनेके लिये मनुष्यको जन्म लेना ही पड़ेगा। इतना सिद्धान्त प्रतिपादित कर देनेपर भी वे यह भली भाँति जानते थे कि यदि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करनेके फेरमें पड गया तो लोक-स्थिति या सामाजिक जीवनमें सकट उपस्थित हो जायगा। इसलिये उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि कर्म तो सभीको करना चाहिए, किन्तु कर्ममें लिप्त नहीं होना चाहिए। कर्मके परिणामसे अपनी बुद्धि और अपने मनको अलग या असग रखना चाहिए। इतनी सब बातें विचारकर उन्होंने धर्मकी परिभाषा ही ऐसी बना दी जिसमें इहलोक और परलोक दोनोंके परम सौख्यका सुन्दर समन्वय हो सके। वैशेषिक दर्शनमें धर्मकी परिभाषा बताई गई है—

यतोभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः।

[जिससे इस लोकमें पूर्ण अभ्युदय या सौख्य मिले और परलोकमें मुक्ति प्राप्त हो, वही धर्म है।]

तीन ऋण

आर्योंका यह भी अखण्ड तथा निश्चित विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सिरपर तीन ऋण लेकर उत्पन्न होता है—देवऋण, पितृ-ऋण तथा ऋषि-ऋण।

देव-ऋण

ईश्वरने यह सृष्टि बनाई है। मनुष्य तथा प्राणियोंको सुख, जीवन और सुविधा देनेके लिये ईश्वरने जल, वायु, प्रकाश, वनस्पति, पशु, पक्षी, नदी, ताल, निर्झर, मेघ आदिकी सृष्टि की है। इन सबके सहारे हमारा जीवन चलता और पलता है। यही देव-ऋण हमारे सिरपर चढ़ा हुआ है। इससे उऋण होना ही चाहिए। किन्तु ईश्वरके साक्षात् दर्शन तो हो नहीं पाते इसलिये हम देव-शक्तियोंके निमित्त अन्न आदिका दान तथा यज्ञ करके इस देव-ऋणसे उऋण हो सकते हैं। किन्तु यज्ञ करनेके लिये उसकी विधि, कर्मकाण्ड, वेद, वेदांग, शास्त्र और स्मृतिका ज्ञान भी होना चाहिए, क्योंकि मंत्र पढनेमें यदि तनिक सी भी गडबडी हुई कि वह मंत्र ही ले बीत सकता है।

दुष्ट शब्द स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु स्वरतोऽपराधात्।

इसलिये इस सम्बन्धमें बडी सावधानीसे ठीक-ठीक अध्ययन करना चाहिए और ब्रह्मचर्याश्रमको अवश्य ही सिद्ध करना चाहिए।

पितृ-ऋण

हमारे माता पिताने हमें यह शरीर दिया है। हम केवल उनकी सेवा करके इस पितृ-ऋणसे उऋण नहीं हो सकते। इस ऋणसे उऋण होनेके लिये हमारा यह धर्म है कि हम अच्छे कुल, गोत्र, शील, संस्कारवाली

कन्यासे शुद्ध विवाह करें और उससे पुत्र उत्पन्न करें। इसका तात्पर्य यह है कि हमें गृहस्थ-आश्रम-का पालन करना चाहिए। इसके लिये हमें स्वस्थ शरीर चाहिए, गृहस्थी चलानेकी योग्यता चाहिए। इसके लिये भी तदनुकूल कामशास्त्रकी आवश्यक शिक्षा मिलनी चाहिए। बहुतसे लोग कामशास्त्रके सम्बन्धमें यह धारणा बनाए हुए हैं कि इसमें केवल विभिन्न मुद्राओंसे विलासके अनेक आसन-मात्र हैं। किन्तु ऐसी बात वास्तवमें है नहीं। उसमें स्पष्ट रूपसे ऐसे सब विधान और उपाय सुझाए गए हैं कि मनुष्य सयत शारीरिक भोग करते हुए भी अत्यन्त दीर्घायु और स्वस्थ बना रह सकता है। वात्स्यायनने अपने कामसूत्रमें कहा भी है कि मेरे कथनके अनुसार यदि कोई अपनी जीवन-चर्या बना ले तो—

'आषोडशात्सप्ततिपर्यन्त कैशोरकम् ।'

[सोलह वर्षसे सत्तर वर्षतक किशोरावस्था बनी रह सकती है।] अत पितृ-ऋण चुकानेके लिये भी स्वस्थ शरीर, सत्सकल्प और शुद्धाचरणकी आवश्यकता है ही। उसके लिये भी शिक्षा अनिवार्य्य है।

ऋषि-ऋण

हमारे जिन पूर्वज ऋषियोंने अपनी तपस्या, अपने अनुभव, प्रयोग तथा अध्ययनसे हमारे लिये ज्ञान सचित कर छोडा है उनका भी हमपर बडा भारी ऋण है। उस ऋणसे उऋण होनेके लिये यह आवश्यक है कि हम उनके छोडे हुए ज्ञानका अध्ययन करके उसका प्रचार करें अर्थात् विद्यादान या ज्ञानदान करें। यह ज्ञानदान ब्रह्मचर्यकी अवस्थासे लेकर सन्यास-आश्रमकी अवस्थातक निरन्तर चल सकता है। इसके लिये ज्ञानका

संवर्धन करना तथा अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। यों भी अपना जीवन सफल, सरस, सुन्दर और मधुर बनानेके लिये शिक्षा तो अत्यन्त आवश्यक है ही।

अभ्युदय और तीन एषणाएँ

अभ्युदय या इहलौकिक सौख्यके रूपोंके सम्बन्धमें विस्तृत विचार करके आर्योंने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्यकी सम्पूर्ण लौकिक चेष्टाएँ या तो धन-सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिये, या पुत्र प्राप्त करनेके लिये या यश प्राप्त करनेके लिये होती हैं। इन तीनों प्रवृत्तियों या इच्छाओंको उन्होंने क्रमशः वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा कहा है। इन्हींको हम दूसरे शब्दोंमें कह अर्थप्रवृत्ति, काम-प्रवृत्ति और धर्म-प्रवृत्ति (यशःप्रवृत्ति) कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी विरागी लोग हैं जो इस जीवनसे ऊबकर अलक्ष्य परमात्म-तत्त्वमें लीन हो जाना चाहते हैं या उसकी किसी व्यक्त विभूतिसे परम सान्निध्य या तन्मयत्व सिद्ध करना चाहते हैं। इसे हम मोक्षैषणा कह सकते हैं। इन्हीं चारों एषणाओंकी सिद्धिके लिये आर्योंने प्रत्येक मनुष्यके लिये यह निर्धारण किया है कि सबको चार पुरुषार्थ सिद्ध करने चाहिएँ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यही मनुष्य-जीवनकी सफलता है, यही उसका परम लक्ष्य है, यही उसका परम पौरुष और कर्त्तव्य है। इसलिये पुरुषार्थ-साधन ही आर्योंकी जीवन-पद्धतिका लक्ष्य बन गया।

वर्ण-व्यवस्था

जैसे सिर, हाथ, पैर, उदर, आदि विभिन्न अंगोंसे शरीर बना हुआ है और ये सब अंग पूरे शरीरकी रक्षाके लिये निरन्तर सचेष्ट रहते हैं, उसी प्रकार आर्योंने पूरी सृष्टिको, सब प्रकारके जड़-चेतन पदार्थोंको,

उनके गुण (सत्व, रज, तम), (पिछले जन्मके) कर्म और स्वभावके अनुसार उन्हें चार भाग या वर्णोंमें विभक्त कर दिया। इसके अनुसार केवल मनुष्य ही चार वर्णके नही हुए, वरन् पशु, पक्षी, वृक्ष, जल, भूमि, रत्न, काष्ठ, सब चार वर्णके हो गए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यदि कोई मनुष्य हाथके दुर्बल रह जानेसे या कट जानेसे हाथका काम पैरसे करने लगे तो उसके पैरको केवल हाथका काम करने मात्रसे हम हाथ नहीं कहने लगते। इसी प्रकार यदि किसी वर्णका पुरुष किसी दूसरे वर्णके योग्य काम करने लगे तो उससे उसका वर्ण नही बदल जाता, क्योंकि पारम्परिक संस्कारके कारण उसकी जो मानसिक वृत्ति बन जाती है, वही वर्ण-व्यवस्थामें प्रधान समझी जाती है, केवल बाह्य आचरण और व्यवसायसे उसमें अन्तर नही आ जाता। यदि घोड़ेसे बोझ ढोनेका काम लिया जाय तो वह गधा नही कहला सकता और यदि गधे या खच्चरको टमटममें जोत दिया जाय तो वह घोडा नही कहला सकता। घोडेका घोड़ापन उसके जन्म-संस्कार पर अवलम्बित है, भले ही वह गधेसे भी अधिक दुर्बल और अशक्त क्यो न हो गया हो।

कार्य-विभाजन

इस प्रकारकी व्यवस्थामें गुण-कर्म-स्वभावके अनुसार मानव-समाजकी चार मुख्य आवश्यकताएँ मान ली गईं—बौद्धिक, शारीरिक, आर्थिक और सेवात्मक। इस प्रकार काम बँट जानेसे सब लोग अपनी रुचि, समर्थता और प्रवृत्तिके अनुसार पारस्परिक संघर्षके बिना, लोक-कल्याणके कार्योंमें संलग्न हो गए। आजका मनोविज्ञान गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा है कि मनुष्यकी रुचि,

प्रवृत्ति और समर्थताका परीक्षण करके उसके योग्य कार्य उसे दिया जाय किन्तु आर्योंने यह कार्य न जाने कितने सहस्र वर्ष पहले ही कर लिया था। इतना ही नहीं, उन्होंने बुद्धिमत्तापूर्वक उन लोगोंपर व्यर्थ पढ़नेका भार नहीं डाला जो अनेक प्रकारके शिल्पों और कलाओंका पोषण करके समाजकी रक्षा कर रहे थे, क्योंकि यदि वे भी गुरुकुलोंमें भेजे जानेके लिये विवश किए जाते तो उनकी निकुलीनिका (कुल या घरकी व्यवसाय-कला) ठण्ढी पड़ जाती। अतः गुरुकुलमें पढ़ने-लिखनेकी अनिवार्यता केवल उन तीन वर्णोंके लिये रक्खी गई जिनका काम विना गुरुकुलमें अध्ययन किए चल ही नहीं सकता था। शेष लोगों, अर्थात् शूद्रोंके लिये यह विधान किया गया कि वे अपने पिता या शिल्प-गुरुसे आवश्यक अध्ययन कर लें जहाँ उन्हें शस्त्र, यान, सेतु तथा भवन-निर्माण आदि उच्चतम शिल्पोंकी भी शिक्षा प्राप्त हो जाती थी। सच कहिए तो वैज्ञानिक शिक्षा पूर्णत. केवल शूद्र-वर्गके हाथमें ही थी।

चारों वर्णोंके कर्तव्य

ब्राह्मणोंका काम था पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। क्षत्रियका काम था प्रजा, आश्रित या आर्तजनोंका रक्षण और पालन करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना तथा भोग-, विलाससे दूर रहना। वैश्यका काम था ढोर पालना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, महाजनी करना और खेती करना। शूद्रका काम था निश्छल भावसे सब वर्णोंके कामकी वस्तुएँ बनाना, जुटाना और सेवा करना अर्थात् ब्राह्मणोंके यज्ञके लिये कुण्ड, पात्र, खड़ाऊँ दण्ड, कुटी आदि बनाना तथा मृगछाला आदि एकत्र

करना; क्षत्रियोंके लिये रथ, यन्त्र, पुल, भवन, दुर्ग और अस्त्र-शस्त्र बनाना तथा वैश्योंके लिये हल, गाड़ी, रथ रस्सी आदि बनाना। सेवाका तात्पर्य सात्त्विक सहयोग था, नौकरी करना या दूसरोंके घरके सब छोटे-मोटे काम-धन्धे करना नहीं। नौकरके लिये भृत्य या दास शब्द था। शूद्रके लिये कहीं भी 'दास' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है, केवल 'सेवक' शब्दका प्रयोग हुआ है जो अत्यन्त आदरणीय पदका बोधक था—

सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्य.॥

[सेवाका धर्म इतना बड़ा है कि योगी लोग भी उसे नहीं निबाह पा सकते।]

ब्राह्मणका कठोर जीवन

जहाँ ब्राह्मणको इतना ऊँचा पद दिया गया था वहाँ उसके लिये नियम भी बड़े कठोर बना दिए गए। अपनी जीविका चलानेके लिये ब्राह्मण लोग यज्ञ कराने और अध्यापनका कर्म करते थे और केवल उसीसे दान लेते थे जिसने सचाई और अच्छे कर्मसे धन कमाया हो। ब्राह्मणका काम यह था कि वह सदा प्राणिमात्रके उपकारमें लगा रहे, किसी प्रकार भी किसीका अहित न करे। उसका यह भी धर्म था कि वह सब प्राणियोंसे दया और मित्रताका व्यवहार करे; कभी भूलकर भी धनका लोभ न करे तथा सन्तोषका जीवन बितावे। उसका यह भी काम था कि वह वेद पढने, तीर्थ करने और पृथ्वी-दर्शनके लिये सारे भूमण्डलपर भ्रमण करे और ज्ञानका प्रसार करे। अच्छा ब्राह्मण वही समझा जाता था जो जीवन-भर अध्ययन करता रहे—

यावज्जीवमधीते विप्रः।

आश्रम-व्यवस्था

जिस प्रकार समाजको पूर्णाङ्ग व्यवस्थित करनेके लिये वर्णव्यवस्थाका विधान किया गया, वैसे ही मनुष्यके जीवनको पूर्ण सयत करनेके लिये आश्रम-व्यवस्था स्थापित की गई। हम भली प्रकार जानते हैं कि सब देशोंमें जितनी शिक्षा-व्यवस्थाएँ चली, उन सभीमें या तो व्यक्ति प्रधान रहा या समाज। किन्तु भारतीय वैदिक जीवनकी यह विशेपता रही कि, उसमें व्यक्ति और समाज दोनो समान रूपसे प्रधान बने रहे। यही कारण है कि हमारा समाज आजतक सुस्थिर बना चला आया और ससारके अन्य सभी देश अपनी एकागी सस्कृतिको लिए-दिए ससारसे विदा हो गए।

चार पुरुषार्थ

आजकलके कुछ मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्यकी सम्पूर्ण चेष्टाओका आधार भोजन और काम है। हमारे यहाँ भी एक उक्ति प्रसिद्ध है—

काव्येन हन्यते शास्त्र, काव्य गीतेन हन्यते।
गीतञ्च स्त्रीविलासन, स्त्रीविलासो बुभुक्षया॥

[शास्त्रको काव्य मार डालता है, काव्यको गीत, गीतको स्त्री विलास और स्त्री विलासको भूख मार डालती है।] यहाँतक तो कोई दोप नही कि भूख और काम बडे बली होते है पर मनोवैज्ञानिक लोग तो लोकैपणाको भी इसीके अन्तर्गत लेना चाहते हैं। वे यह नही समझते कि कभी-कभी मनुष्य जलते हुए भवनमें रोते हुए बच्चोको निकाल लानेके लिये अपने प्राण सकटमें डालता है, डूबते हुए अपरिचित व्यक्तिको बचा लानेके लिये जलमें कूद जाता है, अनुभव मात्र प्राप्त करके ससारको उसका परिचय देनेके लिये हिमालयपर चढ जाता है और अपने देशकी रक्षाके लिये तोपके मुँहमें

कूद पडता है, फाँसीपर झूल जाता है, यातनाएँ सहता है, यहाँतक कि अनशन करके प्राण भी दे डालता है। इसमें भोजन और कामकी भावना कहाँसे आ टपकी। निश्चय ही इन प्रवृत्तियोंका आधार लोकोत्तर कार्य करके यश पाना या धर्म-निर्वाह ही है।

मानव-प्रवृत्तिका आधार

यह सत्य है कि साधारण मनुष्यकी अत्यन्त साधारण प्रवृत्ति भोजन और मैथुनकी ही होती है पर अत्यन्त साधारण प्रवृत्तियोंमें निद्रा (आलस्य या कामचोरी) और भय भी तो है। इसीलिये किसी नीतिज्ञने कहा है—

> आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
> धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीना पशुभिः समाना ॥

[भोजन, नींद, डर और मैथुन, ये चारों ही प्रवृत्तियाँ पशुओं और मनुष्योंमें एक-सी होती हैं, किन्तु मनुष्यमें एक धर्म-प्रवृत्ति अधिक होती है और जिन मनुष्योंमें यह धर्म-प्रवृत्ति नहीं होती, वे पशुओंके ही समान हैं]। पर यह सूची पूरी नहीं है, क्योंकि जब गौ अपने बछड़ेको बचानेके लिये, हिरनी अपने छौनेकी रक्षाके लिये और बाघिन अपने बघौटोंकी आडके लिये जूझ पडती है तो निश्चय ही मनुष्यकी भी एक और विशेष प्रवृत्ति होती है जिसे हम भोजन और मैथुनके अन्तर्गत नहीं, वरन् धर्मके भीतर रख सकते हैं या अधिकसे अधिक एक नई प्रवृत्ति मान सकते हैं—मोह या स्नेह-प्रवृत्ति। किन्तु भारतीय सिद्धान्तकी काम-प्रवृत्तिके अन्तर्गत यह सब आ जाता है। हाँ, यह अवश्य माना जा सकता है कि आजकल बहुत लोगोंकी काम-प्रवृत्तिका लक्ष्य सुन्दर मन-चाही स्त्री या मनचाहा पति पाना ही है, पुत्र हो

मा न हों। इसलिये हम अपनी एषणाओंमेंसे पुत्रैषणाको वदलकर कलत्रैषणा कह सकते हैं।

यही बात भोजनके सम्बन्धमें भी है। मनुष्य केवल भोजनसे सन्तुष्ट नही होता। उसे सुन्दर, स्वादिष्ट भोजन चाहिए। भोजनके पश्चात् विश्रामके लिये आवास, शय्या, बयार, वस्त्र सभी कुछ चाहिए। इन सबको भी वह जितना सुन्दर बनाना चाहता है, उतना बनानेका प्रयत्न करता है और इन सबको मिलाकर उसकी काम-प्रवृत्ति बनती है। इसलिये केवल भोजन और मैथुन मात्रको मूल प्रवृत्ति कहना या मानना नही चाहिए।

धर्म-प्रवृत्ति

'धारणाद्धर्ममित्याहुः' के अनुसार जो सबकी रक्षा करे वही धर्म है। भगवान् व्यासने दो श्लोकोंमें बड़े सुन्दर ढंगसे धर्मकी व्याख्या की है। वे कहते हैं—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभव-सयुक्तः स धर्म इति मे मतः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

[प्राणियोंके कल्याणके लिये ही धर्मका बखान किया गया है। जिस कर्मसे प्राणियोंका कल्याण होता हो, उसीको धर्म कहते हैं। अहिंसाके लिये धर्मका बखान हुआ है। जिन कामोंसे हिंसा न होती हो (दूसरेको मानसिक या शारीरिक कष्ट न होता हो) वही धर्म है।] गोस्वामी तुलसीदासजीने इसीको इस प्रकार समझाया है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे सब काम धर्म कहलाते हैं जिनसे दूसरोंको सुख मिलता हो, शान्ति मिलती हो, लोक-कल्याण होता हो, किसीका जी न दुखता हो, किसीको [illegible] न होता हो। इस प्रकारके

कर्मोसे सुख पानेवाले लोग निश्चय ही ऐसे धर्म करने-वालोकी प्रशसा करेगे, गुण गावेंगे, बडाई करेंगे और यही वास्तवमें लोकैंषणाकी तृप्ति है, यश प्राप्त करके सुखी होनेकी भावना है और यही धर्म-प्रवृत्ति है।

काम-प्रवृत्ति

हम ऊपर समझा आए है कि कामका अर्थ केवल मैथुन मात्र नही है। यह भी भूख-प्यासके समान एक साधारण-सी शारीरिक उत्प्रेरणा है जो पशुमे भी होती है। पर मनुष्यका 'काम' पशुओके समान क्षणिक सम्पर्क मात्रसे समाप्त नही हो जाता। वह परिवार जोडता है। उसे प्रसन्न, सुखी, स्वस्थ और सुस्थिर रखनेके लिये भवन बनाता, निश्चित वृत्ति ग्रहण करता, अनेक प्रकारकी सामग्रियाँ जोडता और सब प्रकारके अनिष्टो, उपद्रवो और आघातोसे अपने परिवारकी और अपनी रक्षा करता है। ये सब बातें मिलकर उसकी काम-प्रवृत्ति-का निर्माण करती है। यह प्रवृत्ति जितनी ही अधिक तृप्त होती चलती है, उतनी ही अधिक बढती भी चलती है। इसलिये इसके सम्बन्धमे इत्यलम् नही कहा जा सकता।

अर्थ-प्रवृत्ति

जैसे काम-प्रवृत्तिकी कोई सीमा नही होती, वैसे ही अर्थ प्रवृत्तिकी भी कोई सीमा-रेखा नही खीची जा सकती। किन्तु यही प्रवृत्ति वास्तवमे धर्म-प्रवृत्ति और काम-प्रवृत्ति-की पोषिका है। यदि यह प्रवृत्ति कम हो या पूर्णत न हो तो न धर्म सध सकता है न काम। इसलिये अर्थ-प्रवृत्तिकी साधना अवश्य करनी चाहिए अर्थात् प्रयत्न-पूर्वक इतना धन, इतनी सम्पत्ति अर्जित कर लेनी चाहिए कि हम अपनी धर्म और काम-प्रवृत्तियोको तृप्त और

या न हों। इसलिये हम अपनी एषणाओंमेंसे पुत्रैषणाको बदलकर कलत्रैषणा कह सकते हैं।

यही बात भोजनके सम्बन्धमें भी है। मनुष्य केवल भोजनसे सन्तुष्ट नहीं होता। उसे सुन्दर, स्वादिष्ट भोजन चाहिए। भोजनके पश्चात् विश्रामके लिये आवास, शय्या, बयार, वस्त्र सभी कुछ चाहिए। इन सबको भी वह जितना सुन्दर बनाना चाहता है, उतना बनानेका प्रयत्न करता है और इन सबको मिलाकर उसकी काम-प्रवृत्ति बनती है। इसलिये केवल भोजन और मैथुन मात्रको मूल प्रवृत्ति कहना या मानना नहीं चाहिए।

धर्म-प्रवृत्ति

'धारणाद्धर्ममित्याहुः' के अनुसार जो सबकी रक्षा करे वही धर्म है। भगवान् व्यासने दो श्लोकोंमें बड़े सुन्दर ढंगसे धर्मकी व्याख्या की है। वे कहते हैं—

प्रभवार्थाय भूताना धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभव-संयुक्तः स धर्म इति मे मतः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यःस्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

[प्राणियोंके कल्याणके लिये ही धर्मका बखान किया गया है। जिस कर्मसे प्राणियोंका कल्याण होता हो, उसीको धर्म कहते हैं। अहिंसाके लिये धर्मका बखान हुआ है। जिन कामोंमें हिंसा न होती हो (दूसरेको मानसिक या शारीरिक कष्ट न होता हो) वही धर्म है।] गोस्वामी तुलसीदासजीने इसीको इस प्रकार समझाया है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे सब काम धर्म कहलाते हैं जिनसे दूसरोंको सुख मिलता हो, शान्ति मिलती हो, लोक-कल्याण होता हो, किसीका जी न दुखता हो, किसीको किसी प्रकारका कष्ट न होता हो। इस प्रकारके

कर्मोंसे सुख पानेवाले लोग निश्चय ही ऐसे कर्म करने-वालोंकी प्रशंसा करेंगे, गुण गावेंगे, बड़ाई करेंगे और यही वास्तवमें लोकैषणाकी तृप्ति है, यश प्राप्त करके सुखी होनेकी भावना है और यही धर्म-प्रवृत्ति है।

काम-प्रवृत्ति

हम ऊपर समझा आए हैं कि कामका अर्थ केवल मैथुन मात्र नही है। यह भी भूख-प्यासके समान एक साधारण-सी शारीरिक उत्प्रेरणा है जो पशुमें भी होती है। पर मनुष्यका 'काम' पशुओंके समान क्षणिक सम्पर्क मात्रसे समाप्त नही हो जाता। वह परिवार जोडता है। उसे प्रसन्न, सुखी, स्वस्थ और सुस्थिर रखनेके लिये भवन बनाता, निश्चित वृत्ति ग्रहण करता, अनेक प्रकारकी सामग्रियाँ जोडता और सब प्रकारके अनिष्टो, उपद्रवो और आघातोंसे अपने परिवारकी और अपनी रक्षा करता है। ये सब बातें मिलकर उसकी काम-प्रवृत्ति-का निर्माण करती है। यह प्रवृत्ति जितनी ही अधिक तृप्त होती चलती है, उतनी ही अधिक बढती भी चलती है। इसलिये इसके सम्बन्धमें इत्यलम् नही कहा जा सकता।

अर्थ-प्रवृत्ति

जैसे काम-प्रवृत्तिकी कोई सीमा नही होती, वैसे ही अर्थ-प्रवृत्तिकी भी कोई सीमा-रेखा नही खीची जा सकती। किन्तु यही प्रवृत्ति वास्तवमें धर्म-प्रवृत्ति और काम-प्रवृत्ति-की पोषिका है। यदि यह प्रवृत्ति कम हो या पूर्णतः न हो तो न धर्म सध सकता है न काम। इसलिये अर्थ-प्रवृत्तिकी साधना अवश्य करनी चाहिए अर्थात् प्रयत्न-पूर्वक इतना धन, इतनी सम्पत्ति अर्जित कर लेनी चाहिए कि हम अपनी धर्म और काम-प्रवृत्तियोको तृप्त और

तुष्ट कर सकें। किन्तु इसमें एक सबसे बड़ा प्रतिबन्ध यह है कि यह अर्थार्जन या धनका प्राप्त करना धर्म-मार्गसे, अच्छी जीविकासे, सच्चाईसे तथा दूसरोंको बिना कष्ट दिए होना चाहिए। यदि इस अर्थार्जनमें तनिक भी पाप-संग हुआ कि धन भी नष्ट हो जाता है और काम भी समाप्त हो जाता है।

मोक्षकी प्रवृत्ति

मोक्ष-प्रवृत्ति दो प्रकारसे उद्दीप्त होती है—या तो धर्म, अर्थ और कामकी अतृप्तिसे, या धर्म, अर्थ और कामकी अतितृप्तिसे। अतृप्तिसे जो मोक्ष-वृत्ति उद्दीप्त होती है वह अस्थिर और चचल होती है। उसमें यदि कभी, उपर्युक्त तीनों वृत्तियोंकी तुष्टिके साधन निकल आते हैं तो वह तत्काल समाप्त हो जाती है। किन्तु अतितृप्तिसे जो मोक्ष-वृत्ति उद्दीप्त होती है वह स्थिर रहती है और निश्चित रूपसे सफल भी होती है क्योंकि वह ऐसी विराग-दशामें उत्पन्न होती है जब किसी प्रकारकी कोई लौकिक इच्छा शेष नहीं रह जाती और सासारिक भोगोंसे भली प्रकार जी ऊब चुका रहता है।

सिद्धिकी व्यवस्था

इन चारो पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेके लिये आवश्यक है कि मनुष्यका शरीर स्वस्थ और सशक्त हो, उसकी बुद्धि ज्ञान-विज्ञानसे इतनी विवेकयुक्त हो जाय कि वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, उचित-अनुचित, अच्छा और बुरा सबका भली प्रकार निर्णय कर सके, उसका मन इतना सध जाय कि वह सब जीवोंमें आत्मभाव स्थापित कर सके, दूसरेके दुःखसे दुखी और सुखसे सुखी होना जान सके। इसी उद्देश्यको स्थिर करनेके लिये आर्योंने वर्णाश्रमकी व्यवस्था की और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ सिद्ध करना ही जीवनका लक्ष्य स्थिर किया।

शिक्षा-विधान

शिक्षाके द्वारा इस इहलौकिक और पारलौकिक सौख्यको प्राप्त करनेके लिये आर्योंने जो शिक्षा-विधान बनाया उसमें उन्होंने शिक्षाके सम्बन्धमें इतनी बातें निश्चय कर दीं—

१—बालकका शिक्षा-संस्कार गर्भमें ही प्रारम्भ कर दिया जाय।

२—प्रारम्भमें माता उसे नित्य-कर्म, स्वच्छता, शील और शिष्टाचारका अभ्यास करावे।

३—उसके पश्चात् पिता उसे अक्षर-ज्ञान कराकर अपने कुल-शील, आचरण तथा लोक-व्यवहारका ज्ञान करावे। यदि पिता अक्षर-ज्ञान न करा सके तो, कुल-पुरोहित या गाँवके उपाध्यायको बुलाकर अक्षरारम्भ करा दे और लिखना, बाँचना, बोलना और समझना सिखा देनेकी व्यवस्था करे।

४—इतने ज्ञानके पश्चात् उसे गुरुकुलमें भेज दिया जाय।

५—गुरुकुलमें केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्यके पुत्र ही भर्ती किए जायँ।

६—गुरुकुलोंमें प्रत्येक वर्णके कर्त्तव्योंके अनुकूल नि:शुल्क विद्या-दान किया जाय।

७—गुरुकुलोंकी व्यवस्थामें कोई राज्य-शासक किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करे।

८—गुरुकुलोंमें केवल बालकोंको शिक्षा दी जाय।

९—बालिकाओंको घरपर माता और ससुरालमें सास ही शिक्षा दे।

१०—शूद्र अपने व्यवसायकी शिक्षा अपने पिता या सहकर्मी शिल्पीसे सीखे।

आश्रम-धर्म

यह तो सभी मानते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और

मोक्षकी सिद्धिके लिये ज्ञान भी आवश्यक है और बुद्धि भी। इसी कारण यह निर्देश किया गया कि सौ वर्षकी मानवीय पूर्णायुके चौथाई अशको विद्याध्ययनके लिये सुरक्षित कर दिया जाय अर्थात् पच्चीस वर्षकी अवस्थातक छात्र पढते रहें। पच्चीस वर्षकी अवस्थातक केवल ब्राह्मणके पुत्रोको ही नही, क्षत्रिय और वैश्यके पुत्रोंको भी विद्यालयमें अध्ययन करना पडता था। प्रत्येक वर्णके लिये जितनी विद्या अपेक्षित होती थी उतना ज्ञान देकर ही उसे छुट्टी दे दी जाती थी। इसका तात्पर्य यह है कि पाठ्यक्रमके निर्णयमें वर्णका भी विचार किया जाता था। इस अध्ययनकी अवस्थाको ब्रह्मचर्याश्रम कहते थे।

इसके पश्चात् गृहस्थाश्रम आता है। ब्रह्मचर्याश्रम अवस्था पार करते ही प्रत्येक व्यक्तिके लिये विवाह करके, गृहस्थ होकर, धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि करना आवश्यक था।

पच्चीस वर्षतक गृहस्थ-धर्मका निर्वाह करके, पचास वर्षकी अवस्थामे अपने पुत्रादिको घरका भार सौंपकर लोग तपस्याके लिये वनमें चले जाते थे और वहाँ शरीरको इस प्रकार साध लेते थे कि वह मोक्षकी सिद्धिके निमित्त तपस्या करनेको तैयार हो जाय।

फिर पचहत्तर वर्षकी अवस्था पार करते ही मनुष्य सासारिक वन्धनोसे पूर्णत. विरक्त होकर सन्यास ले लेता था एव जीवित ही मोक्ष प्राप्त कर लेता था।

आश्रम-धर्मकी सार्थकता

यह आश्रम-धर्म पूर्णत. मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक है। प्रारम्भमे अध्ययन करना, फिर गृहस्थाश्रममें सचाईसे धन कमाकर लोक-सेवा करना, धर्म करके यश कमाना, गृहस्थीका सुख भोगना और पुत्रैषणा तृप्त करना, वानप्रस्थमें धीरे-धीरे ससारसे विरक्त होनेका अभ्यास करना

और अन्तमें पूर्णत मुक्त हो जाना। इस क्रमसे मनुष्य इस लोक और परलोकके सुख एक साथ साध सकता है। इसमे कही सघर्ष नही, केवल कर्त्तव्य-बुद्धि प्रधान है। आजकलकी भाँति यह नही है कि अन्त समयतक अपनी सम्पत्तिसे लिपटे रहे और अपने पुत्र-पौत्र तथा बन्धुजनोके ईर्ष्या-भाजन बनें।

चारो आश्रमोकी योग्यता

ब्राह्मणको ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास, चारो आश्रमोका पालन करना पडता था। क्षत्रिय और वैश्यको सन्यास नही लेना पडता था, केवल तीन ही आश्रमोमे रहना पडता था। शूद्रके लिये केवल गृहस्थाश्रमका ही विधान था।

ब्रह्मचर्याश्रम

उपनयनके पश्चात् जितेन्द्रिय होकर गुरु-गृहमें रहते हुए अगोसहित वेद पढना, ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता था। इस अवस्थाम उपनयन हो जानेपर ब्रह्मचारीका यह कर्त्तव्य था कि वह मन लगाकर गुरुके घरको ही अपना घर समझे, वहाँ वेद पढे, अत्यन्त पवित्र तथा निरालस भावसे गुरुकी सेवा करे, दोनो समय सन्ध्या करे, सूर्यकी उपासना करे, गुरुजीका अभिवादन करे, गुरु खडे हो तो खडा रहे, बैठें तो उनसे नीचे आसनपर बैठ जाय, सदा गुरुकी आज्ञा माने, गुरुकी आज्ञासे उनकी ओर मुँह करके मन लगाकर विद्या सीखे, उनकी आज्ञा लेकर ही भिक्षासे प्राप्त किया हुआ अन्न ग्रहण करे, गुरुके स्नान कर लेनेपर स्नान करे, नित्य समिधा, जल, आरने (कडे), कुशा, पतल आदि सामग्री प्रात. लाया करे और पढाई पूरी हो चुकनेपर, गुरुकी आज्ञा लेकर, गुरु-दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे।

गृहस्थाश्रम

पच्चीस वर्षकी अवस्थामें विवाह कर चुकनेपर गृहस्थका धर्म यह था कि वह श्राद्ध आदि करके पितरोंको, यज्ञादिके द्वारा देवताओंको, धन-भोजनादि देकर अतिथियोंको, स्वाध्यायके द्वारा ऋषियोंको, सन्तान उत्पन्न करके प्रजापतिको, अन्न-फलादिकी बलि देकर प्राणियोंको तथा दया और स्नेह-भावके द्वारा सारे संसारको तृप्त, प्रसन्न, सन्तुष्ट और सुखी करता रहे; भिक्षा-भोगी, परिव्राजक, ब्रह्मचारी, पर्यटक, साधगृह तथा साधुजनोंका स्वागत करे, उनसे मधुर वचन बोले, उन्हें आसन, जल, शय्या और भोजन दे, कभी द्वेष, क्रोध, अहकार तथा पाखण्ड न करे, किसी प्रकार भी किसीका अपमान या अहित न करे, धर्मानुकूल आचरण करते हुए जीविका कमावे, सन्तान उत्पन्न करे और परिवारका पालन करे।

वानप्रस्थाश्रम

पचासकी अवस्था पार कर चुकनेपर अपनी गृहस्थी भली प्रकार जमा लेने और पुत्र-पुत्रियोंको शिक्षा देकर, उनका विवाह करके, उन्हें भली प्रकार गृहस्थाश्रममें प्रतिष्ठित करके अपनी भार्याको पुत्रोंके सहारे छोड़कर या साथ लेकर वनमें कुटिया बनाकर रहे। यही वानप्रस्थ-आश्रम है। इस आश्रमका कर्त्तव्य था कि मूँछ, दाढी और जटा बढ़ाए रहे, धरतीपर शयन करे, गिरे हुए फल ही खाकर रहे, आए हुए अतिथिका सत्कार करे, मृगचर्म या कुशासनसे शरीर ढँके, तीनों समय (प्रात., मध्याह्न और साय) संध्या तथा देवताओंकी अर्चना करे, हवन और अतिथि-पूजन करे, भिक्षाटन करे, बलि दे, निरन्तर ईश्वरकी आराधना करते हुए तपस्या और तितिक्षा (भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख सहन करनेकी शक्ति) साधे।

संन्यास

पचहत्तर वर्षकी अवस्था हो जानेपर या इससे पूर्व ही वानप्रस्थाश्रममें मन सध जानेपर सिर मुडाकर, गेरुआ वस्त्र पहनकर, दण्ड-कमण्डलु लेकर, विरक्त होकर चतुर्थाश्रममें प्रविष्ट हो जाना सन्यास कहलाता है। सन्यासीका कर्त्तव्य था कि सब प्रकारका लोभ, मोह, मद, मत्सर छोडकर, अपने पुत्र-पौत्र, धन-सम्पत्तिकी ममता छोडकर वैराग्य ले ले एव प्राणिमात्रसे मित्रता करे, मन, वचन और कर्मसे किसी प्राणीका अनिष्ट न करे, पाँच रात्रिसे अधिक एक बस्तीमें न ठहरे, जब गृहस्थके चूल्हे ठण्ढे हो चुकें, सब खा-पी चुके, उसी समय उच्च वर्णके गृहस्थोके घर जाकर केवल शरीर चलाने भरके योग्य भिक्षा ले, सबका कल्याण करता हुआ निर्भय और नि स्पृह भावसे विचरण करे और ईश्वराराधन तथा योगके द्वारा मोक्ष प्राप्त करे।

वर्ण तथा आश्रमचर्या

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें वर्णाश्रमचर्याकी व्याख्या करते हुए भगवान श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा—

'विराट् पुरुषके मुखसे ब्राह्मण, बाहुओसे क्षत्रिय, उरुओसे वैश्य और पैरोमे शूद्र उत्पन्न हुए। अलग-अलग अपने धर्मका पालन ही इन चारो वर्णोका लक्षण है। मुझ विराट् पुरुषकी जघाओसे गृहस्थाश्रम, हृदयसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, वक्ष स्थलसे वानप्रस्थ और मस्तकसे सन्यास, ये चारो आश्रम प्रकट हुए हैं। इन चारो वर्णों तथा आश्रमोके लोगोकी प्रकृतियाँ भी जन्म-स्थानकी उत्तमता और नीचताके अनुसार अपेक्षाकृत उत्तम और नीच हुई है। शम (वासना-शमन), दम (इन्द्रिय-दमन), तप (तत्त्वकी आलोचना), शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य-व्यवहार, ये ब्राह्मण वर्णके स्वभाव है। तेज

सब प्राणियोंमें परमेश्वरकी भावना करे और भेदभावको छोड़ दे।

गृहस्थाश्रममे न जानेवाले ब्रह्मचारीको उचित है कि न स्त्रियोको देखे, न उनका स्पर्श करे, न उनसे बातचीत करे, न हँसीठट्ठा करे, न एकान्तमें एकत्रित स्त्री-पुरुषोको देखे। हे कुरुनन्दन! शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवा, जप (ईश्वरका पूजन और ध्यान) एव अभक्ष्य पदार्थ न खाना तथा जिनसे बात न करनी चाहिए और जिनको छूना न चाहिए उनसे न मिलना, न बोलना और न उनको छूना, सब प्राणियोंमें ईश्वरको देखना और मन, वाणी, तथा कार्योंका सयम—ये धर्म सभी आश्रमोके हैं, विशेषत. ब्रह्मचारीको अवश्य इनका पालन करना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण (या क्षत्रिय और वैश्य) प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी होता है। ऐसे निष्काम, नैष्ठिक ब्रह्मचारीको धर्मवासनाएँ तीव्र तपसे भस्म हो जाती है और अन्तमें वह मेरा भक्त होकर मुक्तिको प्राप्त होता है।

ब्रह्मचर्याश्रमके अनन्तर

ब्रह्मचारी भूलकर भी कभी वीर्यपात न करे। यदि स्वप्नावस्थामें असावधानतावश कभी आप ही आप वीर्य-स्खलन हो भी जाय तो जलमें स्नान करके प्राणायामपूर्वक गायत्री जप करे, पवित्र और एकाग्र होकर प्रात काल और सायकाल, दोनो सध्याओंमें, मौनावलम्बनपूर्वक गायत्री जपता हुआ अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, बडे-बूढे और देवताओंकी उपासना करे एवं सध्यावदन करे। आचार्यको साक्षात् ईश्वरका रूप समझे। साधारण मनुष्य मानकर गुरुकी उपेक्षा या अपमान न करे और न उसकी किसी बात या व्यवहारका बुरा माने, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय है। सायकाल और प्रात काल जो कुछ भिक्षा मिले एव और भी जो कुछ मिले वह सब लाकर गुरुके आगे धर दे और गुरुके भोजन कर चुकनेपर गुरुकी आज्ञा पाकर सयत भावसे उसमेंसे आप भी भोजन करे। नम्रतापूर्वक हाथ जोडे हुए गुरुके निकट ही रहकर सब समय गुरुकी सेवा करे। गुरु चले तो आप पीछे-पीछे चले, गुरु सोवे तो आप भी सो जाय और गुरु लेटे तो आप पास बैठकर पैर दबाता रहे। जबतक पढना समाप्त न हो तबतक अस्खलित ब्रह्मचर्य-व्रतको पालता हुआ निरन्तर भोग-त्याग-पूर्वक गुरुकुलमें वास करे। यदि महर्लोक, जनलोक, तपलोक अथवा जहाँ सब वेद मूर्तिमान होकर रहते हैं उस ब्रह्मलोकमे जानेकी इच्छा हो तो बृहद्व्रत (नैष्ठिक ब्रह्मचर्य)-धारणपूर्वक अपना शरीर गुरुको अर्पण कर दे, अर्थात् जबतक जीवित रहे तबतक गुरुकी सेवामें रहकर अध्ययन करता रहे और ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे। इस ब्रह्मतेज-सम्पन्न निष्पाप बाल-ब्रह्मचारीको चाहिए कि अग्नि, गुरु, आत्मा और

(प्रताप), बल, धैर्य, शूरता, सहनशीलता, उदारता, उद्यम, दृढ़ता, ब्रह्मण्यता और ऐश्वर्य, ये क्षत्रिय वर्णके स्वभाव हैं। आस्तिकता, दानशीलता, दम्भ न करना, तन-मन-धनसे ब्राह्मणोंकी सेवा करना, धन संचयसे कभी तृप्त न होना, ये वैश्य-वर्णके स्वभाव हैं। निष्कपट भाव से गौ, देवता और द्विजवर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा करना और जो उसमें मिले उसीमें सन्तुष्ट रहना, ये शूद्र वर्णके स्वभाव हैं। अशौच, मिथ्या बोलना, चोरी करना, नास्तिकता, अकारण कलह करना, काम, क्रोध और तृष्णा या लोभ, ये चाण्डाल, श्वपच आदि अन्त्यज वर्णसंकर जातियोंके स्वभाव हैं। अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना काम और लोभके वश न होना, चोरी न करना, प्राणियोंका प्रिय और हित करनेकी चेष्टामें लगे रहना, ये सब वर्णोंके साधारण एवं आवश्यक कर्त्तव्य हैं।

ब्रह्मचारीका धर्म

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णके बालकोंको चाहिए कि गर्भाधान, जातकर्म आदि संस्कारोंके उपरान्त क्रमशः यज्ञोपवीत संस्कार नामका दूसरा जन्म होनेपर जितेन्द्रिय और नम्र होकर गुरुकुलमें वास करें, यथासमय गुरुके बुलानेपर निकट जाकर उनसे वेदाध्ययन करें और मनमें मननपूर्वक वेदके अर्थ विचारें। ऐसे ब्रह्मचारी विद्यार्थीको चाहिए कि मौंजी, मेखला, कृष्णाजिन, दण्ड, रुद्राक्षकी जपमाला, ब्रह्मसूत्र और कमण्डलु धारण करे, शिर न मलनेके कारण स्वयं बढ़ी हुई जटाएँ धारण करे, दन्तधावन न करे, पहननेके वस्त्र न धुलावे, रंगीन आसनपर न बैठे, कुश धारण करे, स्नान, भोजन, हवन, जप और मलमूत्र-त्यागके समय मौन रहे, नख न काटे और कक्ष तथा उपस्थके ऊपरके भी रोम न बनावे।

ब्रह्मचारी भूलकर भी कभी वीर्यपात न करे। यदि स्वप्नावस्थामें असावधानतावश कभी आप ही आप वीर्य-स्खलन हो भी जाय तो जलमें स्नान करके प्राणायामपूर्वक गायत्री जप करे, पवित्र और एकाग्र होकर प्रातःकाल और सायंकाल, दोनों संध्याओंमें, मौनावलम्बनपूर्वक गायत्री जपता हुआ अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, बड़े-बूढ़े और देवताओंकी उपासना करे एवं संध्यावंदन करे। आचार्यको साक्षात् ईश्वरका रूप समझे। साधारण मनुष्य मानकर गुरुकी उपेक्षा या अपमान न करे और न उसकी किसी बात या व्यवहारका बुरा माने, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय हैं। सायंकाल और प्रातःकाल जो कुछ भिक्षा मिले एवं और भी जो कुछ मिले वह सब लाकर गुरुके आगे धर दे और गुरुके भोजन कर चुकनेपर गुरुकी आज्ञा पाकर संयत भावसे उसमेंसे आप भी भोजन करे। नम्रतापूर्वक हाथ जोड़े हुए गुरुके निकट ही रहकर सब समय गुरुकी सेवा करे। गुरु चले तो आप पीछे-पीछे चले, गुरु सोवे तो आप भी सो जाय और गुरु लेटे तो आप पास बैठकर पैर दबाता रहे। जबतक पढ़ना समाप्त न हो तबतक अस्खलित ब्रह्मचर्य-व्रतको पालता हुआ निरन्तर भोग-त्याग-पूर्वक गुरुकुलमें वास करे। यदि महर्लोक, जनलोक, तपलोक अथवा जहाँ सब वेद मूर्तिमान होकर रहते हैं उस ब्रह्मलोकमें जानेकी इच्छा हो तो बृहद्व्रत (नैष्ठिक ब्रह्मचर्य)-धारणपूर्वक अपना शरीर गुरुको अर्पण कर दे, अर्थात् जबतक जीवित रहे तबतक गुरुकी सेवामें रहकर अध्ययन करता रहे और ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करे। इस ब्रह्मतेज-सम्पन्न निष्पाप बाल-ब्रह्मचारीको चाहिए कि अग्नि, गुरु, आत्मा और

सव प्राणियोंमें परमेश्वरकी भावना करे और भेदभावको छोड दे।

गृहस्थाश्रममें न जानेवाले ब्रह्मचारीको उचित है कि न स्त्रियोंको देखे, न उनका स्पर्श करे, न उनसे बातचीत करे, न हँसीठट्ठा करे, न एकान्तमें एकत्रित स्त्री-पुरुषोंको देखे। हे कुरुनन्दन! शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवा, जप (ईश्वरका पूजन और ध्यान) एव अभक्ष्य पदार्थ न खाना तथा जिनसे बात न करनी चाहिए और जिनको छूना न चाहिए उनसे न मिलना, न बोलना और न उनको छूना, सब प्राणियोंमें ईश्वरको देखना और मन, वाणी, तथा कार्योंका सयम—ये धर्म सभी आश्रमोंके हैं, विशेषत ब्रह्मचारीको अवश्य इनका पालन करना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण (या क्षत्रिय और वैश्य) प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी होता है। ऐसे निष्काम, नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी कर्मवासनाएँ तीव्र तपसे भस्म हो जाती हैं और अन्तमें वह मेरा भक्त होकर मुक्तिको प्राप्त होता है।

ब्रह्मचर्याश्रमके अनन्तर

यदि आवश्यक विद्या पढ चुकनेपर गृहस्थाश्रममें जानेकी इच्छा हो तो वेदके तात्पर्यको यथार्थ जान लेनेपर, गुरुको दक्षिणा देकर और गुरुकी आज्ञा लेकर स्नान आदि करे अर्थात् समावर्तन-सस्कारपूर्वक ब्रह्मचर्य समाप्त करे। यदि सकाम हो तो ब्रह्मचर्यके उपरान्त गृहस्थ वने और यदि अन्तःकरण शुद्ध होनेके कारण निष्काम हो, तो वानप्रस्थ होकर वनमें वास करे। यदि शुद्ध-चित्त विरक्त ब्राह्मण चाहे तो ब्रह्मचर्य छोड़कर सन्यास ले सकता है। यदि ईश्वरका भक्त हो तो उसके लिये

अवश्य आश्रमी होनेका कोई विशेष नियम नही है; किन्तु यदि ईश्वरका अनन्य भक्त न हो, तो उसे अवश्य किसी न किसी आश्रमका अवलव लेना चाहिए। किसी आश्रममें न रहनेसे, अथवा पहले वानप्रस्थ फिर गृहस्थ या पहले गृहस्थ फिर ब्रह्मचर्य—इस प्रकार विपरीत आचरणसे भ्रष्ट हो जाता हैं, कहीका नही रहता। जो गृहस्थ होना चाहे, उसे उचित हैं कि ब्रह्मचर्य समाप्त करके अपने समान रूप गुण और विद्यावाली, निष्कलक कुलकी, शुभ लक्षणोसे युक्त, अपनेसे छोटी और अपने ही वर्णकी कन्यासे विवाह करे। तदनन्तर कामवश अन्य वर्णोकी कन्यासे भी विवाह कर सकता है।❋

यज्ञ करना, दान देना और पढना ये तीनो, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योके लिये आवश्यक और साधारण धर्म है पर दान लेना, पढाना, और यज्ञ कराना ये तीन धर्म (वृत्तियाँ) केवल ब्राह्मणके ही लिये विहित हैं। किन्तु दान लेनेसे तप, तेज और यश क्षीण होता है तथा पढाने और यज्ञ करानेमें दीनता दिखानी पडती है, इसलिये ब्राह्मणको उचित है कि जहाँतक हो सके, दान लेनेकी वृत्ति न करे, केवल पढाने और यज्ञ करानेकी वृत्तिसे ही जीविकाका निर्वाह करे और यदि हो सके तो इन दोनो वृत्तियोको भी छोडकर शिलोञ्छ-वृत्तिसे (खेत काट लेनेपर जो अन्नकण

❋ ब्राह्मण, चारो वर्णोंकी कन्या ले सकता है, क्षत्रिय भी ब्राह्मण–कन्या छोडकर, शेष तीनो वर्णोकी कन्या ले सकता है, वैश्य, अपने वर्णकी और शूद्रकी कन्या ले सकता है, एव शूद्र अपने ही वर्णकी कन्यासे विवाह कर सकता है। किन्तु कलियुगमें द्विजोके लिये ऐसा करना करना निषिद्ध है, अन्य युगोमें कर सकते हैं।

सब प्राणियोंमें परमेश्वरकी भावना करे और भेदभावको छोड दे।

गृहस्थाश्रममें न जानेवाले ब्रह्मचारीको उचित है कि न स्त्रियोंको देखे, न उनका स्पर्श करे, न उनसे बातचीत करे, न हँसीठट्ठा करे, न एकान्तमें एकत्रित स्त्री-पुरुषोंको देखे। हे कुरुनन्दन! शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थसेवा, जप (ईश्वरका पूजन और ध्यान) एव अभक्ष्य पदार्थ न खाना तथा जिनसे बात न करनी चाहिए और जिनको छूना न चाहिए उनसे न मिलना, न बोलना और न उनको छूना, सब प्राणियोंमें ईश्वरको देखना और मन, वाणी, तथा कार्योंका नयम—ये धर्म सभी आश्रमोंके हैं, विशेषत ब्रह्मचारीको अवश्य इनका पालन करना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण (या क्षत्रिय और वैश्य) प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी होता है। ऐसे निष्काम, नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी कर्मवासनाएँ तीव्र तपसे भस्म हो जाती हैं और अन्तमें वह मेरा भक्त होकर मुक्तिको प्राप्त होता है।

ब्रह्मचर्याश्रमके अनन्तर

यदि आवश्यक विद्या पढ चुकनेपर गृहस्थाश्रममें जानेकी इच्छा हो तो वेदके तात्पर्यको यथार्थ जान लेनेपर, गुरुको दक्षिणा देकर और गुरुकी आज्ञा लेकर स्नान आदि करे अर्थात् समावर्तन-सस्कारपूर्वक ब्रह्मचर्य समाप्त करे। यदि सकाम हो तो ब्रह्मचर्यके उपरान्त गृहस्थ बने और यदि अन्तकरण शुद्ध होनेके कारण निष्काम हो, तो वानप्रस्थ होकर वनमें वास करे। यदि शुद्ध-चित्त विरक्त ब्राह्मण चाहे तो ब्रह्मचर्य छोडकर सन्यास ले सकता है। यदि ईश्वरका भक्त हो तो उसके लिये

अवश्य आश्रमी होनेका कोई विशेष नियम नही है; किन्तु यदि ईश्वरका अनन्य भक्त न हो, तो उसे अवश्य किसी न किसी आश्रमका अवलंब लेना चाहिए। किसी आश्रममें न रहनेसे, अथवा पहले वानप्रस्थ फिर गृहस्थ या पहले गृहस्थ फिर ब्रह्मचर्य—इस प्रकार विपरीत आचरणसे भ्रष्ट हो जाता है, कहीका नही रहता। जो गृहस्थ होना चाहे, उसे उचित है कि ब्रह्मचर्य समाप्त करके अपने समान रूप गुण और विद्यावाली, निष्कलक कुलकी, शुभ लक्षणोसे युक्त, अपनेसे छोटी और अपने ही वर्णकी कन्यासे विवाह करे। तदनन्तर कामवश अन्य वर्णोकी कन्यासे भी विवाह कर सकता है।✣

यज्ञ करना, दान देना और पढना ये तीनो, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके लिये आवश्यक और साधारण धर्म हैं पर दान लेना, पढाना, और यज्ञ कराना ये तीन धर्म (वृत्तियाँ) केवल ब्राह्मणके ही लिये विहित है। किन्तु दान लेनेसे तप, तेज और यश क्षीण होता है तथा पढाने और यज्ञ करानेमे दीनता दिखानी पड़ती है, इसलिये ब्राह्मणको उचित है कि जहाँतक हो सके, दान लेनेकी वृत्ति न करे, केवल पढाने और यज्ञ करानेकी वृत्तिसे ही जीविकाका निर्वाह करे और यदि हो सके तो इन दोनों वृत्तियोंको भी छोडकर शिलोञ्छ-वृत्तिसे (खेत काट लेनेपर जो अन्नकण

✣ ब्राह्मण, चारो वर्णोकी कन्या ले सकता है; क्षत्रिय भी ब्राह्मण—कन्या छोडकर, शेप तीनों वर्णोकी कन्या ले सकता है; वैश्य, अपने वर्णकी और शूद्रकी कन्या ले सकता है, एवं शूद्र अपने ही वर्णकी कन्यासे विवाह कर सकता है। किन्तु कलियुगमें द्विजोके लिये ऐसा करना करना निषिद्ध है, अन्य युगोंमें कर सकते है।

पड़े रह जाते हैं उन्हें बीन लाकर, या हाट उठ जानेपर जो अन्न बिखरा हुआ पड़ा रह जाता है उसे लाकर उससे) जीविका-निर्वाह करे। यह अत्यन्त दुर्लभ ब्राह्मण शरीर क्षुद्र सांसारिक सुखके लिये नहीं है। इसमें लोकमें कष्ट उठाकर तप करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे परलोकमें अनन्त सुख मिलता है। जो ब्राह्मण-शरीर पाकर ऐसा नहीं करता वह अपने ब्राह्मण-जन्मको सर्वथा नष्ट कर देता है। इस प्रकार जो ब्राह्मण शिलोञ्छ-वृत्तिमें सन्तुष्ट-चित्त होकर निष्काम महत् धर्म (अतिथि-सेवा आदि सनातन सदाचार) का सेवन करता हुआ सर्वतोभावसे ईश्वरको आत्म-समर्पण कर देता है वह अनासक्त भावसे गृहस्थाश्रममें ही रहकर ईश्वर-भजनसे परम-शान्ति अर्थात् मोक्षका अधिकार अथवा योग्यता प्राप्त कर लेता है।

ईश्वरके जो भक्त, किसी ब्राह्मण अथवा अन्य जनको धन, भोजन, वस्त्र आदिकी सहायता देकर दारिद्र्य आदि कष्टोंसे उबारते हैं, उनको ईश्वर, वैसे ही आनेवाली आपत्तियोंसे शीघ्र उबार लेता है जैसे समुद्रमें डूबते हुए हुए व्यक्तिको नौका उबार लेती है। धीर अर्थात् विवेकी क्षत्रिय तथा राजाको चाहिए कि जैसे गजपति, अन्य गजोंको (दलदलमें फँस जाने आदि अनेक) आपत्तियों या कष्टोंसे उबारता है और अपना उद्धार आप ही अपनी शक्तिसे करता है वैसे ही दारिद्र्य, अन्न-कष्ट आदि संकटोंमें पिताकी भाँति सहानुभूति-सहित सब प्रजाकी सहायता करे, यह राजाका मुख्य धर्म है, (क्योंकि प्रजा-रंजनसे ही राजा कहलाता है) और सब समय अपनी बुद्धि और शक्तिसे अपनी रक्षा करता रहे अर्थात् विपत्तिसे, अधर्मसे एवं असावधानतासे बचाता रहे। ऐसा नरपति इस लोकमें

सब अशुभोसे रहित होकर अन्त समयमे सूर्यसदृश प्रकाशमान् विमानपर बैठकर स्वर्गलोकको जाता है और वहाँ इन्द्रके साथ उन्हीके समान ऐश्वर्य-सुख भोगता है।

आपद्धर्म

हे उद्धव! ब्राह्मण यदि दरिद्रतासे पीडित हो तो वह वैश्य-वृत्तिसे अर्थात् बेचने-योग्य वस्तुओके व्यापारसे आपत्काल बितावे (उस समय भी मदिरा और लवणादिका बेचना निषिद्ध है), अथवा खड्ग-धारण-पूर्वक क्षत्रिय वृत्तिसे निर्वाह करे, किन्तु श्ववृत्ति अर्थात् नीच-सेवा न करे, क्योकि श्ववृत्ति सर्वथा निषिद्ध है। इसी प्रकार क्षत्रिय यदि दरिद्रतासे पीडित हो तो वह वैश्य-वृत्तिसे या मृगया (शिकार) के द्वारा, अथवा ब्राह्मणके समान विद्या पढाकर आपत्काल बितावे, परन्तु अपनेसे नीच वर्णकी सेवा कभी न करे। ऐसे ही दरिद्रतासे पीडित वैश्यको चाहिए कि शूद्रोकी (सेवा) वृत्तिसे, और दरिद्रतासे पीडित शूद्रको चाहिए कि प्रतिलोम (अर्थात् उच्चवर्णकी स्त्रीमे नीच वर्ण पुरुषसे उत्पन्न) कारु (धुनिये) आदिकी वृत्तिसे चटाई-वटाई बुनकर निर्वाह करे। चारो वर्णोंके लिये केवल आपत्कालमें इन क्रमश वृत्तियोकी व्यवस्था की गई है। आपत्काल निकल जानेपर किसी वर्णको अधम वृत्तिसे जीविका-निर्वाहकी इच्छा नही करनी चाहिए।

गृहस्थाचरण

गृहस्थ मनुष्यको चाहिए कि यथाशक्ति वेदाध्ययन स्वधा (पितृयज्ञ), स्वाहा (देव-यज्ञ), बलिवैश्वदेव और अन्नदान करता हुआ देवता, पितर, ऋषि और सब प्राणियोको परमात्मा-स्वरूप समझकर नित्य पूजे। स्वय-प्राप्त और अपनी विहित वृत्तिके द्वारा उपार्जित धनसे न्यायपूर्वक, अपने-द्वारा जिनका भरण-पोषण होता है, उन लोगोको पीडा न पहुँचाकर यज्ञ आदि धर्म-कर्म करे, अपने कुटुम्बकी ही

चिन्तामें आसक्त न रहे, कुटुम्बी होकर भी ईश्वरका भजन करना न भूले, ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास करे। विद्वान्को चाहिए कि प्रत्यक्ष संसारके प्रपंचकी भाँति अप्रत्यक्ष स्वर्गादिको भी अनित्य समझे। जैसे पथिक लोग जलशालामें जल पीनेके लिये जाकर घडी भरके लिये मिल जाते हैं और पानी पीकर अपनी-अपनी राह लेते हैं, वैसे ही इस संसारमें पुत्र, स्त्री, स्वजन और बंधुबान्धवोंका समागम समझना चाहिए। निद्राके साथ जैसे स्वप्न दीख पडता है और नींद उचटनेपर नहीं दीख पडता, वैसे ही प्रत्यक्ष शरीर प्राप्त होनेकी परिस्थितिमें और उसके छूटनेपर स्त्री-पुत्रादिका समागम और वियोग होता ही है। ऐसा समझकर साधक योगीको चाहिए कि गृहस्थाश्रममें अतिथिकी भाँति ममता और अहंकारसे हीन होकर रहे और लिप्त न हो। ईश्वरकी भक्ति करता हुआ, अपने धर्म और कर्तव्यके पालनसे ईश्वरकी आराधनामें तत्पर रहकर चाहे वह गृहस्थाश्रममें ही रहे, चाहे बुढापेसे पहले ही वानप्रस्थ होकर वनको चला जाय अथवा पुत्र हो तो सन्यास ग्रहण करे। किन्तु जिसकी बुद्धि घरमें, परिवारमें आसक्त है, जो पुत्रोंके लिये या धनके लिये व्याकुल है, जो स्त्री-संगमें लिप्त और मंदमति है, वह मूढ मनुष्य मैं-मेरायके भ्रम-जालमें पडकर अनेक जन्मोंतक जन्म-मरणके कठिन कष्ट भोगता रहता है। जो व्यक्ति गृहस्थी और परिवारकी चिंतामें इस प्रकार चूर रहता है कि 'अहो! मेरे माँ-बाप बूढे है! स्त्रीके छोटे-छोटे बालक हैं! ये दीन लडकी-लडके मेरे बिना अनाथ होकर कैसे जिएँगे? मेरे वियोगमें इनको महादुःख होगा"—वह मंदमति मूढ गृहस्थ कभी तृप्त नहीं होता और ऐसे ही सोचता-सोचता एक दिन मर जाता है और फिर तामस नीच योनिमें जन्म लेता है।

वानप्रस्थ

'हे उद्धव ! जो गृहस्थ वानप्रस्थ होना चाहे वह समर्थ पुत्रोंके हाथमें पत्नीको सौंपकर, अथवा अपने ही साथ रखकर, शान्त चित्तसे आयुका तीसरा भाग वनवासमें बितावे, वहाँ विशुद्ध कदमूल और वनके फल खाकर रहे, वस्त्रके स्थानपर वल्कल धारण करे या तृण, पत्ते अथवा मृगचर्मसे कपडेका काम निकाले, शिरके बाल, दाढ़ी, मूँछ, शरीरके रोम और नख बढाता रहे, मैल न छुडावे, दन्तधावन न करे, तीनों काल जलमें घुसकर शिरसे स्नान करे, पृथ्वीपर सोवे, ग्रीष्म-ऋतुमें पञ्चाग्नि तापे, वर्षा-ऋतुमें खुले मैदानमें रहे और जाडे-भर गलेतक पानीमें बैठे। इस प्रकार उसे घोर तप करना चाहिए। अग्निमें पके हुए अथवा समय पाकर पके हुए फल आदि ही उसे खाने चाहिएँ। यदि कन्द-मूलादि मिले तो उन्हे ओखलीमे या पत्थरसे कूटकर खाना चाहिए अथवा दाँत पुष्ट हो तो उन्हीसे चवा लेना चाहिए। अपने खाने-पीनेकी सब सामग्री अपने ही हाथो खोजकर लानी चाहिए। देश, काल और शक्तिका विशेष रूपसे ज्ञान रखनेवाले मुनिको चाहिए कि कालान्तरमें लाए हुए पदार्थको दूसरेसे कभी न ले। तात्पर्य यह है कि नित्यप्रति खाने भरको ताजे कन्द, मूल, फल लाने चाहिएँ, वासी नही खाना चाहिए और समयानुसार मिले हुए वनके फलोसे ही देवता और पितरोके लिये चरु, पुरोडाश आदि निकालना चाहिए। किन्तु वेद-विहित पशु-बलिसे भजन करना वानप्रस्थके लिये निषिद्ध है। हाँ, वेदवादी ऋषियोकी आज्ञाके अनुसार पहलेकी ही भाँति चातुर्मास्य, दर्शपौर्णमास और अग्निहोत्र करना उसके लिये आवश्यक है। इस प्रकार घोर तप करनेके कारण शरीर सूख जानेसे जिसकी

केवल शिराजाल (नसोंका जाल) रह जाता है, वह मुनि यदि शुद्ध अन्तःकरणसे अर्थात् निष्काम होकर भक्तिपूर्वक ईश्वरको भजता है तो यहीं मुक्त हो जाता है और यदि बहुत सी विघ्न-बाधाएँ होती हों अर्थात् विषय-वासनाएँ निर्मूल न हो पावें, तो भी तपोमय ईश्वरकी आराधनाके बलसे महर्लोक आदि ऋषियोंके लोकोंका जाता है, फिर समयानुसार वहांसे ब्रह्ममें मिल जाता है। जो कोई इतने कष्टसे किए हुए इस मोक्षफल-दायक तपको अत्यन्त तुच्छ (ब्रह्मलोकसे लेकर स्वर्गलोक-तक सब अनित्य होनेके कारण तुच्छ ही हैं) उद्देश्यमें लगाता है उससे बढकर और कौन मूर्ख होगा? जिसे वैराग्य न हो, उसका शरीर यदि जरा-जर्जर होनेके कारण काँपने लगे और उसमें नियम-पालनकी शक्ति न रह जाय तब अग्नियोंको अपनेमें आरोपित करके ईश्वरमें मन लगाए हुए अग्निमें प्रवेश कर जाय, अथवा उसी आरोपित अग्निकोण (शरीरसे) प्रकटकर शरीरको जला दे।

सन्यास

जो कोई धर्मके फलस्वरूप इन नरकतुल्य असत लोकोंका दुःखदायक परिणाम देखकर भली भाँति विरक्त हो उठे, उस वानप्रस्थको चाहिए कि (७५ वर्षकी अवस्था हो चुकनेपर) आहवनीय अग्नियोंको अपनेमें लीनकर सन्यास ग्रहण कर ले। ऐसे विरक्त वानप्रस्थको चाहिए कि पहले वेदके उपदेशानुसार अष्टका-श्राद्ध और प्राजापत्य यज्ञसे पूजन-यजन करे, फिर सर्वस्व ऋत्विक्‌को देकर अग्नियोंको अपनेमें स्थापित कर सन्यास आश्रममें गमन करे। 'यह हमको लांघकर ब्रह्मको प्राप्त होगा'—ऐसा सोचकर देवता लोग, ब्राह्मणके सन्यास लेते समय, स्त्री आदिके रूपमें विघ्न डालनेको

चेष्टा करते है, इसलिये सब विघ्नोको हटानेमे सतर्क रहकर अवश्य सन्यास लेना उचित है। संन्यासीको केवल एक लँगोटी पहननी चाहिए और यदि ऊपरसे कुछ ओढना चाहे तो केवल उतना ही वस्त्र ओढे जिससे नीचेका शरीर ढँका रहे। सन्यासीको आपत्कालके अतिरिक्त सर्वदा केवल दण्ड-कमण्डलु ही पास रखना चाहिए और कुछ भी नही, क्योकि वह सन्यास लेते समय सर्वत्याग कर चुकता है। सन्यासीको चाहिए कि भली भाँति जीव-जन्तुओको देखकर पृथ्वीपर पैर रक्खे, वस्त्रमे छानकर जल पीवे, सत्य वाक्य ही बोले और भली भाँति विचार कर काम करे।

मौनरूप वाणीका दण्ड अर्थात् दमन, अनीहा (काम्य-कर्म-त्याग) रूप शरीरका दण्ड, एव प्राणायामरूप मनका दण्ड धारण करनेसे ही वह त्रिदण्डी कहलाता है। हे उद्धव! दिखानेके लिये केवल बाँसके तीन दण्ड लिए रहनेवालेको मै यती नही मनता। सन्यासीको चारो वर्णोके यहाँ भिक्षा करनेका अधिकार है, किन्तु पतित, हत्यारे और जातिच्युत लोगोके यहाँ भिक्षा करना निषिद्ध है। सन्यासीको सबेरे बस्तीके बीच जाकर अनिश्चित सात घरोमें भिक्षा माँगना और उनमें जो कुछ मिले उतनेमें ही सतुष्ट रहना चाहिए। भिक्षा कर चुकनेपर गाँवके बाहर एकान्तमें किसी जलाशयके किनारे जाकर, पहले उस स्थानपर जल छिडक कर उसे पवित्र करना चाहिए और फिर अपने हाथ-पैर धोकर, कुल्ला करके चुपचाप सब अन्न खा लेना चाहिए, आगेके लिये बचाकर नही रखना चाहिए। भोजन करनेके अवसरपर यदि कोई आकर भोजन माँगे तो उसे बाँट कर भोजन करना चाहिए। सन्यासीको एक स्थानपर नही रहना चाहिए। सगहीन, जितेन्द्रिय, आत्माराम, आत्मलीन, धीर,

और समदर्शी होकर उसे अकेले इच्छानुसार पृथ्वी-पर्यटन करते रहना चाहिए। संन्यासी मुनिको चाहिए कि निर्जन और निर्भय स्थानमें बैठकर विशुद्ध भक्तिसे निर्मल होकर रहे। हृदयमें ईश्वरको अपने (आत्मा) से अभिन्न देखें और विचारे। संन्यासीको सर्वदा ज्ञान-निष्ठ रहकर इस प्रकार आत्माके बंधन और मोक्षका विचार रखना चाहिए कि इन्द्रियोंका चचल होना ही अपना बन्धन है और इन्द्रियोंको वशमें रखना ही मोक्ष है। इसलिये मुनिको, ईश्वरके द्वार, भक्तिके द्वारा मन-सहित छ ज्ञानेन्द्रियरूप शत्रुओंको जीतकर इच्छानुसार विचरना चाहिए, सब क्षुद्र कामनाओंमें विरक्त होकर आत्मचिन्तनमें परमानन्दका अनुभव करना चाहिए, भिक्षाके लिये केवल नगर, ग्राम, व्रज और यात्रिजनोंके बीच जाना चाहिए और फिर पृथ्वी-मण्डलके पवित्र देश, पर्वत, नदी, वन और आश्रमोंमें घूमना चाहिए। सन्यासीको प्राय वानप्रस्थ लोगोंके ही आश्रमोंमें भिक्षा माँगनी चाहिए, क्योंकि उनके शिलोञ्छ-वृत्तिसे प्राप्त अन्नके खानेसे अन्त करण शुद्ध रहता है और फिर शीघ्र ही माया-मोह मिटनेके कारण वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

अध्यात्म-तत्त्व

ये जो ससारके विषय-सुख दीख पडते हैं, सब अनित्य हैं। इस कारण इन्हें तुच्छ समझना चाहिए और परलोक-के लिये जो विहित काम्य-कर्म हैं उनसे निवृत्त होना एव अनन्य भावसे ईश्वरको भजना चाहिए। अन्त करण, वाणी और प्राण-सहित इस ममताके घर जगत्‌को, अहकारके घर शरीरको और शरीर-सम्बन्धी परिवार तथा सुखको स्वप्नके समान मिथ्या समझकर छोड दे। फिर स्वस्थ चित्तमे आत्मरूप ईश्वरके ध्यानमें मग्न होकर उक्त ससार-प्रपचकी चिन्ता छोड दे। जिसकी निष्ठा मोक्षकी इच्छासे ज्ञान-सचयमें

हो अथवा जो मोक्षके लिये निरपेक्ष रहकर भी ईश्वरकी भक्ति करता हो, दोनो प्रकारके साधकोको चाहिए कि चिह्नसहित आश्रमोको त्याग दें और वेद-विहित विधि-निपेधके बधनसे छूटकर निरपेक्ष भावसे शारीरिक कर्म करते रहें अर्थात् विवेकी होकर भी बालकोकी भाँति खेले, निपुण होकर भी जडोकी भाँति घूमें, विद्वान् होकर भी उन्मत्तोकी-सी बातें करे, वेदके भावार्थको भली भाँति जानने और माननेपर भी गौ आदि पशुओकी भाँति आचारका विचार न करें, कर्मकाण्ड आदि वेदवादमें निरत न हो, पाखण्ड अर्थात् श्रुति-स्मृतिके विरुद्ध कार्य न करें, केवल तर्कमें ही न लगे रहे, निष्प्रयोजन वाद-विवाद न करे, एव वाद-विवादमे किसीका पक्ष भी न लें। धीर पुरुपको लोगोसे उद्विग्न नही होना चाहिए और अन्य लोगोको उद्विग्न भी नही करना चाहिए। कोई कटु वचन कहे तो सुन लेना चाहिए और किसीका अनादर या अपमान नही करना करना चाहिए। पशुओकी भाँति इस शरीरके लिये किसीसे वैर नही करना चाहिए। समझना चाहिए कि वही एक परमात्मा सब प्राणियोमें और अपनेमें भी अवस्थित है। जैसे एक ही चन्द्रमाके प्रतिबिंब अनेक जलपात्रोमे दीख पडते हैं, वैसे ही सब प्राणियोका आत्मा वही एक परमात्मा है। किसी-किसी समय आहार न मिले तो विपाद नही करना चाहिए और आहार मिल जाय तो प्रसन्न नही होना चाहिए क्योकि दोनो ही बाते दैवके अधीन हैं। यदि आहारके बिना शरीर अशक्त होता दीख पडे तो केवल आहार (पेट भरने) के लिये चेष्टा भी करनी चाहिए अर्थात् भिक्षासे पेट भरना चाहिए, क्योंकि प्राण रहनेपर अथवा शरीर स्वस्थ रहनेपर ही वह तत्त्वका विचार कर सकेगा और तत्त्व जाननेसे ही मुक्ति प्राप्त होगी।

परमहस मुनिको अच्छा-बुरा, जैसा अन्न मिलें वैसा खा लेना,

जैसा कपड़ा मिले वैसा पहन लेना और जैसी शय्या (या पृथ्वी) सोनेको मिले उसीपर पड़ रहना चाहिए। ज्ञाननिष्ठ पुरुष विहित विधिके बन्धनमें न रहकर ईश्वरकी भाँति लीलापूर्वक शौच, आचमन, स्नान आदि अन्यान्य कर्म करता रहे। ऐसे लोगोंके मनमें भेदभाव नहीं रह पाता। जो होता भी है वह भी तत्त्वज्ञानसे मिट जाता है। जबतक पूर्व-संस्कारवश स्थूल शरीर रहता है तबतक कभी-कभी कुछ-कुछ भेदभाव भासित भी होता है, परन्तु देह छूटनेपर वह ईश्वरमें मिल जाता है।

विरक्त जिज्ञासु

जो बुद्धिमान् पुरुष दुःखदायक परिणामवाले अनित्य विषयोंसे विरक्त हो गया है, किन्तु भागवत-धर्मको नहीं जानता, उसे चाहिए कि किसी ज्ञानी मुनिको गुरु मानकर उसका आश्रय ले। जबतक ब्रह्मज्ञान न हो, तबतक ईश्वरकी ही भावनाके साथ आदरपूर्वक भक्ति और श्रद्धासे गुरुकी सेवा करे, गुरुकी किसी बातका कभी बुरा न माने। जिसने काम-क्रोध रूप छः शत्रुओंके दलको नहीं शान्त किया, जिसके बुद्धिरूप सारथिको प्रचण्ड इन्द्रिय-रूप घोड़े इधर-उधर घसीटते फिरते हैं, जिसके हृदयमें ज्ञान-विज्ञानका लेश भी नहीं है, ऐसा जो मनुष्य केवल जीविकाके लिये दण्ड-कमण्डलु लेकर सन्यासीके वेषमें पेट पालता फिरता है, वह धर्मघातक है, उसका मनोरथ पूर्ण नहीं होता, वह देवताओंको, अपनेको और अपनेमें स्थित ईश्वरको ठगता है, इसीसे वह अशुद्ध-हृदय दम्भी दोनों लोकोंसे भ्रष्ट हो जाता है, कहींका नहीं रहता।

सन्यासीका मुख्य धर्म शान्ति और अहिंसा है। ईश्वर-चिन्तन और तप वानप्रस्थका मुख्य धर्म है। प्राणियोंका पालन और पूजन, गृहस्थका मुख्य धर्म है। गुरुकी सेवा करना ब्रह्मचारीका परम धर्म है। ब्रह्मचर्य (वीर्यको रोकना,

इन्द्रियोके वेगको सँभालना), तप, शौच, सन्तोष, प्राणियोसे प्रेम और ऋतु-समयमे वश बढानेके विचारसे स्त्री-सग करना, ये गृहस्थके लिये भी आवश्यक धर्म हैं। ईश्वरकी उपासना करना या ईश्वरको भजना प्राणिमात्रका धर्म है। अनन्य भावसे इस प्रकार अपने धर्मके द्वारा जो कोई ईश्वरको भजता है और सर्वत्र सबमें मुझे देखता है वह शीघ्र ही ईश्वरकी विशुद्ध भक्तिरूप मुक्तिको प्राप्त होकर कृतार्थ हो जाता है। हे उद्धव! सुदृढ भक्तिके द्वारा वह सब लोकोके ईश्वर और सबकी उत्पत्ति, स्थिति और नाशके आदिकारण परात्पर ब्रह्ममें मिल जाता है। इस प्रकार स्वधर्म-पालनसे जिसका सत्त्व अर्थात् आत्मा शुद्ध हो जाता है और जो ईश्वरकी गतिको जान जाता है, वह ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न विरक्त पुरुष ईश्वरको प्राप्त होता है। वर्णाश्रमाचारी लोगोका यही धर्म है, यही आचार है, यही लक्षण है। साधारणत उसका पालन करनेसे पितृलोक प्राप्त होते है और अनन्य भक्तिके साथ इन्हीके करनेसे परम मुक्ति मिलती है।"

इसका तात्पर्य यह हुआ कि—

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।

[ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण करके गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हो, गृहस्थाश्रम पूर्ण करके वानप्रस्थाश्रममें प्रविष्ट हो और वानप्रस्थाश्रम पूर्ण करके सन्यास ले लें]।

अर्थात् चौथे आश्रममें मनुष्य सासारिक वैभवमें तुष्टि पाकर अपना जीवन केवल आत्मचिंतनमें लगावे और एकान्त-वास करे। इस कालमे वह अपने परिवार, कुल, जाति, सबधी सबसे नाता तोडकर केवल एक परब्रह्मसे नाता जोडकर प्रेयस्से श्रेयस् या अभ्युदयसे नि श्रेयस् की ओर प्रवृत्त हो।

और इस वैराग्यका अभ्यास करते-करते पूर्णत अन्त प्रवृत्त होकर आत्मदर्शी होकर मोक्ष प्राप्त कर ले।

वैराग्यके भेद

इस वैराग्यके भी दो भेद हैं—अपर वैराग्य और पर वैराग्य। इनमेंसे अपर वैराग्यके चार भेद हैं—मतिमान्, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार। ससारमें क्या सार है और क्या असार है इसका विचार करना मतिमान् वैराग्य कहलाता है। चित्तमें उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषादिक दोषोका भली प्रकार विचार करना और उससे छुटकारा पानेके लिये निवृत्ति मार्गका अवलब लेना व्यतिरेक वैराग्य कहलाता है। विषयोकी सम्पूर्ण इच्छा मनसे हटाकर इन्द्रियोका निरोध करनेका निरन्तर प्रयत्न करते रहना एकेन्द्रिय वैराग्य कहलाता है और लोक-परलोकके विषयोको नाशवान् समझकर उनके त्यागकी इच्छा करना वशीकार वैराग्य है।

वशीकार वैराग्य

यह वशीकार वैराग्य भी मद, तीव्र और तीव्रतर तीन प्रकारका होता है। स्त्री, पुत्र, धन आदिका नाश हो जानेसे ससारको बुरा समझनेकी जो भावना उत्पन्न हो जाती है उसे मद वैराग्य कहते हैं। धन, स्त्री, पुत्र आदि विषयोसे पूर्णत सम्पन्न होते हुए भी इनसे सपर्क या आसक्ति हटानेको तीव्र वैराग्य कहते हैं और ब्रह्मलोक-तकके भोगोको भी तुच्छ समझनेकी भावना ही तीव्रतर वैराग्य कहलाता है। इन तीनोमें तीव्रतर वैराग्य ही सर्वोत्तम माना गया है और पहले दो क्रमसे निकृष्ट और मध्यम समझे गए हैं।

पर-वैराग्य

पर-वैराग्यकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—

"गुणेषु वैतृष्ण्य पर-वैराग्यम्।"

सत्त्व, रज, तम गुणोके परिणाम-स्वरूप लोक-परलोकके

विषयोकी तृष्णासे रहित होना ही पर-वैराग्य है। इस वैराग्यकी परिपक्वावस्थामें ससारके सब व्यवहार प्रपच और मिथ्या ज्ञात होते हैं। चारो आकरो और चौरासी लाख योनियोमे मनुष्य-शरीर ही एक मात्र ऐसा है जिसके द्वारा मनुष्य इस आवागमनके चक्रसे मुक्त हो सकता है। इसी मुक्तिके लिये अर्थात् सब कर्मोका त्याग करके मोक्ष-सिद्धि पानेके लिये चतुर्थाश्रममें प्रवेश होना आवश्यक समझा गया है। इस आश्रममें पहुँचकर—

ध्यान शौच तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता।
भिक्षोश्चत्वारि कर्माणि पञ्चम नोपपद्यते॥

[एकाग्र होकर ध्यान करना, पवित्र जीवन व्यतीत करना, भिक्षा माँगकर खाना और एकातमे रहनेका स्वभाव डालना, ये चार कर्म यतीके लिये आवश्यक हैं।] आत्मका साक्षात्कार हो जानेपर आत्मज्ञानीके हृदयकी गाँठें खुल जाती हैं, सभी सशय तथा भ्रम उड जाते हैं और सब कर्मोका नाश हो जाता है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व-सशया।
क्षीयते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परात्परे॥ (मुण्डक)

किन्तु जो यती महात्मा जीवन्मुक्तकी अवस्थाको प्राप्त नही हुआ है, जो धर्माधर्म, सुख-दुःख, जन्म-मरण, उद्वेग-आनद आदिमे समान भाव नही रखता, ऐसे व्यक्तिको श्रेष्ठ सदाचारी महात्माका सत्सग अवश्य करना चाहिए अथवा जहाँपर विद्वान्, सुहृद् या उदासीन महात्मा निवास करते हो, जिनके आचरण शुद्ध हो, जिनमें सद्-गुणोका विकास हो, भौतिक या सासारिक सुख-भोगोसे निवृत्ति हो, उनके आश्रममें, उनके पवित्र स्थानमे निवास करना चाहिए क्योकि ऐसे पवित्र स्थान वे दुर्ग हैं जिन-पर काम, क्रोध लोभादि शत्रुओंका आक्रमण नही हो

सकता। ऐसे वातावरणमें मन और इन्द्रियाँ कलुषित नहीं हो पाती और निष्काम भावकी प्रवृत्ति जागरित हो जाती है। ऐसे मोक्षदुर्ग स्थापित करनेवाले श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीचन्द्राचार्य आदि अनेक आचार्योंने भारतीय दर्शनकी विशद व्याख्या करके संपूर्ण भारतको पुनः धर्मप्राण बना दिया।

यती, संन्यासी और परिव्राजक

चतुर्थ आश्रम ग्रहण करनेवाले, संसारसे विरक्त तथा एकमात्र ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील तपस्वियोंकी आगे चलकर तीन श्रेणियाँ बन गईं—यती, सन्यासी और उदासीन परिव्राजक। जो विरक्त तपस्वी सांसारिक पदार्थोंको मिथ्या और तुच्छ समझनेपर भी उनका सर्वथा त्याग न कर पा सके हों, किन्तु त्यागके लिये प्रयत्नशील हो, उन्हें यती कहते हैं। जिन्होंने पूर्ण रूपसे समस्त सांसारिक विषयोंका पूर्णतः परित्याग करके चतुर्थ आश्रम ग्रहण किया हो, उन्हें सन्यासी कहते हैं। सन्यासी वृत्तिके लिये यह आवश्यक है कि संसारसे उसकी पूर्ण विरक्ति हो गई हो और उसने एकाग्र भावसे अपनी सम्पूर्ण वृत्तियाँ केवल ईश्वरमें लगा दी हो। यती और सन्यासीके अतिरिक्त तीसरे उदासीन होते हैं, जिन्होंने श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, धारणा, समाधिसे भगवानकी भक्ति करके ब्रह्मका स्वानुभव किया हो अथवा उस स्वानुभूतिके लिये दत्तचित्त हो।

उदासीनकी व्याख्या

उदासीन शब्दकी व्युत्पत्ति कई प्रकारसे की गई है। शब्दार्थकी दृष्टिसे इसका अर्थ हुआ वह व्यक्ति जो (ऊपर बैठा हुआ हो—उत् ऊर्ध्वं आसीनः। लक्षणासे इसका तात्पर्य हुआ वह व्यक्ति, जो सर्वश्रेष्ठ हो, सबका मूर्धन्य समझा

जाता हो। व्यञ्जनासे इसका अर्थ होगा साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप, ब्रह्मस्थित या ब्रह्मनिष्ठ। इसका तात्पर्य यह है कि चारो वर्णोंमें चतुर्थ आश्रम ही सर्व-पूज्य और सर्वश्रेष्ठ है और उनमें भी वे चतुर्थाश्रमी सर्वाधिक श्रेष्ठ माने जाते है जिन्होने अपनी सम्पूर्ण मानस-वृत्तियाँ अतीन्द्रिय होकर ब्रह्म-साक्षात्कारके लिये एकाग्र कर दी हो।

ऋषि और मुनि

इन उदासीन साधको अथवा चतुर्थाश्रमियोको ऋषि और मुनि भी कहते थे। वैदिक साहित्यमे मन्त्र-द्रष्टा लोगोको ही ऋषि कहा गया है और उनके लिये यह भी प्रमाण मिलता है कि वे सपत्नीक भी साधना करते थे। सप्तर्षियोमें वशिष्ठ जी इसके प्रमाण है। मुनि और ऋषिमे यद्यपि तत्त्वत कोई भेद नही था किन्तु कुछ विद्वानोने यह स्वीकार किया है कि जो प्रारभसे ही चतुर्थाश्रममे प्रविष्ट हो जायँ वे मुनि कहलाते है और जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमोके पश्चात् सन्यास अथवा चतुर्थ आश्रम ग्रहण करते है वे ऋषि कहलाते है।

वृत्ति तथा सस्कार-भेद

उदासीन साधुओके वृत्ति-भेद तथा सस्कार-भेदके अनुसार तीन रूप होते है—मुनि, ऋषि और सेवक। जो व्यक्ति किसी उदासीन मुनि अथवा ऋषिसे कोई गुरु-मत्र लेता है और उनका चरणामृत पीकर शिष्य बन जाता है, किन्तु न तो किसी दूसरेको शिष्य बनाता है, न मत्रोपदेश देता है, वह उदासीन सेवक कहलाता है। यह सेवक अन्य गृहस्थोके समान गृहस्थाश्रमके धर्मोको पालता चलता है। जो गृहस्थ तपस्या करता हुआ दैवी सपत्का पूर्णत अनुष्ठान करता हुआ किसी उदासीन मुनिसे अद्वैत-बोधक गुरु-मत्र लेकर शास्त्रके तत्त्वोका प्रचार करता

हुआ स्वयम् ब्रह्मनिष्ठ होनेका प्रयत्न करता है, उसे ऋषि कहते है। इन दो के अतिरिक्त उदासीन मुनि वे है जो प्रारभसे ही चतुर्थ आश्रम ग्रहण करके लोक-कल्याण करते हुए असख्य मनुष्योको दीक्षा देकर, शिष्य बनाकर धर्मके तत्त्वोका घूम-घूमकर प्रचार करते है।

चतुर्थाश्रम पद्धतियाँ

इस चतुर्थाश्रमकी तीन पद्धतियाँ थी, जिनमेंसे प्रथम श्रौत अवस्था थी, जिसमें वेदके अनुसार चतुर्थ आश्रमवाले प्रव्रज्या ग्रहण करने थे। यह प्रव्रज्या अलिग होनी थी अर्थात् इसमें किसी प्रकारका कोई बाह्य चिह्न नही धारण करना पडता था। दूसरी अवस्था स्मार्त्त-पद्धति की थी, जिसके अनुसार स्मृतियो अथवा धर्मशास्त्रोमें वर्णित विधिके अनुसार बाह्य चिह्न धारण किए जाते थे। तीसरी पद्धति वर्तमान· पद्धति है, जिसके अनुसार श्रौत और स्मार्त पद्धतिके अतिरिक्त एक नई प्रव्रज्याकी परिपाटी चली, जिसमें तान्त्रिक नियमोका समावेश हुआ। मूलत इन तीनो पद्धतियोमें विशेष अतर न होने हुए भी साधना-पद्धति और बाह्याचारमे पर्याप्त अतर हो गया, फिर भी तीनो पद्धतियाँ अलग-अलग चलती रही। इनमेंसे उदासीन साधु श्रौत · प्रव्रज्याका ही पालन करते है और अलिग होकर ब्रह्म-साधना करते है।

प्राचीनता

उदासीन सम्प्रदायकी प्राचीनताके सबधमें इतना ही पर्याप्त है कि वैदिक आचार-विचार और आश्रम-प्रतिष्ठा जिस वैदिक युगमें हुई उसी युगमें श्रौत प्रव्रज्याका प्रचलन भी प्रारभ हुआ, अन. यह परम्परा उतनी ही प्राचीन माननी चाहिए जितना प्राचीन वेद है।

श्रौत परिव्राजक

ऊपर विचार किया जा चुका है कि श्रौत परिव्राजक अलिंग होता है अर्थात् वह किसी प्रकारका कोई वाह्य चिह्न धारण नही करता किन्तु फिर भी उस उदासीन श्रौत परिव्राजकके कुछ लक्षण तो निश्चित थे ही। पद्मपुराणके पाताल-खण्डमे उसका लक्षण बताया गया है कि वही द्विजोत्तम उदासीन कहलाता है जो सदा उदासीन अर्थात् निर्लिप्त भावसे व्यवहार करता हो, जो न किसीको कुछ देता हो, न किसीसे कुछ लेता हो, जो न किसीपर क्रोध करता हो, न किसीपर प्रसन्न होता हो, और जो ससारके पदार्थोका त्याग करके भी उन्हें छोडकर न भागा हो। वैदिक नियमके अनुसार चतुर्थ आश्रमका चिह्न दण्ड है, किन्तु उदासीन लोग दण्ड धारण नही करते हैं। उसका कारण वे यही बताते है कि हमारे विचार ही हमारे दण्ड है इसलिये हमे दण्ड धारण करनेकी आवश्यकता ही नही पडती। कहा भी है—

वाग्दण्ड कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रय.।
यस्यैते नियता दण्डा स त्रिदण्डी महामती ॥
(नारद-परिव्राजकोपनिषद्)

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्ड कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥
[मनु० अ० १२]

[जिसने अपनी वाणीपर, क्रियापर और मनपर दड स्थापित किया है अर्थात् उन्हे वशमे रक्खा है, वही त्रिदण्डी है।]

उदासीनोंके प्रकार

चतुर्थाश्रमी उदासीन साधुओंमें छ प्रकारके महात्माओका विवरण मिलता है—कुटीचक, बहूदक, हस, परमहस, तुरीयातीत और अवधूत। साधारणत उदासीन साधु सदा

हुआ स्वयम् ब्रह्मनिष्ठ होनेका प्रयत्न करता है, उसे ऋषि कहते हैं। इन दो के अतिरिक्त उदासीन मुनि वे हैं जो प्रारंभसे ही चतुर्थ आश्रम ग्रहण करके लोक-कल्याण करते हुए असंख्य मनुष्योंको दीक्षा देकर, शिष्य बनाकर धर्मके तत्त्वोंका घूम-घूमकर प्रचार करते हैं।

चतुर्थाश्रम पद्धतियाँ

इस चतुर्थाश्रमकी तीन पद्धतियाँ थी, जिनमेंसे प्रथम श्रौत अवस्था थी, जिसमें वेदके अनुसार चतुर्थ आश्रमवाले प्रव्रज्या ग्रहण करते थे। यह प्रव्रज्या अलिंग होती थी अर्थात् इसमें किसी प्रकारका कोई बाह्य चिह्न नही धारण करना पडता था। दूसरी अवस्था स्मार्त्त-पद्धति की थी, जिसके अनुसार स्मृतियों अथवा धर्मशास्त्रोंमें वर्णित विधिके अनुसार बाह्य चिह्न धारण किए जाते थे। तीसरी पद्धति वर्तमान पद्धति है, जिसके अनुसार श्रौत और स्मार्त पद्धतिके अतिरिक्त एक नई प्रव्रज्याकी परिपाटी चली, जिसमें तान्त्रिक नियमोंका समावेश हुआ। मूलत इन तीनों पद्धतियोंमें विशेष अतर न होते हुए भी साधना-पद्धति और बाह्याचारमें पर्याप्त अतर हो गया, फिर भी तीनों पद्धतियाँ अलग-अलग चलती रही। इनमेंसे उदासीन साधु श्रौत प्रव्रज्याका ही पालन करते हैं और अलिंग होकर ब्रह्म-साधना करते हैं।

प्राचीनता

उदासीन सम्प्रदायकी प्राचीनताके सबधमें इतना ही पर्याप्त है कि वैदिक आचार-विचार और आश्रम-प्रतिष्ठा जिस वैदिक युगमें हुई उसी युगमें श्रौत प्रव्रज्याका प्रचलन भी प्रारभ हुआ, अत यह परम्परा उतनी ही प्राचीन माननी चाहिए जितना प्राचीन वेद है।

श्रौत परिव्राजक

ऊपर विचार किया जा चुका है कि श्रौत परिव्राजक अलिंग होता है अर्थात् वह किसी प्रकारका कोई बाह्य चिह्न धारण नही करता किन्तु फिर भी उस उदासीन श्रौत परिव्राजकके कुछ लक्षण तो निश्चित थे ही। पद्मपुराणके पाताल-खण्डमें उसका लक्षण बताया गया है कि वही द्विजोत्तम उदासीन कहलाता है जो सदा उदासीन अर्थात् निर्लिप्त भावसे व्यवहार करता हो, जो न किसीको कुछ देता हो, न किसीसे कुछ लेता हो, जो न किसीपर क्रोध करता हो, न किसीपर प्रसन्न होता हो, और जो ससारके पदार्थोंका त्याग करके भी उन्हें छोडकर न भागा हो। वैदिक नियमके अनुसार चतुर्थ आश्रमका चिह्न दण्ड है, किन्तु उदासीन लोग दण्ड धारण नही करते है। उसका कारण वे यही बताते है कि हमारे विचार ही हमारे दण्ड है इसलिये हमे दण्ड धारण करनेकी आवश्यकता ही नही पडती। कहा भी है—

वाग्दण्ड कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रय.।
यस्यैते नियता दण्डा स त्रिदण्डी महायती ॥
(नारद-परिव्राजकोपनिषद्)

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्ड कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥
[मनु० अ० १२]

[जिसने अपनी वाणीपर, क्रियापर और मनपर दढ स्थापित किया है अर्थात् उन्हे वशमें रक्खा है, वही त्रिदण्डी है।]

उदासीनोंके प्रकार

चतुर्थाश्रमी उदासीन साधुओंमे छ प्रकारके महात्माओंका विवरण मिलता है—कुटीचक, बहूदक, हस, परमहस, तुरीयातीत और अवधूत। साधारणत उदासीन साध मन्त

काषाय वस्त्र पहनकर, सिर मुड़ाकर या शिखा रखकर परिग्रह छोड़कर, त्रिदण्ड (कायदण्ड, वाग्दण्ड और मनो-दण्ड) ग्रहण करके अर्थात् शरीर, वाणी और मनको अपने वशमें रखकर सदा ध्यानयोग करता रहता है। किन्तु ऊपर जो भेद बताए गए हैं उनके अनुसार उनके आचारमें भी थोड़ा भेद हो जाया करता है।

कुटीचक

कुटीचक साधु शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, कौपीन, तथा कन्था (गुदड़ी) धारण करता है, माता-पिता और गुरुकी आराधना करता है, तीन समय स्नान करके तिलक लगाकर देवार्चन-मन्त्र जपता है, अभ्यागतों और साधुओंका सत्कार करता है, कथा-वार्त्ता और धर्मप्रवचन करता है, सब सांसारिक सुखोंका त्याग करके अपने पुत्र-पौत्रोंकी संपत्ति और ममतासे मन हटाकर उनके साथ रहते हुए उनके लिये किसी प्रकारकी चिन्ता न करते हुए भी अपने वास, ग्राम या नगरमें ही कुटिया बनाकर अपना जीवन-निर्वाह करता है।

बहूदक

बहूदक साधु वह है जो शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, कौपीन और कन्था धारण करके, तिलक लगाकर, देवपूजन, मन्त्र और जपका अनुष्ठान करता हुआ तितिक्षा और सदाचारके साथ तीर्थोंमें घूमता हुआ धर्मोपदेश करता है और जितेन्द्रिय होकर अपने सब बन्धु-बान्धवोंका त्याग करके प्राणायाममें तत्पर रहता है। कुटीचक उदासीन भी यदि कुटी छोड़कर भ्रमण करने लगे तो वह भी बहूदक हो जाता है और यदि बहूदक साधु भ्रमण छोड़कर कुटी बनाकर बैठ जाय तो वह कुटीचक हो जाता है।

हंस

हंस उदासीन साधु वह है जो जटा बढाकर कौपीन पहनता हो, तिलक लगाता हो, एक समय स्नान करता हो, करपात्री हो अर्थात् खाना-पीना हाथसे ही करता हो पात्रसे नही, पूजा-ध्यान मानसिक ही करता हो, वीतराग, शान्त, जितेन्द्रिय और परोपकारी हो तथा गाँवमें एक रात, नगरमे पाँच रात और क्षेत्रमें सात रातसे अधिक न ठहरता हो। ऐसा साधु शरीर-त्याग करनेके पश्चात् तपलोकमे जाता है। आजकल ऐसे साधुको नागा या निर्वाणी कहते हैं और ये लोग भस्म लगाते है।

परमहंस

परमहस उदासीन वे कहलाते हैं जो शिखा और यज्ञोपवीत छोडकर केवल कौपीन धारण करते हो, सर्वस्व-त्याग करते हो अर्थात् दण्ड, कमण्डलु, भोजन, वस्त्र, आदि कुछ भी पास न रखते हो और शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमानसे ऊपर उठ गए हो। इनके लिये स्नानका भी बन्धन नही रह जाता है। ये सब जीवोको आत्मवत् समझते हैं और शरीर छोडनेके पश्चात् सत्य-लोकमे जाते है।

तुरीयातीत

तुरीयातीत उदासीन वे कहलाते है जिनकी गोमुख-वृत्ति होती है अर्थात् जो कन्द-मूल फलपर निर्वाह करते हैं, शरीर धारण करनेके लिये तीन घरोसे भिक्षा लेते हैं, नग्न रहते है, ऋतु-क्षौर (दो मासमें एक बार क्षौर) कराते है, निरन्तर महावाक्योका उपदेश देते हैं और निदिध्यासनके द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार करते है। ये शरीर-त्याग करनेके पश्चात् आत्माको परमात्मामें लीन करके मोक्ष प्राप्त करते है।

अवधूत

अवधूत उदासीन वायु-स्नान करते हैं। सोऽहम् भावनासे प्रणव-रूपी ब्रह्मके ध्यानमें तन्मय होकर जीवन्मुक्त होकर विचरते है, उन्हें शरीर-धर्मकी कोई चिन्ता नही रहती। किसीने खिला दिया खा लिया, नहला दिया नहा लिया। ये लोग पूर्ण जीवन्मुक्त होते हैं।

कुटीचकके भेद

ऊपर जिन छः प्रकारके साधुओंका वर्णन किया गया हैं इनमेंसे कुटीचकोके तीन भेद होते हैं—एक कुटीमें रहनेवाले, दूसरे स्थानधारी, तीसरे मठाधीश। कुटियावाले कुटीचक वे होते हैं जो कि एक स्थानमें कुटी बनाकर एकाकी रहकर एकान्तवास करते हैं। स्थानधारी कुटी-चक वे हैं जो ऐसा स्थान बनाकर रहते हैं जहां दस-बीस साधु भी निवास कर सकें, जहाँ अभ्यागतों, अतिथियो तथा समागत सज्जनोका आदर-सत्कार हो सके और जहाँ धर्मोपदेश अथवा भजन-कीर्तन आदिका प्रबंध होता हो। ऐसे स्थानोको सिन्धमें ठिकाना, पजाबमें डेरा और उत्तरप्रदेशमें सगत कहते हैं। ऐसे स्थानधारी साधुको ही मुनीश्वर या महंत कहते हैं। तीसरे प्रकारके कुटीचक वे हैं जो ऐसा मठ बनाकर रहते हो, जहाँ सैकड़ों साधुओंके लिये नित्य भोजनका प्रबंध हो, उनके निवास और अध्ययनाध्यापनकी समुचित व्यवस्था हो, समागत अतिथियोंका आदर-सत्कार हो, कथा-प्रवचन, धर्मोत्सव आदिकी योजना भी होती रहती हो। ऐसे स्थान या मठके अध्यक्षको महामुनीश्वर या मठाधीश कहते हैं। महंत या मठाधीशको मठकी संपूर्ण सम्पत्तिपर पूर्ण और निर्बाध अधिकार होता है।

मठ-प्रणाली

धार्मिक जीवन तथा धर्म-भावनाको निरन्तर उद्दीप्त

बनाए रहनेके लिये मठ स्थापित किए गए थे, जिससे उनके द्वारा विद्वानो, विद्यार्थियो, तत्त्वज्ञो और विचारकोका समुचित पोषण हो सके, अच्छे, सुव्यवस्थित विद्यालयोकी स्थापना करके विद्याका प्रचार किया जा सके और इस प्रकार धर्म तथा ज्ञानका प्रचार करके निर्वाध रूपसे लोककल्याण और धर्म-प्रचार किया जा सके। इसीलिये ऐसे स्थानोके जो महन्त चुने जाते थे, उनमें इस वातका विचार किया जाता था कि वे पूर्ण सदाचारी, सयमी, परोपकारी सुशील, कर्मठ, विद्याविचक्षण, दूरदर्शी, उदार और धर्मात्मा हो। ऐसे महन्तोमें साधारण जनताकी ही नही, वरन् विद्वानो तथा विशिष्ट राज्याधिकारियोकी भी श्रद्धा होती है।

श्री-महन्त

महन्तोमें भी जिसकी धाक प्रान्त भरके महन्त मानते हो, जिसे और सब भेंट-पूजा देते हों, वह श्री-महन्त कहलाता है। जिस विद्या-विभव-सपन्न महात्माके साथ दस-बीस साधु अध्ययन करते हों और जो अपने इन अध्ययनशील साधुओंको साथ लेकर उनके भोजन-वस्त्रका प्रबध करता हुआ देश-देशान्तरमें धर्म-प्रचार करता हुआ भ्रमण करता हो, उसे मण्डलेश्वर कहते हैं। जो महात्मा अपने साथ सौ-पचास साधुओंको लेकर उन्हें वेदाध्ययन कराता हुआ और उनके भोजन-वस्त्रका प्रबध करता हुआ स्वयम् भी धर्म-प्रचार करता हुआ भ्रमण करता हो और अपने अधीन कई मण्डलेश्वरो-द्वारा धर्म-प्रचार कराता हो उसे महामण्डलेश्वर कहा जाता है।

साधुबेला

इन उदासीन साधुओंकी इस विशाल विस्तृत परपरामें श्रीसाधुबेलाका एक विशिष्ट स्थान है, क्योंकि इसके सस्थापक श्री योगिराज सद्गुरु स्वामी श्रीवनखण्डीजी महाराजने इस तीर्थका स्वय प्रवर्त्तन किया था। अपने अलौकिक लोक-पावन

चरित, अध्यात्म-वृत्ति और अमोघ शक्तियोंके कारण, उन्होंने सिन्धु-नदके इस शिला-द्वीपको वह पद प्रदान किया जो भारतके विभिन्न प्रान्तोंमें अवस्थित अनेक तीर्थोंको युगोंमें प्राप्त होता रहा है। भारतके इतिहासमें यह घटना अद्भुत तथा महत्त्वपूर्ण तो है ही, साथ ही भारतके सांस्कृतिक और धार्मिक इतिहासमें भी यह कुछ कम महत्त्वकी बात नहीं कि कोई योगी इस भयंकर कलिकालमें सहसा समुद्भूत होकर एक नये तीर्थका आविर्भाव करे और भारतकी समस्त जनता उसे नतमस्तक होकर स्वीकार कर ले। इसी विलक्षणताके कारण यह उचित समझा गया कि इस तीर्थकी गाथाको सरल, सरस, भावमय, गद्य-साहित्यके रूपमें अभिव्यक्त करनेकी भावुकता दिखाई जाय।

आशा है सविज्ञ जिज्ञासुओंको इससे पूर्ण तुष्टि होगी, प्रेरणा प्राप्त होगी और आनंद मिलेगा।

—सीताराम चतुर्वेदी

एम० ए० [हिन्दी, संस्कृत, पालि, प्रत्न भारतीय इतिहास तथा संस्कृति], बी० टी०, एल्० एल्० बी०, साहित्याचार्य।

काशी,
पौष कृ० ८, सं० २००६

।। श्रीगणेशायनमः ।।

जय साधुबेला

१

मोरंग-झाड़ीका तपस्वी

अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति ।

सारे संसारने एक स्वरसे, एक मतसे जिस महाकवि कालिदासको कवियोंका मूर्धन्य, कविकुल-गुरु स्वीकार किया, उसने अपने विश्वविश्रुत महाकाव्य कुमार-संभवका प्रारम्भ जिस देवतात्मा नगाधिराज हिमालयकी मनोहर, हृदयग्राही, उदात्त तथा भव्य गाथासे किया है, उसी चिरोन्नत, नित्यनवल, शिखर-धवल, महाप्राण, देवतात्मा हिमाचलकी पूर्वसे पश्चिमतक फैली हुई पर्वत-श्रेणियोंके बीचकी पार्वत्य अधित्यकापर नेपाल राज्य और उपत्यकामें उसकी वह सघन तराई है, जिसका उत्तरी भाग नवयुवक सैनिकके समान सीधे तनकर खड़े हुए बड़े-बड़े चौड़े पत्तोंवाले ऊँचे-ऊँचे शालके वनोंसे ढका हुआ फैला है और जिसके दक्षिणमें प्रकृत तराईकी वह भूमि है, जिसकी पश्चिमी

चलकर आप भेड़िया-मठ पहुँचेंगे। वहांसे होते हुए आप हनुमान-नगरकी ओर बढ़ चलेंगे तो कोसी नदी पार करनेपर मोरंग-झाड़ीमें आपको धूनीसाहबका दर्शन मिल जायगा।

दूसरा मार्ग भी उसी रेल-पथसे ही योगवनी होकर जाता है। योगवनीसे विराटनगरतक लगभग तीन मील सड़कसे चलनेके पश्चात् चौदह मीलपर उत्तर-पश्चिमकी ओर इटहटी है, उससे तीन मील आगे पखली और उससे भी आठ मील आगे धूनीसाहब नामक स्थान है, जिसे तपोभूमि भी कहते हैं। मोरंग झाड़ीमें जहां एक ओर इतने विषाक्त जलस्रोत हैं, वहीं रँगेली नामका एक ऐसा भी स्थल है जहांका जलवायु अत्यन्त सुखकर, स्वास्थ्यकर और पुष्टिकारक है। सबसे अधिक विचित्र बात तो यह है कि रँगेलीके स्रोतोंका जल भी मोरंगवनके अन्य सब स्रोतों तथा निर्झरोंकी अपेक्षा अधिक सुस्वादु है।

तेजस्वी अतिथि

सं० १७५६ विक्रमाब्दकी बात है। दरभंगाके बोहड़ वन्य प्रान्तरकी कटीली झाड़ियोंके बीच घिसी हुई सकरी पगडंडियोंपर बड़े वेगसे पग बढ़ाए एक साधु चला जा रहा था, जिसकी अवस्था अभी अधिक न होगी, जिसके मुखमंडलपर अद्भुत् कान्ति और वृद्धव्रतकी मनस्विता भासमान थी, जिसके सुघटित, सुकान्त शरीरसे प्रतीत होता था मानो कोई आध्यात्मिक सत्संकल्प उसे किसी विशिष्ट पथकी ओर अग्रसर किए जा रहा हो। उसके संन्यस्त काषाय-वस्त्रपर केवल एक कंबल, हाथमें डोर और कमण्डलुके साथ एक वंशदंड भी था। संन्यासी साधुके लिये आवश्यक इस संक्षिप्त किन्तु आध्यात्मिक वैभवके साथ यह एकाकी पथिक वेगसे मार्ग नापता चला जा रहा था।

उस पार

उस समय सध्या हो चली थी और माघकी पूर्णिमाका

सीमापर कोसी नदी और पूर्वी सीमापर मेंची नदी अपनी पार्वत्य जल-राशि लेकर गंगासे मिलनेकी उत्कंठामें दक्षिणकी ओर बढ़ जाती हैं। इन दोनों पयस्विनियोंके बीचमें ही तराई प्रदेशकी यह मोरंग वनभूमि है, जो लगभग ढाई कोसकी चौड़ी पट्टीमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर फैली चली गई है।

मोरंग तराई

इस मोरंग-तराईमें यों तो भूमि समथल है; किन्तु स्थान-स्थानपर कीचड़ और दलदलके इतने बड़े-बड़े पाट पड़ गए हैं कि शीतज्वरके सद्यःप्रवर्त्तक बड़े-बड़े मच्छर अपनी शाश्वत बस्ती बनाकर निश्चल और निःशंक होकर वहां निवास और विहार करते हैं। इस प्रकारके दूषित और निकृष्ट प्रान्तरमें संसर्पण करनेवाले गंभीर और सदाप्रवाह स्रोतोंका जल भी इतना विकृत, हानिकर और विषाक्त हो गया है कि उसके जलका एक घूंट भी प्राणियोंके उदरमें पहुँचकर उनके जीवन-के लिये संकटप्रद सिद्ध हो सकता है। एक तो समथल भूमि, उसपर हिमालयकी दक्षिणी अधित्यकासे रगड़कर चलनेवाले बंगालकी खाड़ीसे उठे बादल इतनी उदारतासे जल बरसा जाते हैं कि शाल, शीशम, देवदारु तथा अन्य वन्य वृक्षोंके जंगलके जंगल यहां चारों ओर अत्यन्त प्रचुरतासे उठ खड़े होते हैं, जिनमें जंगली हाथी, व्याघ्र, वन-शूकर, कस्तूरी और चामर मृग निश्चिन्तता तथा निर्भीकताके साथ निरन्तर वन-विहार करते रहते हैं।

भारतकी ओरसे इस वन्य, अन्धतमसावृत मोरंग झाड़ीमें पहुँचनेके दो मार्ग हैं। यदि आप अवध तिरहुत रेल-पथ (उत्तर-पूर्वी रेलवे) का आश्रय लेकर नेपालकी सीमापर भर्थिटआई स्टेशन-तक पहुँच जायं तो यहां उतरकर पक्की सड़कसे तीन मील आगे चलनेपर आपको तकिया-मठ मिलेगा। उससे आगे तेरह मील-तक ऊँची-ऊँची घासोंके बीच जंगली पगडंडीसे

चलकर आप भेड़िया-मठ पहुँचेंगे। वहांसे होते हुए आप हनुमान-नगरकी ओर बढ़ चलेंगे तो कोसी नदी पार करनेपर मोरंग-झाड़ीमें आपको धूनीसाहबका दर्शन मिल जायगा।

दूसरा मार्ग भी उसी रेल-पथसे ही योगवनी होकर जाता है। योगवनीसे विराटनगरतक लगभग तीन मील सड़कसे चलनेके पश्चात् चौदह मीलपर उत्तर-पश्चिमकी ओर इटहटी है, उससे तीन मील आगे पखली और उससे भी आठ मील आगे धूनीसाहब नामक स्थान है, जिसे तपोभूमि भी कहते हैं। मोरंग झाड़ीमें जहां एक ओर इतने विषाक्त जलस्रोत हैं, वहीं रँगेली नामका एक ऐसा भी स्थल है जहांका जलवायु अत्यन्त सुखकर, स्वास्थ्यकर और पुष्टिकारक है। सबसे अधिक विचित्र बात तो यह है कि रँगेलीके स्रोतोंका जल भी मोरंगवनके अन्य सब स्रोतों तथा निर्झरोंकी अपेक्षा अधिक सुस्वादु है।

तेजस्वी अतिथि

स० १७५९ विक्रमाब्दकी बात है। दरभंगाके बीहड़ वन्य प्रान्तरकी कटीली झाड़ियोंके बीच घिसी हुई सकरी पगडंडियोंपर बड़े वेगसे पग बढ़ाए एक साधु चला जा रहा था, जिसकी अवस्था अभी अधिक न होगी, जिसके मुखमंडलपर अद्भुत् कान्ति और दृढ़व्रतकी मनस्विता भासमान थी, जिसके सुघटित, सुकान्त शरीरसे प्रतीत होता था मानो कोई आध्यात्मिक सत्संकल्प उसे किसी विशिष्ट पथकी ओर अग्रसर किए जा रहा हो। उसके संन्यस्त काषाय-वस्त्रपर केवल एक कंबल, हाथमें डोर और कमण्डलुके साथ एक वंशदंड भी था। संन्यासी साधुके लिये आवश्यक इस संक्षिप्त किन्तु आध्यात्मिक वैभवके साथ वह एकाकी पथिक वेगसे मार्ग नापता चला जा रहा था।

उस पार

उस समय सन्ध्या हो चली थी और माघकी पूर्णिमाका

चंद्रमा पूर्वके क्षितिजको चन्द्रिकासे सुप्रकाशित करता हुआ अपने चारों ओर बिखरे हुए शिशिरके कुहरेके धुँधले अवगुण्ठनमें अपनी कान्त किरणें समेटकर शीत मिटानेका असफल प्रयास कर रहा था। यामिनी पग बढ़ाती आ रही थी और वह साधु पग बढ़ाता जा रहा था। कोसी नदीके तटपर पहुँचते-पहुँचते रात हो चली थी। उस साधुकी मुद्रासे भी ऐसा जान पड़ा मानो आज आगे बढ़नेके संकल्पमें कोसी नदीकी क्षीण धारा लक्ष्मणकी रेखा बनकर बाधक हो गई हो। कोसीके वक्षपर एक साधारण-सी नौका उस शान्त वेलामें अपने दोनों डाँडोंसे जलमें छपकी देती हुई सान्ध्य निःस्तब्धताको भंग करनेकी धृष्टता कर रही थी। उस श्रान्त साधुने अपनी शान्त गंभीर वाणीसे पुकारा—

"पार चलोगे ?"

इस ध्वनिकी अनुज्ञाका पालन करती हुई वह नाव घूमी और तत्काल तटपर आ लगी। साधु नावमें जा बैठा और देखते-देखते पार जा पहुँचा।

आश्रयकी खोज

अपनी अण्टीसे एक गोरखपुरी ताँबेका टका निकालकर उस नाववालेके हाथपर रखकर वह ऊपर चढ़ गया। चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर चंद्रमाके धुँधले प्रकाशमें उसने हिमालयके चरणोंमें व्याप्त उस विभूतिमती वनश्रीके दर्शन किए, जिसकी हरीतिमा चंद्रके मंद प्रकाशमें भी अपने पेशल और पिच्छिल पत्रोंपर चंद्रिकाके अंक मुद्रित करके सहस्रों करोंसे चंद्रमाका नीराजन कर रही थी। माघकी रात्रिके साथ-साथ शीत बढ़ता जा रहा था और साधुके कन्धेपर बँधा हुआ जीर्ण कम्बल इतना समर्थ नहीं था कि नगाधिराजको इस चरणवती उपत्यकामें अपनी [illegible] तीक्ष्णताका [illegible]

सशक्त होकर

दौड़ाई, किन्तु नेत्रकी परिधिमें कोई ऐसा स्थान गोचर न हुआ जहाँ शीतकी रात्रिकी निर्ममतासे त्राण पानेका आश्रय मिल जाय। सहसा उसी समय उस साधुके कानोंमें कुछ घण्टियोंकी-सी ध्वनि सुनाई पड़ी। उसका अनुसरण करते हुए साधु ज्यों ही कुछ ऊपर चढा, त्यों ही उसने देखा कि पास ही दाहिनी ओर एक ग्वालेकी झोपड़ीके बाहर बाँसके बाँड़ेमें कुछ गौएँ अपने गलेमें बँधी हुई घण्टियोंको अपने गलकम्बलके विकम्पनसे बजा-बजाकर उस सान्ध्य वेलाकी स्तब्ध निर्जनताको अपनी कोमल ध्वनिसे कभी-कभी मुखरित कर देती थीं।

आतिथ्य

साधुके जीमें जी आया। उसे विश्वास हुआ कि अतिथि-सत्कारको धर्म माननेवाले इस भारतीय वन्य गृहस्थकी झोपड़ीमें रात्रि व्यतीत करनेका साधन अवश्य प्राप्त हो जायगा। अत्यन्त आश्वस्त चित्तसे वह उस झोपड़ीकी ओर बढ़ गया और उसके द्वारपर पहुँचकर गम्भीर स्वरसे उसने पुकारा—

"नारायण, नारायण।"

बाँसकी टट्टी खोलकर भीतरसे एक ग्वाला युवक प्रश्नभरी मुद्रामें बाहर निकला और भारतीय शीलके अनुसार इस साधु अतिथिको बिना कुछ पूछे-कहे ही भीतर ले गया और ले जाकर उसने पुआलपर बिछे हुए गदेले कम्बलपर साधुको बैठा दिया। जल और भोजनसे उस अतिथिका यथोचित आदर-सत्कार करके उस ग्वालेने पूछा—

"महाराज! मेरे लिये और क्या आज्ञा है?"

साधुको तो केवल वह शीतकी रात्रि किसी निर्वात छायामें व्यतीत करनी थी, इसलिये उसने इतना ही कहा—

"बाबा, मैं तो साधु हूँ। यह रात्रि कहीं छायामें बिता देना चाहता हूँ। यदि सुविधा हो सके तो इतना प्रबन्ध कर दो।"

उस गृहस्थ ग्वालेको तो मानों सम्पूर्ण अभिलषित वरदान एक साथ प्राप्त हो गए! उसने अत्यन्त हर्ष-विह्वल होकर साधुके चरणोमें अपना सिर नवाया और अत्यन्त कृतज्ञताके साथ कहा—

"यह तो मेरा अहोभाग्य है कि आप जैसे महात्मा मेरी कुटिया पवित्र करें। ऐसे साधु-महात्माओंका इधर दर्शन कहाँ मिलता है? मैं अभी आपके लिये सब प्रबन्ध किए देता हूँ।"

उसने झट पुआलका मोटा गद्दा बनाया, उसपर एक मोटा नेपाली कम्बल लाकर बिछा दिया और दूसरा कंबल ओढनेके लिये रख दिया। साधुने अत्यन्त हर्ष और कृतज्ञताके साथ अपने इस वन्य आतिथेयका स्नेहपूर्ण तथा श्रद्धापूर्ण आतिथ्य स्वीकार किया और पुआलसे गरमाए हुए उस कंबलपर वह लेट रहा।

भविष्यवाणी

अगले दिन प्रातःकाल ही ब्राह्म मुहूर्तमें साधुके गंभीर कंठसे निकले हुए प्रातःस्तोत्रसे वह कुटिया गूँज उठी। अपने नित्य-कर्मसे निवृत्त होकर कोसीमें स्नान करके जब साधु महोदय उस घोष युवकसे प्रस्थानकी आज्ञा लेने आए तो ग्वालेका भक्त हृदय कुछ विचलित हो उठा। उसने सहायताकी भावनासे जिज्ञासा की—

"आप किधरकी यात्रा कर रहे हैं महाराज?"

साधुने समाधान किया—

"हम शिवरात्रि करने नेपाल जा रहे हैं।"

उस ग्वालेने देखा कि साधुकी वाणीमें कुछ अपूर्व तस्विता है। उसने साहस बटोरकर उनसे प्रार्थना की—

"महाराज! मेरे पिता अत्यन्त रुग्ण हैं। कृपा करके चलकर देख लेते तो बड़ी कृपा होती।"

वह साधु उस घोष युवकके साथ-साथ पासवाली दूसरी झोपडीमें गया, जहां उस घोषका पिता एक झिगली चारपाईपर मृत्युकी अन्तिम घड़ियां गिनता हुआ पड़ा था। उसे देखते ही साधुने कहा—

"बच्चा! इनकी आयु पूर्ण हो चुकी है। अब ये अधिक दिन नहीं चल सकते।"

इतना सुनना था कि उस घोष युवककी आंखोंमें आंसू छलछला आए। उसने अपनी बांहसे आंसू पोंछते हुए गद्‌गद्‌ कण्ठसे फिर पूछा—

"बाबाजी! आप त्रिकालदर्शी हैं। आप कृपया यह बता दीजिए कि ये कितने दिन और चलेंगे?"

उस साधुने गभीर विरक्तिके साथ कहा—

"आजसे पन्द्रह दिन पश्चात्‌ शिवरात्रिके दिन ये ससार छोड देंगे।"

अन्त प्रेरणा

उस ग्वालेके मनमें न जाने उस साधुके प्रति क्या आत्मीयतापूर्ण श्रद्धा उमड पडी कि उसने उनके चरण पकड लिए और वह अत्यन्त आर्त्त होकर विचित्र दैन्य और अनुनयके साथ प्रार्थना करने लगा—

"आप कृपाकर तबतक यहीं रह जाइए जबतक मेरे पिताजी शय्यारुढ हैं। इन्हें कुछ ऐसी धर्म-चर्चा सुनाइए कि इनका परलोक बन जाय।"

उसका इतना आग्रह देखकर और उसके रात्रिक व्यवहारसे अत्यन्त तुष्ट और प्रसन्न होनेके कारण साधुने उसका आग्रह स्वीकार कर लिया और उस ग्वालेके वृद्ध मुमूर्षु पिताको नित्य धर्म-गाथाएं सुनाने लगे। इस क्रममें वे इतने व्यस्त हो गए कि उन्हें यही ध्यान नहीं रहा कि शिवरात्रि कब पड रही है। फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीको ठीक शिवरात्रिके

प्रात:काल जब उस ग्वालेके पिताने अपना अन्तिम श्वास छोड़ दिया, तभी उस साधुको भी चेत हुआ कि शिवरात्रिके लिये चल देना चाहिए। इसलिये ज्यों ही वे अपना दण्ड-कमण्डलु लेकर प्रस्थान करनेको उद्यत हुए, त्यों ही इस ग्वालेने आकर सूचना दी—

"महाराज! नेपालमें कल रात ही शिवरात्रि हो चुकी इसलिये अब वहाँ जाना निष्प्रयोजन होगा।"

साधुने क्षणभर ध्यानावस्थित होकर कुछ विचार किया। उन्हें यही अन्त प्रेरणा हुई कि भगवान् पशुपतिनाथ तुम्हें यहीं स्थिर होनेका आदेश देते हैं। साधुने उस ग्वालेका आग्रह मान लिया और वहीं ठहर गए।

ग्वालेका सकल्प

अपने पिताकी और्ध्व-दैहिक क्रियासे निवृत्त होनेके पश्चात् सत्रहवें दिन वह ग्वाला अत्यन्त भावाविष्ट होकर साधुकी शरणमें आया और चरणोंमें सिर नवाकर प्रार्थना करने लगा—

"महाराज! मेरा और मेरी पत्नीका एक संकल्प हुआ है। यदि आपकी कृपा हो जाय तो वह संकल्प पूरा हो सकता है।"

साधुने अत्यन्त कुतूहलके साथ पूछा—

"क्या संकल्प है भक्त?"

उस ग्वालेने अत्यन्त तन्मयताके साथ कहना प्रारंभ किया—

"महाराज! हम दोनोंकी यह इच्छा है कि इस वनमें जो हमारी थोड़ी-सी भूमि है, उसके आधे भागमें आश्रम बनाकर और अपनी धूनी जगाकर आप तपस्या कीजिए जिससे हमारा, हमारे कुटुम्बका और गाँववालोंका कल्याण हो और आपके चरण पकड़कर हम आग्रह करते हैं कि हमारी यह छोटी-सी प्रार्थना अस्वीकार न कीजिए।"

धूनी जाग उठी

भक्तके वशमें है भगवान् । उदार साधुने अपना नेपाल जानेका संकल्प छोड़कर इस आतिथेय दम्पतिका संकल्प पूर्ण करना स्वीकार कर लिया और उसी दिन उस मोरंग-झाड़ीमें साधु महाराजकी वह धूनी जाग उठी जहांके लिये यह प्रसिद्ध है कि सिंह अपनी पूँछसे उस स्थानको झाड़ते थे और जंगली हाथी अपनी सूँड़से लकड़ी तोड़कर धूनीको प्रज्ज्वलित रखते थे ।

तपस्याका आरम्भ

इस प्रकार उस मोरंग-झाड़ीके उस घने जंगलके बीच उस तेजस्वी उदासीन साधुने अपनी एकान्त तपस्या प्रारंभ कर दी, जिसके भासमान मस्तकसे बालारुणका प्रकाश संदीप्त होता था, जिसके शरीरमें सुस्थिर तपस्याकी कान्ति विद्यमान थी, जिसके स्वभावमें विश्व भरके सब जीवोंको आत्मवत् करके वश करनेकी सिद्धि थी और जिसने अपनी तपस्या तथा योगबलसे शरीरके सब अंगों, पवनों और मानसिक वृत्तियोंको अपने अधीन कर लिया था। जिस वनमें क्षण-क्षणपर हिंसक जीवोंके गुरु-गम्भीर, त्रासकारी गर्जनका भैरव नाद और कोलाहल सुनाई पड़ता हो, जहां दलदलमें पलनेवाले मच्छर, स्वस्थ मनुष्यके शरीरमें अपना विष प्रवेश करके उसका स्वास्थ्य पी डालते हों, जहांकी घासमें रेंगने वाले विषैले सर्प और काले बिच्छू प्रतिक्षण दंशन और डंक मारनेकी विभीषिका उत्पन्न किए रहते हों, जहांके घने जंगलोंमें ऊंचे वृक्षोंके बड़े-बड़े पत्तोंके छत्रसे डरकर सूर्यकी किरणें भी भूमिका स्पर्श करनेमें भयभीत रहती हों, उसी विशाल, विस्तृत वन्य मोरंग-झाड़ीमें वह तपस्वी अपना आसन जमाकर केवल निर्विकल्प समाधिमें अनुभूयमाण परात्पर ब्रह्मकी परम ज्योतिका साक्षात्कार करनेमें संलग्न हो गया ।

२

वनखंडीजी महाराज

भलो भलाइहि पै लहै, लहै निचाइहिं नीच ।

असम्प्रज्ञात समाधिकी साधनाके लिये आशा और परिग्रहका परित्याग करके, उस निर्जन तथा पवित्र प्रदेशमें मिट्टीकी ऊँची वेदीपर कुशासन या कृष्णाजिन विछाकर, स्वस्थ चित्तसे, मनको एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको संयत करके, शरीर, मस्तक और ग्रीवाको तानकर, धारणाके द्वारा बुद्धिको वशमें करके, मनको आत्मामें प्रतिष्ठित करके, सब ओरसे अपनी दृष्टि हटाकर नासिकाके अग्र भागपर स्थिर करके, शान्त और निर्भय होकर जिस समय ये आसन लगाते थे, उस समय उस वनके सम्पूर्ण हिंसक प्राणी, घरके पालित पशुओंकी भाँति अपना स्वाभाविक वैर भूलकर उनके चारों ओर आकर बैठ जाते थे। उस समय उन वन्य

मोरग झाडीमें तपस्वी श्रीवनखण्डीजी तपस्या कर रहे हैं ।

जीवोंसे परिवृत वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो साक्षात् शंकर अपने अपरिमित तेज और विभूतिसे समस्त संसारकी वृत्तियोंको वशमें किए बैठे हों।

दिव्य शक्ति

योगकी इस कठिन साधनासे सब सिद्धियाँ उनकी मुट्ठीमें आ गई थीं। काल और दूरीके सब बन्धन उन्होंने तोड़ गिराए थे। इसीका परिणाम था कि वे दिन-रातके चौबीस घण्टोंमें प्रातः चारसे आठ बजे-तक भेंड़िया-मठमें समाधि लगाकर निरन्तर आत्मचिन्तन करते थे, आठ बजे प्रातःसे सन्ध्याके सात बजेतक धूनीसाहबमें भजन-कीर्तन और उपदेश करते थे, सायं सात बजेसे प्रातः तीन बजेतक तकिया-साहबमें फिर अखण्ड समाधि लगाकर बैठ जाते थे और जो एक घण्टा बच रहता था उसीमें नित्य-क्रियाका निर्वाह कर लेते थे। यद्यपि ये तीनों स्थान एक-दूसरेसे लगभग तेरह-तेरह मीलकी दूरी पर थे, किन्तु जिसने समस्त सिद्धियाँ अपने हाथमें कर ली हों, उसके लिये इस तुच्छ दूरीका महत्त्व ही क्या था? वे केवल संकल्प मात्रसे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर क्षण भरमें पहुँच जाते थे; क्योंकि कुम्भक प्राणायामके क्रमागत अभ्याससे उन्हें इतनी विशिष्ट शक्ति प्राप्त हो गई थी कि वे पृथ्वीका आधार छोड़कर शून्यमें पद्मासन लगाकर बैठ सकते थे और क्षण भरमें जहाँ चाहें वहाँ पहुँच सकते थे।

लोक-प्रसिद्धि

ऐसे तपस्वी महापुरुषकी लीलाएँ कितने दिनोंतक लोक-दृष्टिसे ओझल रह सकती थीं? परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे भावुक भक्तगण, कामनायुक्त गृहस्थ लोग और कौतूहलपूर्ण साधारण जन, उनके दर्शनके लिये, उनकी तपस्याके तीनों स्थानोंपर एकत्र होने लगे। अपने नियमके वे

था, इसीलिये लोगोंने उनका नाम वनखण्डीजी महाराज रख दिया क्योंकि वे निरन्तर वनखण्डमें ही रहा करते थे, किसी गाँव या बस्तीकी ओर झाँकते भी नहीं थे और उन्हीं वनोंके जल और उनकी शीतल छायासे अपनी तपस्याका निर्वाह करते थे ।

अकारण वैर

जिन सिद्ध मुनियोंने निर्जन स्थानमें ही तपस्या करनेका विधान किया था, वे भली भाँति जानते थे कि यद्यपि आत्म-चिन्तनमें लगा हुआ तपस्वी, न तो किसीका अहित करता है और न अहित करनेकी बात सोचता है, किन्तु जब समाजमें कुछ लोग 'बिनु काज दाहिने बाएँ' हो सकते हैं, अकारण, केवल कुतूहलवश, परीक्षा करनेके लिये अथवा दुष्टतावश तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये सुबाहु, मारीच और ताड़का बन सकते हैं, तो वे बिना कारण ही शत्रु भी बन बैठते हैं । हमारा सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य ऐसी सैकड़ों कथाओंसे भरा हुआ है जिनमें ऐसे अनेक दुष्ट लोगोंने अकारण ही निरीह तपस्वियोंको कष्ट भी दिया और उनकी तपस्यामें विघ्न भी डाला, इसीलिये लोक-संगति अथवा जन-सम्पर्कको तपस्वीके लिये सबसे बड़ा शूल माना गया है । वनखण्डीजी महाराजने यही समझकर उस वृक्ष-लता-गुल्म-संकुल निर्जन मोरंग वनको अपनी एकान्त तपस्याका केन्द्र बनाया, जहाँ जन-सम्पर्कसे बचे रहनेका पर्याप्त क्षेत्र था । किन्तु पाताल तोड़-कर जल निकालनेवाले, दुर्ल्लंघ्य पर्वतको उछलकर लाँघ जानेवाले और अगाध सागरको तैरकर पार कर जानेवाले साहसी मानवके लिये इस वनमें पहुँचना कौन कठिन था ? और फिर, मनुष्य यदि सब कुछ देखकर या सुनकर मौन होकर बैठा रहे, अपनी वाणीमें लगाम लगा ले, अपनी उत्कंठा संयत कर ले, तो बहुत-सी विपत्तियाँ दूर हो सकती हैं;

इतने पक्के थे कि अपना एक क्षण भी नष्ट नहीं करते थे और न इधर-उधरकी बात-चीतमें अपना समय नष्ट करते थे। फलतः जनसाधारणके लिये वे एक पहेली मात्र बने रह गए। सभीके मनमें यह उत्कण्ठा बनी रह गई कि यह तपस्वी कौन है ? कहाँसे आया है ? हिमालयके स्वस्थ प्रदेशोंको छोड़कर इस अत्यन्त अस्वस्थ क्षेत्रमें यह कैसे तपस्या करता है ? क्या खाता है ? क्या पीता है ? किस प्रकार अपना जीवन धारण करता है ? किन्तु कोई इन प्रश्नोंका समाधान न कर सका और न यही जान सका कि यह तपस्वी प्रतिदिन तीन स्थानोंमें कैसे पहुँच जाता है ? किस प्रकार अपनी साधना बनाए रहता है ? किन्तु एक बात अवश्य थी कि उस तपस्वीके अलौकिक कार्यसे, उसके तेजस्वितापूर्ण रूपसे, उसके शान्त स्नेहमय व्यवहारसे और उसके दिव्य तपःप्रभावसे सब इतने प्रभावित हो चले कि जिसे देखो वही उसकी स्तुति गा रहा है, जिधर सुनो उधर उसकी अलौकिक लीलाओंका गुणगान हो रहा है और जिधर जाओ उधर उसके विषयमें लोग पूछ-ताछ कर रहे हैं। उसके विराट् तेजसे उस प्रदेशका वन ही नहीं, जन-समूह भी आलोकित हो उठा और चारों ओर एक विलक्षण कुतूहलपूर्ण भावनाने प्रत्येक स्त्री और पुरुषको इतना अभिभूत कर लिया कि वहाँ कोई ऐसा व्यक्ति न बचा जो उस तपस्वीकी वाणी सुननेको उत्कंठित न हो और उसके दर्शन करनेको लालायित न हो।

ये कौन हैं ?

जब वे किसीसे बोलते भी नहीं थे, तो उनका नाम कोई कैसे जान सकता था। उपदेशके समय भी कोई नाम पूछनेका दुःसाहस कैसे कर सकता था ? किन्तु बिना किसी प्रकारकी संज्ञा दिए भी उनका वर्णन करना सम्भव नहीं

था, इसीलिये लोगोंने उनका नाम, वनखण्डीजी महाराज रख दिया क्योंकि वे निरन्तर वनखण्डमें ही रहा करते थे, किसी गाँव या बस्तीकी ओर झाँकते भी नहीं थे और उन्हीं वनोंके जल और उनकी शीतल छायासे अपनी तपस्याका निर्वाह करते थे ।

अकारण वैर

जिन सिद्ध मुनियोंने निर्जन स्थानमें ही तपस्या करनेका विधान किया था, वे भली भाँति जानते थे कि यद्यपि आत्म-चिन्तनमें लगा हुआ तपस्वी, न तो किसीका अहित करता है और न अहित करनेकी बात सोचता है, किन्तु जब समाजमें कुछ लोग 'बिनु काज दाहिने बाएँ' हो सकते हैं, अकारण, केवल कुतूहलवश, परीक्षा करनेके लिये अथवा दुष्टतावश तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये सुबाहु, मारीच और ताड़का बन सकते हैं, तो वे बिना कारण ही शत्रु भी बन बैठते हैं । हमारा सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य ऐसी सैकड़ों कथाओंसे भरा हुआ है जिनमें ऐसे अनेक दुष्ट लोगोंने अकारण ही निरीह तपस्वियोंको कष्ट भी दिया और उनकी तपस्यामें विघ्न भी डाला, इसीलिये लोक-संगति अथवा जन-सम्पर्कको तपस्वीके लिये सबसे बड़ा शूल माना गया है । वनखण्डीजी महाराजने यही समझकर उस वृक्ष-लता-गुल्म-संकुल निर्जन मोरंग वनको अपनी एकान्त तपस्याका केन्द्र बनाया, जहाँ जन-सम्पर्कसे बचे रहनेका पर्याप्त क्षेत्र था । किन्तु पाताल तोड़-कर जल निकालनेवाले, दुर्लंघ्य पर्वतको उछलकर लाँघ जानेवाले और अगाध सागरको तैरकर पार कर जानेवाले साहसी मानवके लिये इस वनमें पहुँचना कौन कठिन था ? और फिर, मनुष्य यदि सब कुछ देखकर या सुनकर मौन होकर बैठा रहे, अपनी वाणीमें लगाम लगा ले, अपनी उत्कंठा संयत कर ले, तो बहुत-सी विपत्तियाँ दूर हो सकती हैं;

इतने पक्के थे कि अपना एक क्षण भी. नष्ट नहीं करते थे और न इधर-उधरकी बात-चीतमें अपना समय नष्ट करते थे। फलतः जनसाधारणके लिये वे एक, पहेली मात्र बने रह गए। सभीके मनमें यह उत्कण्ठा बनी रह गई कि यह तपस्वी कौन है? कहाँसे आया है? हिमालयके स्वस्थ प्रदेशोंको छोड़कर इस अत्यन्त अस्वस्थ क्षेत्रमें यह कैसे तपस्या करता है? क्या खाता है? क्या पीता है? किस प्रकार अपना जीवन धारण करता है? किन्तु कोई इन प्रश्नोंका समाधान न कर सका और न यही जान सका कि यह तपस्वी प्रतिदिन तीन स्थानोंमें कैसे पहुँच जाता है? किस प्रकार अपनी साधना बनाए रहता है? किन्तु एक बात अवश्य थी कि उस तपस्वीके अलौकिक कार्यसे, उसके तेजस्वितापूर्ण रूपसे, उसके शान्त स्नेहमय व्यवहारसे और उसके दिव्य तपःप्रभावसे सब इतने प्रभावित हो चले कि जिसे देखो वही उसकी स्तुति गा रहा है, जिधर सुनो उधर उसकी अलौकिक लीलाओंका गुणगान हो रहा है और जिधर जाओ उधर उसके विषयमें लोग पूछ-ताछ कर रहे हैं। उसके विराट् तेजसे उस प्रदेशका वन ही नहीं, जन-समूह भी आलोकित हो उठा और चारो ओर एक विलक्षण कुतूहलपूर्ण भावनाने प्रत्येक स्त्री और पुरुषको इतना अभिभूत कर लिया कि वहाँ कोई ऐसा व्यक्ति न बचा जो उस तपस्वीकी वाणी सुननेको उत्कंठित न हो और उसके दर्शन करनेको लालायित न हो।

ये कौन हैं?

जब वे किसीसे बोलते भी नहीं थे, तो उनका नाम कोई कैसे जान सकता था। उपदेशके समय भी कोई नाम पूछनेका दुःसाहस कैसे कर सकता था? किन्तु बिना किसी प्रकारकी संज्ञा दिए भी उनका वर्णन करना सम्भव नहीं

था, इसीलिये लोगोंने उनका नाम वनखण्डोजी महाराज रख दिया क्योंकि वे निरन्तर वनखण्डमें ही रहा करते थे, किसी गाँव या बस्तीकी ओर झाँकते भी नहीं थे और उन्हीं वनोंके जल और उनकी शीतल छायासे अपनी तपस्याका निर्वाह करते थे ।

अकारण वैर

जिन सिद्ध मुनियोंने निर्जन स्थानमें ही तपस्या करनेका विधान किया था, वे भली भाँति जानते थे कि यद्यपि आत्म-चिन्तनमें लगा हुआ तपस्वी, न तो किसीका अहित करता है और न अहित करनेकी बात सोचता है, किन्तु जब समाजमें कुछ लोग 'बिनु काज दाहिने बाएँ' हो सकते हैं, अकारण, केवल कुतूहलवश, परीक्षा करनेके लिये अथवा दुष्टतावश तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये सुबाहु, मारीच और ताड़का बन सकते हैं, तो वे बिना कारण ही शत्रु भी बन बैठते हैं । हमारा सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य ऐसी सैकड़ों कथाओंसे भरा हुआ है जिनमें ऐसे अनेक दुष्ट लोगोंने अकारण ही निरीह तपस्वियोंको कष्ट भी दिया और उनकी तपस्यामें विघ्न भी डाला, इसीलिये लोक-संगति अथवा जन-सम्पर्कको तपस्वीके लिये सबसे बड़ा शूल माना गया है । वनखण्डोजी महाराजने यही समझकर उस वृक्ष-लता-गुल्म-संकुल निर्जन मोरंग वनको अपनी एकान्त तपस्याका केन्द्र बनाया, जहाँ जन-सम्पर्कसे बचे रहनेका पर्याप्त क्षेत्र था । किन्तु पाताल तोड़-कर जल निकालनेवाले, दुर्लंघ्य पर्वतको उछलकर लाँघ जानेवाले और अगाध सागरको तैरकर पार कर जानेवाले साहसी मानवके लिये इस वनमें पहुँचना कौन कठिन था ? और फिर, मनुष्य यदि सब कुछ देखकर या सुनकर मौन होकर बैठा रहे, अपनी वाणीमें लगाम लगा ले, अपनी उत्कंठा संयत कर ले, तो बहुत-सी विपत्तियाँ दूर हो सकती,

इतने पक्के थे कि अपना एक क्षण भी, नष्ट नहीं करते थे और न इधर-उधरकी बात-चीतमें अपना समय, नष्ट करते थे। फलतः जनसाधारणके लिये वे एक पहेली मात्र बने रह गए। सभीके मनमें यह उत्कण्ठा बनी रह गई कि यह तपस्वी कौन है? कहांसे आया है? हिमालयके स्वस्थ प्रदेशोंको छोड़कर इस अत्यन्त अस्वस्थ क्षेत्रमें यह कैसे तपस्या करता है? क्या खाता है? क्या पीता है? किस प्रकार अपना जीवन धारण करता है? किन्तु कोई इन प्रश्नोंका समाधान न कर सका और न यही जान सका कि यह तपस्वी प्रतिदिन तीन स्थानोंमें कैसे पहुँच जाता है? किस प्रकार अपनी साधना बनाए रहता है? किन्तु एक बात अवश्य थी कि उस तपस्वीके अलौकिक कार्यसे, उसके तेजस्वितापूर्ण रूपसे, उसके शान्त स्नेहमय व्यवहारसे और उसके दिव्य तपःप्रभावसे सब इतने प्रभावित हो चले कि जिसे देखो वही उसकी स्तुति गा रहा है, जिधर सुनो उधर उसकी अलौकिक लीलाओंका गुणगान हो रहा है और जिधर जाओ उधर उसके विषयमें लोग पूछ-ताछ कर रहे हैं। उसके विराट् तेजसे उस प्रदेशका वन ही नहीं, जन-समूह भी आलोकित हो उठा और चारों ओर एक विलक्षण कुतूहलपूर्ण भावनाने प्रत्येक स्त्री और पुरुषको इतना अभिभूत कर लिया कि वहाँ कोई ऐसा व्यक्ति न बचा जो उस तपस्वीकी वाणी सुननेको उत्कंठित न हो और उसके दर्शन करनेको लालायित न हो।

ये कौन हैं?

जब वे किसीसे बोलते भी नहीं थे, तो उनका नाम कोई कैसे जान सकता था। उपदेशके समय भी कोई नाम पूछनेका दुःसाहस कैसे कर सकता था? किन्तु बिना किसी प्रकारकी संज्ञा दिए भी उनका वर्णन करना सम्भव नहीं

था, इसीलिये लोगोंने उनका नाम वनखण्डीजी महाराज रख दिया क्योंकि वे निरन्तर वनखण्डमें ही रहा करते थे, किसी गाँव या बस्तीकी ओर झाँकते भी नहीं थे और उन्हीं वनोंके जल और उनकी शीतल छायासे अपनी तपस्याका निर्वाह करते थे ।

अकारण वैर

जिन सिद्ध मुनियोंने निर्जन स्थानमें ही तपस्या करनेका विधान किया था, वे भली भाँति जानते थे कि यद्यपि आत्म-चिन्तनमें लगा हुआ तपस्वी, न तो किसीका अहित करता है और न अहित करनेकी बात सोचता है, किन्तु जब समाजमें कुछ लोग 'बिनु काज दाहिने बाएँ' हो सकते हैं, अकारण, केवल कुतूहलवश, परीक्षा करनेके लिये अथवा दुष्टतावश तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये सुबाहु, मारीच और ताड़का बन सकते हैं, तो वे बिना कारण ही शत्रु भी बन बैठते हैं । हमारा सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य ऐसी सैकड़ों कथाओंसे भरा हुआ है जिनमें ऐसे अनेक दुष्ट लोगोंने अकारण ही निरीह तपस्वियोंको कष्ट भी दिया और उनकी तपस्यामें विघ्न भी डाला, इसीलिये लोक-संगति अथवा जन-सम्पर्कको तपस्वीके लिये सबसे बड़ा शूल माना गया है । वनखण्डीजी महाराजने यही समझकर उस वृक्ष-लता-गुल्म-संकुल निर्जन मोरंग वनको अपनी एकान्त तपस्याका केन्द्र बनाया, जहाँ जन-सम्पर्कसे बचे रहनेका पर्याप्त क्षेत्र था । किन्तु पाताल तोड़कर जल निकालनेवाले, दुर्लंघ्य पर्वतको उछलकर लाँघ जानेवाले और अगाध सागरको तैरकर पार कर जानेवाले साहसी मानवके लिये इस वनमें पहुँचना कौन कठिन था ? और फिर, मनुष्य यदि सब कुछ देखकर या सुनकर मौन होकर बैठा रहे, अपनी वाणीमें लगाम लगा ले, अपनी उत्कंठा संयत कर ले, तो बहुत-सी विपत्तियाँ दूर हो सकती हैं;

इतने पक्के थे कि अपना एक क्षण भी नष्ट नहीं करते थे और न इधर-उधरकी बात-चीतमें अपना समय नष्ट करते थे। फलतः जनसाधारणके लिये वे एक पहेली मात्र बने रह गए। सभीके मनमें यह उत्कण्ठा बनी रह गई कि यह तपस्वी कौन है? कहाँसे आया है? हिमालयके स्वस्थ प्रदेशोंको छोड़कर इस अत्यन्त अस्वस्थ क्षेत्रमें यह कैसे तपस्या करता है? क्या खाता है? क्या पीता है? किस प्रकार अपना जीवन धारण करता है? किन्तु कोई इन प्रश्नोंका समाधान न कर सका और न यही जान सका कि यह तपस्वी प्रतिदिन तीन स्थानोंमें कैसे पहुँच जाता है? किस प्रकार अपनी साधना बनाए रहता है? किन्तु एक बात अवश्य थी कि उस तपस्वीके अलौकिक कार्यसे, उसके तेजस्वितापूर्ण रूपसे, उसके शान्त स्नेहमय व्यवहारसे और उसके दिव्य तपःप्रभावसे सब इतने प्रभावित हो चले कि जिसे देखो वही उसकी स्तुति गा रहा है, जिधर सुनो उधर उसकी अलौकिक लीलाओंका गुणगान हो रहा है और जिधर जाओ उधर उसके विषयमें लोग पूछ-ताछ कर रहे हैं। उसके विराट् तेजसे उस प्रदेशका वन ही नहीं, जन-समूह भी आलोकित हो उठा और चारों ओर एक विलक्षण कुतूहलपूर्ण भावनाने प्रत्येक स्त्री और पुरुषको इतना अभिभूत कर लिया कि वहाँ कोई ऐसा व्यक्ति न बचा जो उस तपस्वीकी वाणी सुननेको उत्कंठित न हो और उसके दर्शन करनेको लालायित न हो।

ये कौन हैं?

जब वे किसीसे बोलते भी नहीं थे, तो उनका नाम कोई कैसे जान सकता था। उपदेशके समय भी कोई नाम पूछनेका दुःसाहस कैसे कर सकता था? किन्तु बिना किसी प्रकारकी संज्ञा दिए भी उनका वर्णन करना सम्भव नहीं

था, इसीलिये लोगोंने उनका नाम, वनखण्डीजी महाराज रख दिया क्योंकि वे निरन्तर वनखण्डमें ही रहा करते थे, किसी गाँव या बस्तीकी ओर झांकते भी नहीं थे और उन्हीं वनोंके जल और उनकी शीतल छायासे अपनी तपस्याका निर्वाह करते थे ।

अकारण वैर

जिन सिद्ध मुनियोंने निर्जन स्थानमें ही तपस्या करनेका विधान किया था, वे भली भाँति जानते थे कि यद्यपि आत्म-चिन्तनमें लगा हुआ तपस्वी, न तो किसीका अहित करता है और न अहित करनेकी बात सोचता है, किन्तु जब समाजमें कुछ लोग 'बिनु काज दाहिने बाएँ' हो सकते हैं, अकारण, केवल कुतूहलवश, परीक्षा करनेके लिये अथवा दुष्टतावश तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये सुबाहु, मारीच और ताड़का बन सकते हैं, तो वे बिना कारण ही शत्रु भी बन बैठते हैं । हमारा सम्पूर्ण पौराणिक साहित्य ऐसी सैकड़ों कथाओंसे भरा हुआ है जिनमें ऐसे अनेक दुष्ट लोगोंने अकारण ही निरीह तपस्वियोंको कष्ट भी दिया और उनकी तपस्यामें विघ्न भी डाला, इसीलिये लोक-संगति अथवा जन-सम्पर्कको तपस्वीके लिये सबसे बड़ा शूल माना गया है । वनखण्डीजी महाराजने यही समझकर उस वृक्ष-लता-गुल्म-संकुल निर्जन मोरंग वनको अपनी एकान्त तपस्याका केन्द्र बनाया, जहाँ जन-सम्पर्कसे बचे रहनेका पर्याप्त क्षेम था । किन्तु पाताल तोड़-कर जल निकालनेवाले, दुर्लंघ्य पर्वतको उछलकर लाँघ जानेवाले और अगाध सागरको तैरकर पार कर जानेवाले साहसी मानवके लिये इस वनमें पहुँचना कौन कठिन था ? और फिर, मनुष्य यदि सब कुछ देखकर या सुनकर मौन होकर बैठा रहे, अपनी वाणीमें लगाम लगा ले, अपनी उत्कंठा संयत कर ले, तो बहुत-सी विपत्तियाँ दूर हो सकती हैं;

किन्तु मनुष्यका कुतूहल उसके हृदयमें इतनी उतावली, हड़बड़ी और आकुलता भर देता है कि वह कोई देखी या सुनी बात मनमें रोक नहीं सकता। जहाँ दूसरा व्यक्ति मिला कि वह उसके कानमें अपना रहस्य भर देता है। हमारे यहाँ कहा भी गया है—

"षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णः स्थिरो भवेत्"

अर्थात् छः कानोंमें पड़कर मन्त्र (रहस्य) फूट जाता है, चार कानोंतक परिमित रहे तो स्थिर रहता है। इस प्रकार छः कानोंमें पहुँचकर फूटे हुए मन्त्रके समान वह बात चारों ओर फैल जाती है और कभी-कभी तो ऐसे कानोंमें पहुँच जाती है जिनका हृदय ईर्ष्याके विषसे इतना ओत-प्रोत रहता है कि दूसरोंकी मौन साधनाको अपने यशोविस्तारमें बाधक समझकर वे उससे वैर कर बैठते हैं और उसे परास्त करने, ध्वस्त करने तथा उसे समाप्त करनेके लिये वे अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं।

श्री बनखंडीजी महाराजके साथ भी यही बात हुई।

※ ※ ※

३

चतुरामठका गोसाईं जल उठा :

देखि न सकहिं पराइ विभूती।

गुणका सबसे बड़ा दोष यह होता है कि यह दुष्टोंके हृदयमें ईर्ष्या भड़काने लगता है और यह ईर्ष्याकी मात्रा उसी वेगसे, उसी परिमाणमें बढ़ने लगती है, जिस वेगसे सत्पुरुषकी कीर्ति और जिस परिमाणमें उसके गुण बढ़ते हैं। वनखण्डीजी महाराजकी अलौकिक तपस्या उस वन्य प्रदेशके लिये वैसी ही अपूर्व घटना थी जैसे लोमड़ियोंके झुण्डमें हाथीका प्रवेश। जिन लोगोंने उस महापुरुषकी दिव्य समाधि-मुद्राके दर्शन किए थे, जिन्होंने उनके सर्वजीव-समत्वका चमत्कार देखा था और जिन्होंने उनका अलौकिक असाधारण तेजस्वी रूप देखा था, उनके हृदयकी जिस सात्विक निष्ठाने श्रद्धाका रूप धारण किया, वह धीरे-धीरे भक्ति-तक पहुँच गई और उस भक्तिके

सरल आवेशमें उन्होंने वनखण्डी स्वामीजीकी आश्चर्यमयी तपस्या और वन्य जीवोंपर उनके दिव्य प्रभावको इस कौतूहलके साथ वर्णन किया कि एक कानसे दूसरे कानतक पहुँचकर यह समाचार लोक-गोष्ठीका व्यापक विषय बन गया। जिसे सुनो वही वनखण्डीजी महाराजका यश गा रहा है, जिसे देखो वही उनके दर्शनोंके लिये दौड़ा चला जा रहा है।

चतुरामठका गोसाईं

उसी मोरंग प्रदेशमें धूनी साहबसे छः कोसकी दूरीपर एक चतुरा-मठ था, जिसकी गद्दीपर एक गोसाईं साधु बैठा हुआ था।

"निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते"

निर्वृक्ष प्रदेशमें अरण्ड ही वृक्ष मान लिया जाता है। उस प्रदेशमें चतुरा-मठका गोसाईं ही साधु, सन्त, संन्यासी, महन्त, ओझा सब कुछ था। तराईके भोलेभाले किसान, जंगली लोग तथा गृहस्थ अपनी सम्पूर्ण मनोकामनाओंकी तृप्ति और आपदाओंकी निवृत्तिके लिये उन्हींकी शरण लेते थे। उनके दरबारमें नित्य भक्तोंका मेला लगा रहता था और इन दरबारियोंमें बहुतसे लोग उस गोसाईंके बड़े अनन्य शिष्य और भक्त भी थे। जब वनखण्डीजी महाराजकी तपस्याका समाचार तराईमें और तराईके बाहर भी दूर-दूरतक फैल चला, तो गोसाईंजीका दरबार ठण्डा पड़ने लगा, भीड़ छँटने लगी और लोगोंकी श्रद्धा भी इधरसे घूमकर उधर जा जमी। गोसाईंजीके भक्तोंने गोसाईंजीके कानोंमें भी बड़े नमक-मिर्चके साथ यह बात डाली कि एक बड़ा पहुँचा हुआ साधु इस वनमें तपस्या कर रहा है। इन कहनेवालोंने अपनी श्रद्धाको इतना रंग देकर कहा कि गोसाईंके मुँहका रंग बदलने लगा। उसे जान पड़ा मानो मेरा अन्न-जल उठा, मेरी जमी-जमाई दूकान उजड़ी, मेरा बैठा-बिठाया मान-सम्मान खटाईमें पड़ा।

प्रतिहिंसाकी भावना

रहीमने कहा है—

रहिमन अति सुख होत है बढत देखि निज गोत।
ज्यों बडरी अँखियाँ निरखि, आँखिनको सुख होत॥

पर यह तो सज्जनोंकी बात है। गोसाईं महाराज सच्चे साधु होते तो सुनते ही दौडे जाते, वनखण्डीजी महाराजसे भेंट करते, उनका सत्कार करते और उनसे मित्रता उत्पन्न करते। पर वे तो यह सुनते ही आगबबूला हो उठे, उनकी भवें तन गईं, उनके हृदयमें प्रतिहिंसाकी अग्नि भडक उठी। अपने क्षेत्रमें एक नए साधुके इस उत्कर्षकी बात सुनते ही वे जल भुन कर राख हो गए। उन्होंने भक्तोंसे कहा—

"यह सब ढोंग है। एक दिनमें तीन-तीन स्थानोंपर कोई कैसे तप कर सकता है? कलियुगमें कहीं योग फलता है? यह सब दृष्टिबन्ध है, इन्द्रजाल है, भोज-विद्या है, जादूगरी है।"

पर जिन्होंने अपनी आँखोंसे यह सब चमत्कार देखा था, वे इस प्रकारके तर्कको कब माननेवाले थे? वे सब अपने प्रत्यक्ष अनुभवका प्रमाण देकर गोसाईंकी वाणी कीलित करने लगे। किन्तु उसके हृदयमें तो आग धधक रही थी। अपना यह अस्त्र भी कुण्ठित होते देखकर उसने दूसरा अस्त्र उठाया। जनताके भोले-भाले हृदयमें उसने आशंका-वृत्तिको उद्दीप्त करना प्रारम्भ किया—

"थोडे दिन और उसे तपस्या करने दो, फिर देखो तुम पर क्या बीतती है! अब तुम्हारे देशमें भूकम्प, महामारी, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अग्निकाण्ड सब विपत्तियाँ एक साथ बरसनेवाली हैं। इसकी तपस्या सफल हो गई तो उस लपटसे कोई बच थोडे ही पावेगा। अबतक तो कभीका प्रलय हो चुका होता, पर यह तो कहिए कि मैं ज्यों-त्यों करके उसे

रोके खड़ा हूँ, पर मैं कबतक उसकी गति बाँधे रहूँगा ? मैं न होता तो अबतक पहाड़ फटकर बरसने लगते, जंगलोंमें आग लग जाती, पानी सूखकर पातालमें समा जाता, टिड्डियाँ खेत चर जातीं, पालेके मारे सब पशु ठण्डे हो जाते, महामारी गाँवके गाँव चट कर जाती। सन्त न होते जगतमें जल मरता संसार।"

विपत्तिकी आशंका

भोली जनताकी बँटी हुई श्रद्धा इस गम्भीर विपत्तिकी बात सुनकर फिर सिमटकर गोसाईंजीके चरणोंमें आ समाई। लोग वनखण्डीजी महाराजको भी छेड़ना नहीं चाहते थे, क्योंकि गोसाईंके मतसे भी यह तो सिद्ध हो ही गया था कि वनखण्डीजी ऐसे पहुँचे हुए सिद्ध हैं कि पल भरमें देशका देश उजाड़ सकते हैं। इसलिये लोग मनौतियाँ मानने लगे, देवी देवता पूजने लगे, बलि चढ़ाने लगे। कहीं कोई पशुपतिनाथपर मनभर दूध चढ़ा रहा है तो कोई काशीसे गंगाजल मँगवा कर रुद्राभिषेक करा रहा है, कोई जप करा रहा है तो कोई मन्त्र जगा रहा है, जिसे देखो वही डरा-डरा-सा दिखाई देता, मानो उसके सिरपर कोई विपत्ति घहराने वाली हो। धीरे धीरे सबके मनमें यह विश्वास हो चला कि यह तो गोसाईं जी ही थे जो अब-तक ठीक-ठाक चलता रहा, नहीं तो अबतक न जाने क्यासे क्या हो जाता!

व्यापक विभीषिका

महात्मा वनखण्डीजीके चमत्कारका आतंक इतने व्यापक रूपसे चारों ओर फैल चला कि नेपाल राज्यमें रहनेवाला कोई परिवार ऐसा न बचा जो उसके प्रभावसे अछूता रह गया हो। परिणाम यह हुआ कि जो भूले भी पशुपतिनाथके दर्शनको नहीं जाते थे या जो वर्षमें एक-आधा बार फूलमाला चढ़ाकर ही पुण्य लूट लेते थे, वे भी दोनों समय मन्दिरको

ड्योढ़ीपर माथा टेकने लगे। जिन मन्दिरोंमें कभी एक दीपक भी नहीं टिमटिमाता था और जिनमें कभी एक फूल-तक नहीं चढ़ पाता था, उनमें अखण्ड दीप जलाए जाने लगे, फूलोंके ढेरके ढेर बरसाए जाने लगे। संकट आया बेचारे बकरों और भैंसोंपर। गुह्येश्वरी, वज्रयोगिनी, राजमन्दिर और देवमन्दिरोंमें इतने बकरे और भैंसे चढ़े कि राज्य भरमें ढूंढ़े भी बकरे और भैंसे न मिल पाए। श्री पशुपति-नाथजीके मन्दिरमें, वाग्मतीके आसपासके देवालयमें, पाटनके प्राचीन शिवालयमें, नागार्जुन और बूढ़ा नीलकण्ठमें तथा शेषशायी विष्णु भगवान्पर भी फूल-मालाओंका अंबार चढ़ने लगा। स्थान-स्थानपर अनुष्ठान होने लगे, व्रत किए जाने लगे और चारों ओर ऐसा जान पड़ने लगा मानों भावी विपत्तिकी निश्चित सूचना पाकर सारा नेपाल सहसा जागरूक होकर आत्मकल्याण और जनकल्याणके लिये सशंक और सक्रिय हो उठा हो। साधारण ग्रामीणों और कृषकोंसे लेकर राज परिवारके लोगोंतक, सभी इतने भयभीत हो उठे मानो अत्यन्त शीघ्र कोई बड़ा विस्फोट होनेवाला हो, जिसकी कल्पना-मात्रसे सबके रोंगटे खड़े हो गए हों और जिसकी भयावनी छाया मात्रसे ही सब व्याकुल हो उठे हों। भोली-भाली नारियाँ और दुर्बल हृदयके पुरुष रातमें भयानक स्वप्न देख-देखकर चिल्लाने और बर्राने लगे। वहांके सब कर्मकाण्डी पंडित यज्ञ, पूजा, जप और हवनमें जी-जानसे जा जुटे, मानो वनखण्डीजी महाराज महाकालके दूत हों, अग्निविस्फोटके विधायक हों, भूकम्पके संचालक हों और खण्डप्रलयके अधिष्ठाता हों।

गोसाईं की धुकधुकी

इधर गोसाईं भी बाहरसे तो डींग हांकते जा रहे थे और उनकी पूजा भी इधर बढ़ चली थी, पर उनका भी जी बराबर त्रस्त होकर धुकधुक कर रहा था। वह तो कहिए

कि वनखण्डीजी महाराज कोई चमत्कार नहीं दिखला रहे थे, चुपचाप मौन होकर अपनी तपस्यामें संलग्न थे। यदि वे चमत्कार दिखाने लगें तो गोसाईंका भण्डा फूट जाय, कलई खुल जाय; यही भय दिनरात गोसाईंके मनमें समाया रहता था। प्रेताविष्ट मनुष्यको जैसे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिकी अवस्थामें भी वही रूप दिखाई पड़ता है, वैसे ही गोसाईंको भी दिन-रात, प्रातः-सन्ध्या, उठते-बैठते वही एक वनखण्डी स्वामीजी दिखाई पड़ने लगे। वे गोसाईंके लिये हौवा बन गए थे।

वैरका अंकुर

ऐसी मनःस्थितिमें गोसाईं अधिक दिन चुप कैसे रह सकता था? उधर वनखण्डीजीकी तपस्या और उनके उपदेश-कीर्तन भी कुछ कम तीव्रतासे जनताको आकृष्ट नहीं कर रहे थे। अनेक साधु और सन्तोंका भी उनके दर्शनके लिये तांता बँध चला। अब तो गोसाईंके कान खड़े हुए। उसके हृदयकी ईर्ष्या और भी भयंकर होकर उद्दीप्त हो उठी। उसने निश्चय किया कि अब चुप बैठनेसे काम नहीं चलेगा।

※ ※ ※

४

नेपाल-नरेशके कान खड़े हुए !

पर-हित-हानि लाभ जिन्ह केरे ।

उन दिनों नेपालकी दोनों राजधानियों—काठमांड (काष्ठमण्डप) और पाटन (पत्तन)—का शासन राजा महीन्द्र-सिंहके कुशल हाथोंमें था। चारों ओर जाल बिछाकर चतुरा-मठके गोसाईंने यही निश्चय किया कि महाराणाको भी प्रभावित करके अपने पक्षमें ले लिया जाय; क्योंकि उसे यह भय सदा बना हुआ था कि यदि राजपरिवार किसी भी प्रकार वनखण्डीजी महाराजकी ओर श्रद्धाकृष्ट हो गया या वनखण्डीजीकी सात्त्विक तपस्याके प्रति उनकी निष्ठा संवर्द्धित हो गई, तब सारा राजभक्त नेपाल बिना प्रयास और प्रेरणाके ही अन्धभक्त होकर वनखण्डीजीकी अखण्ड पूजा करने लगेगा। मेरा इतने दिनोंका सब प्रयास, सम्पूर्ण परिश्रम

और सारा प्रभाव क्षण भरमें अवसन्न हो जायगा। यों तो इस मोरंग तराईके शासन करनेवाले लोग बिसोलियासे कुछ पूर्व सत्संगमें ही रहते थे, उनसे भी कुछ काम निकाला ही जा सकता था; किन्तु गोसाईंने यह सोचा कि क्यों न प्रधान शासकको ही भड़काकर ऐसा उत्तेजित कर दिया जाय कि सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे; मैं भी सबका भला बना रहूँ और मेरा काम भी हो जाय। जो कुछ भी पाप-शाप पड़ना हो, सब शासकोंके मत्थे पड़े।

नेपाल-नरेशके पास

यह दुःसंकल्प करके एक दिन वह बड़े ठाट-बाटके साथ नेपालके महाराणाके राजद्वारकी ओर चल पड़ा। चतुरा-मठका गोसाईं कई बार राजसभामें आ चुका था और यों भी राणा-परिवारमें उसकी बड़ी पहुँच थी ही, इसलिये नेपालके महाराजने जब यह सुना कि चतुरा-मठके गोसाईं स्वयं पधारे हैं, तो उन्होंने बड़े आदरके साथ उनका स्वागत-सत्कार किया और विनयके साथ पूछा कि आपने यहाँ आनेका कष्ट कैसे उठाया? अपनी धूनीकी विभूतिके साथ आशीर्वाद देते हुए, राजभक्ति और लोककल्याणका भावपूर्ण रूपक देकर, गम्भीर मुद्रा और गद्‌गद् वाणीमें छल-कुशल गोसाईंने वनखण्डीजी महाराजकी तपस्याका ऐसा विद्रूप लक्षण कहना प्रारम्भ किया मानो इस समय नेपालका सबसे बड़ा शुभचिन्तक, हितैषी और कल्याणकर्ता गोसाईं ही हो।

राजभक्तिका रूपक

उसने अपनी स्वाभाविक वाणीमें अस्वाभाविक कंपन उत्पन्न करके, नेत्रोंमें कृत्रिम आंसू छलकाकर कहा—

"महाराणा! आपके राज्यपर यदि अकस्मात् बहुत बड़ी विपत्ति आनेवाली न होती, तो मैं एकान्तवासी साधु अपनी तपस्या छोड़कर यहांतक आकर आपको कष्ट न देता।"

इस पहली ही भूमिकासे महाराजके कान खड़े हो गए। उन्होंने अत्यन्त जिज्ञासापूर्ण शंकाभरी दृष्टिसे गोसाईंकी ओर देखा और त्रासपूर्ण उत्सुकतासे पूछा—

"क्या हुआ महाराज! क्या किसी बाहरी शत्रुने चढ़ाई की है? क्या हमारी प्रजामें नेवारियोंने विद्रोहके लिये षड्यन्त्र रचा है? क्या हमारे देवी-देवताओंका अपमान हुआ है? क्या साधु-सन्तोंकी तपस्यामें कोई विघ्न डाल रहा है?"

अपनी वाणीमें राजसी चाटुकारीकी मिश्री घोलते हुए गोसाईं बोला—

"यह सब कैसे हो सकता है महाराज! आपके सुव्यवस्थित शासनके आगे ऐसा कौन माईका लाल है, जो नेपालकी ओर आँख उठाकर भी देखे। आपकी उदारतापूर्ण छत्रच्छायामें प्रजा इतनी सुखी है कि वह विद्रोह करनेकी कल्पना भी नहीं कर सकती। आपके राजकर्मचारी इतने सजग हैं कि देवी-देवताओंकी अप्रतिष्ठा करनेका कोई दुःसाहस नहीं कर सकता और आपका यश इतना व्यापक है कि साधु-सन्तोंकी तपस्यामें कभी बाधा नहीं पड़ सकती; किन्तु..."

"किन्तु क्या?" कहकर महाराज निर्निमेष किन्तु जिज्ञासामयी दृष्टिसे उस गोसाईंकी ओर एक टक देखते रह गए।

किन्तु...

अपने मनकी कलुषताको अपने हृदयके अन्यतम कोनेमें बन्दी कर रखनेवाले उस चतुर गोसाईंने अपनी मुद्रासे एक क्षणके लिये भी यह नहीं जानने दिया कि वह अपनी वाणीमें पाप और असत्य घोलकर एक निरीह निश्छल तपस्वीकी अपस्तुति करनेकी क्षुद्रता दिखा रहा है। धृष्टतापूर्ण दृढ़ताके साथ वह कपट और असत्यका आवरण देकर अविरल गतिसे कहने लगा—

"इधर थोड़े दिनोंसे मोरंग-झाड़ीमें एक तान्त्रिक आया है। वह इतना बड़ा मायावी है कि कामरूप कामाक्षाके तन्त्र-सिद्धोंके समान क्षणमें यहाँ और क्षणमें वहाँ पहुँच जाता है। उसके आतंकसे आपके राज्यके सब गृहस्थ त्रस्त हो रहे हैं। केवल दूधपर रहकर वह निरन्तर इस राज्यको उलट देनेके लिये तथा यहाँकी प्रजाको ध्वस्त कर देनेके लिये अपने मन्त्र जगा रहा है। उसकी आँखोंमें कुछ ऐसा विलक्षण प्रभाव है कि देखनेवालेको आँखें झँप जाती हैं, वाणी मूक हो जाती है और हृदय धुक-धुक करने लगता है। वह निरंतर ब्राह्म मुहूर्त्तसे लेकर चार-पाँच घड़ी दिनतक भेड़िया-मठमें समाधि लगाकर बैठता है, फिर उसी साँझसे तड़के पौ फटनेसे पहलेतक तकिया-मठमें अखंड समाधि लगाता है और दिनमें धूनीसाहबमें पहुँचकर ऐसे उपदेश देता है कि सबकी जीभ बँध जाती है। बड़े-बड़े सिंह और बनैले सूअर उसके आदेशकी बाट जोहते हुए उसके चारों ओर पालतू कुत्ते और बिल्लियोंके समान बैठे रहते हैं। यदि थोड़े दिन इसी प्रकारसे वह आपके राज्यमें मन्त्र जगाता रहा, तो निश्चय है कि आपकी प्रजाको महामारी ले बीतेगी; उल्का, भूडोल तथा अग्निसे यह सम्पूर्ण राज्य तहस-नहस हो जायगा। वह विचित्र रहस्यमयी शक्तियोंसे वार्तालाप करता है, तारोंसे खेलता है, अंगारोंपर चलता है और बड़े-बड़े हाथियोंके मस्तक-पर चढ़कर दुर्गम वनोंमें एकच्छत्र, निर्भय, निरंकुश, प्रचण्ड शासक बनकर राजनियमकी अवज्ञा करके घूमता फिरता है। सैंकड़ों, सहस्रों गृहस्थ नित्य मेरे पास आकर उसकी त्रासकारिणी कथाएँ सुनाते हैं। यहाँतक सुनते हैं कि वह आधी रातको नर-बलि भी देता है। इसलिये मैंने भी अपना धर्म समझकर यह संकल्प किया कि श्रीमान्‌की सेवामें सब निवेदन कर दूँ; क्योंकि राजा ही धर्मकी, प्रजाकी और राज्यकी रक्षा करनेवाला होता है।"

राज-रोष

ज्यों-ज्यों गोसाईं कहता जाता था त्यों-त्यों नेपालके महाराणाकी भवें तनती जाती थीं, नासापुट फड़कते जाते थे और मुखमण्डलपर रक्तकी लाली चढ़ती जाती थी—

"कौन मेरे राज्यमें मेरी अवहेलना करनेका साहस कर सकता है ?"

उन्होंने अपने क्रोधावेशको दबाकर गोसाईंसे केवल इतना ही कहा—

"आपने बड़ी कृपा की जो आए। आप निश्चिन्त रहिए। मैं अभी सारी व्यवस्था ठीक किए देता हूँ। मेरे रहते इस प्रकार मेरी प्रजामें कौन आतंक फैला सकता है ?"

उन्होंने झट अपने सेनापतिको बुला भेजा। सेनापति आए। महाराणाने सारा प्रसंग उन्हें समझाकर आज्ञा दी कि मोरंग झाड़ीको चारों ओरसे घेर लो और जो भी साधु तकिया-मठ, भेड़िया-मठ या धूनीसाहबमें तपस्या करता हुआ पाया जाय उसे तत्काल यहाँ बुलवा भेजो। न आवे तो उसे पकड़ मँगाओ।

सेनापतिने कुछ सैनिकोंके साथ एक सेनानायकको महाराणाका सन्देश देकर मोरंग-झाड़ीके साधुकी खोजमें तत्काल भेज दिया।

धूर्त्तताका उल्लास

गोसाईं जब राजमन्दिरसे निकला तो उसके मुखपर धूर्त्ततासे अर्जित विजयकी प्रसन्नता चमक रही थी। वह बार-बार अपनी मूछोंपर ताव दिए चला जा रहा था मानो उसने अपने सम्पूर्ण प्रतिस्पर्धियोंको एक साथ परास्त करके अपना राज्य निष्कण्टक कर लिया हो। प्रसन्नताके मारे उसके पैर धरतीपर नहीं पड़ रहे थे। वह फूला नहीं समा रहा था। उसकी चमकती हुई आँखों और फैले हुए ओठोंसे व्यक्त होनेवाली मुस्कराहटमें उसकी छलभरी कामना-सिद्धि स्पष्ट झलक

रही थी। वह विजयोल्लासके साथ अपने आश्रमको लौट आया और उसे यह विश्वास भी हो गया कि अब मैंने दुर्ग विजय कर लिया। अब वनखण्डी साधु कितने दिनों यहाँ टिक सकेगा ?

× × ×

५

साँचको आँच कहाँ !

पारस परसि कुधातु सुहाई ।

महाराणाने देनेको तो आज्ञा दे दी, किन्तु भयके मारे उनका भी जी कम धुकधुक नहीं कर रहा था। वे इतने डर गए थे कि उन्हें भोजन-पानी भी स्वादरहित लगने लगा। उन्हें दिन-रात ऐसा जान पड़ने लगा मानो उनकी राज्य-सम्पत्ति अब जाने ही वाली हो। उन्हें बार-बार जँभाइयाँ आने लगीं, उनका जी भीतर ही भीतर कचोटने लगा, उनकी आँखोंसे नींद भाग खड़ी हुई। गोसाईंकी बातोंने उन्हें इतना संत्रस्त कर दिया था कि खाना, पीना, सोना, बैठना, सब दूभर हो गया। तनिक-सी झपकी लगते ही उन्हें तान्त्रिककी कल्पित भयावनी मूर्ति दिखाई देने लगती थी। वे इतने भयभीत हो उठे कि उन्होंने अपने मन्त्रियोंको

विशेष रूपसे आदेश दिया कि जैसे भी हो, इस तपस्वीका तप भंग किया जाय और उसे यहाँ बुलाया जाय ।

वनखण्डीजीकी खोजमें

बड़ी सांसतके पश्चात् सैनिकोंकी वह टुकड़ी वहाँ पहुँची जहाँ वनखण्डीजी महाराज अखण्ड समाधि लगाए बैठे थे। यह साहस तो किसीको न हुआ कि उनकी समाधिकी अवस्थामें उनसे छेड़-छाड़ करे, इसलिये सभी सैनिक ज्यों-त्यों करके समाधि भंग होने-तक बैठे रहे। अन्तमें जब समाधि टूटी तो वनखण्डीजी महाराजने देखा कि सामने बहुतसे सैनिक अस्त्र-शस्त्रसे लैस खड़े हुए हैं। उन्हें उसका रहस्य समझनेमें कुछ भी विलम्ब नहीं हुआ। उन्होंने अत्यन्त स्नेह और माधुर्य-भरे स्वरमें उनके नायकसे पूछा—

"कहिए आप लोगोंने कैसे कष्ट किया ?"

उनकी शीतल, मधुर, प्रभावशाली वाणी सुनकर सैनिकोंके मनका सब आक्रोश तथा क्रोध क्षण भरमें ठंडा पड़ गया। वे बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर वनखण्डीजी महाराजसे कुछ कहना ही चाहते थे कि वनखण्डीजी महाराजने उन्हें टोककर स्वयं ही सब कहना प्रारम्भ किया—

"आप लोग महाराणाकी आज्ञासे मुझे वहाँ ले चलने आए हैं न ?"

यह सुनकर तो सैनिकोंका रहा-सहा धैर्य भी नौ-दो-ग्यारह हो गया। वे माथा टेककर वनखण्डीजी महाराजके चरणोंमें जा गिरे और धरतीपर नाक रगड़कर लगे क्षमा माँगने ! किन्तु अपनी मुस्कराहटसे उस घने अँधेरे जंगलको प्रकाशमान करते हुए उन्होंने मधुर स्वरमें कहा—

"घबराओ मत ! तुम लोग चलो, मैं तुम लोगोंसे पहले ही वहाँ पहुँच जाता हूँ।"

इतना कहकर वनखण्डीजी महाराज अन्तर्धान हो गए। सैनिकोंने सिर उठाया तो देखा कि उनके स्थानपर वहाँ पड़ा

रह गया था एक मृग-चर्म और उस प्रान्तरमें थोड़ी देर तक गूँजती रही उनकी वाणी!

सैनिक लौटे

सैनिकोंने जब यह देखा तो उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। उन्होंने जो कुछ भी दूसरोंके मुखसे सुना था, वह आज प्रत्यक्ष दिखाई पड़ गया। उनकी समझमें नहीं आ रहा था कि क्या किया जाय, क्या न किया जाय? उनके मनमें यह विश्वास अचल होकर जम गया कि वनखण्डीजी जो कह गए हैं वह असत्य हो नहीं सकता। फिर भी किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर वे कुछ देर तो उसी जंगलमें उन्हें इधर-उधर खोजते रहे; किन्तु अन्तमें विवश होकर, हार मानकर वहाँसे उदास, निराश और भयभीत होकर उल्टे पाँवों लौट पड़े।

वृक्षके तले

राजधानीकी सीमापर पहुँचते ही वे देखते क्या हैं कि एक विशाल वृक्षके नीचे पद्मासन लगाए, समाधि साधे, वनखण्डीजी महाराज बैठे हुए हैं। पहले तो उन्हें अपनी आँखोंपर सहसा विश्वास न हुआ; किन्तु जब वे समीप पहुँचे तो उनके आश्चर्यकी सीमा न रही। ये कैसे यहाँ आ पहुँचे? सेनानायकने सैनिक तो वहीं खड़े कर दिए और स्वयं उसने मोरंग-झाड़ी पहुँचने, वनखण्डीजीके दर्शन करने, उनके अन्तर्धान होने और फिर राजधानीमें प्रकट होनेका सारा वृत्तान्त महाराजको आद्योपान्त जा सुनाया। महाराणाने जब साधुका यह चमत्कारपूर्ण वर्णन सुना तो उनकी आँखें खुल गईं। वे मन ही मन पछताने लगे कि चतुरा-मठके गोसाईंके बहकावेमें आकर मैंने इस अलौकिक साधुको क्यों कष्ट दिया। वे अपने मन्त्रियों और पार्षदोंको लेकर फल-फूल, आरती सजाकर वहाँ पहुँचे जहाँ वृक्षके नीचे वनखण्डीजी महाराज ध्यानमग्न विराजमान थे।

अपूर्व स्वागत

देखते-देखते सारी राजधानी वहाँ उलट पड़ी। जिसे देखो वही, नर, नारी, बाल, वृद्ध दर्शनको चला आ रहा है। जिसे जहाँ स्थान मिला, उसने- वहींसे दर्शनका सौभाग्य प्राप्त करनेका प्रयत्न किया। न जानें कितने नर भी उस दिन वानर बनकर बनखण्डीजीके दर्शनके लिये वृक्षोंपर चढ़ गए थे। उस दिन सब लोग हृदयसे चनुरा-मठके गोसाईंको कोस रहे थे। सबके हृदयमें पश्चात्ताप था, बनखण्डीजीके प्रति असामान्य श्रद्धा थी। महाराणा झट वहाँ पहुँचकर उनपर पुष्प-वर्षा करके उनके आगे समस्त सत्कारके उपादान रखकर 'त्राहि माम्' कहकर उनके चरणोंमें गिर पड़े। स्वामीजीने अपनी स्नेहशील कृपामण्डित आँखें खोलीं। दया, करुणा, उदारता, सद्भाव और अभय-दानसे भरी हुई अमृतमयी वाणीमें उन्होंने कहा—

"कहिए, मुझे किसलिये स्मरण किया था?"

महाराणाकी वाणी मूक हो गई। वे क्या बतावें, किस-लिये स्मरण किया था! फिर भी काँपते हुए हृदयमें साहस एकत्र करके उन्होंने अत्यन्त मृदु तथा विनीत स्वरमें कहा—

"मुझसे बड़ा अपराध हुआ, क्षमा कीजिएगा! आपके दिव्य चरणारविन्दकी धूलि पाकर हमारा देश पवित्र हो गया। मेरे अज्ञानके कारण जो मुझे भ्रम हो गया था उसके लिये मुझे हृदयसे बड़ा दुःख है।"

पश्चात्ताप

"श्री बनखंडीजी महाराजने अपने तपोनिष्ठ अधरोंपर वात्सल्यपूर्ण मन्द-स्मिति प्रतिष्ठित करके अत्यन्त कोमल स्वरसे कहा—

"कोई चिन्ता न कीजिए, मैं सब जानता हूँ।"

किन्तु महाराणाको अपने उस व्यवहारपर बड़ा खेद और

पश्चाताप था। इसलिये वे सिर झुकाए कहते ही जा रहे थे—

"हे दयालो ! मुझे क्षमा कीजिए। हे कृपालो ! मैं अत्यन्त ही भीरु और कपटी हूँ। मैंने गोसाइंके कहनेमें आकर आपके सद्भावमें सन्देह किया और आपको यह कष्ट देनेका गुरुतर अपराध किया। आप सर्वज्ञ हैं, देवता हैं, कृपालु हैं, शरणागतवत्सल हैं, आप मेरी क्षुद्रताको क्षमा कीजिए, मैं आपकी शरण हूँ।"

क्षमा-दान

स्वामीजीने अपना वरद हस्त उठाकर महाराणाकी पीठपर फेरा। उस समय महाराणाको ऐसा ज्ञान पडा मानो शाश्वत निर्भयता, शाश्वत शान्ति और शाश्वत कल्याणमयी विभूति एक साथ उन्हें प्राप्त हो गई हो ! उन्होंने सिर उठाया। वे देखते क्या हैं कि स्वामीजीके स्नेहार्द्र लोचनोंसे कृपा और क्षमा बरस रही है। अब महाराणाके मनमें धैर्य हुआ, उन्हें सान्त्वना मिली और उत्साहके साथ उन्होंने प्रार्थना की—

"हे सर्वशक्ति-सम्पन्न सिद्ध महाप्रभु ! आपके चरणोंकी धूलि स्पर्श करके यह राज्य, यह नगर, यहाँकी भूमि और यहाँके सब प्राणी पवित्र हो गए हैं। आपसे अत्यन्त नम्र निवेदन है कि जिस प्रकार आपने यह देश पवित्र किया है वैसे ही मेरी कुटिया पवित्र करें, उपदेश दें और मुझे अपनी शरणमें लें।"

विश्वका कल्याण ही जिनकी एकमात्र साधना थी, उन वनखण्डीजी महाराजने अत्यन्त तृप्ति, तुष्टि और प्रसन्नताके भावसे मुस्कराते हुए राणाकी ओर देखा और कहा—

"राजन् ! आजसे आप मेरे कृपापात्र हो गए। चलिए आपके स्थानपर चलता हूँ।"

षोडशोपचार पूजन

आगे-आगे वनखण्डीजी महाराज, पीछे-पीछे महाराणा,

उनके मन्त्री तथा सैनिक और उनके पीछे श्वेत पगडीवाले नरमुण्डोंका विशाल सागर राजमन्दिरकी ओर लहराता चलता हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो फिरसे इन्द्रपुरीको बसानेके लिये देवसेनाके साथ तेजस्वी स्वामिकार्तिकेय चले आ रहे हों, अथवा गंगाजीका अमित फेनिल धवल प्रवाह पीछे लिए भगीरथ चले आ रहे हों। राजभवनमें पहुँचकर महाराणा और महारानियोंने स्वामीजीका षोडशोपचार पूजन किया, उनसे दीक्षा ली और उनके पावन उपदेशोंसे अपना हृदय और मन कल्मषहीन किया। अन्तमें चलते समय स्वामीजीने वरदान दिया कि जब कभी आपपर आपत्ति आवे तो मुझे स्मरण कर लेने मात्रसे आपकी सब विपत्तियाँ दूर हो जायँगी।

निर्माल्य

इतना कहना था कि स्वामीजी सबके देखते-देखते अन्तर्धान हो गए और वहाँ शेष बच रहीं केवल उपचारकी सामग्रियाँ, जिनसे स्वामीजीका अभिनन्दन और पूजन किया गया था। सब उपस्थित लोगोंने उसी सामग्रीको निर्माल्य समझकर ग्रहण किया और अत्यन्त प्रसन्नता, निर्भयता और निश्चिन्तताके साथ सब अपने-अपने घर लौट गए। तबसे स्वामीजीके प्रति लोगोंकी श्रद्धा और भी अधिक बढ़ गई। महाराणा भी प्रतिवर्ष उनके दर्शनके लिये जाने लगे और धीरे-धीरे चतुरा-मठके गोसाईं की इस करनीसे लोग इतने रुष्ट और क्षुब्ध हो गए कि लोग उनके पास जाना तो दूर, उनका नाम लेना भी पाप समझने लगे।

❋ ❋ ❋

६

पारस पत्थर क्या होगा ?

वल्मीकश्च सुमेरु कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ।

नेपालके महाराजाने श्रीवनखण्डीजी महाराजका जो विराट् स्वागत-सत्कार किया और वनखण्डीजी महाराजने सहसा अन्तर्धान होकर जो चमत्कार दिखाया, उसकी कथा अगणित रूप धारण करके बिजलीकी भाँति चारों ओर फैल गई। सबको यह श्रद्धापूर्ण विश्वास हो गया कि हो न हो, वनखण्डी महाराज अवश्य चमत्कारी सिद्ध पुरुष हैं, आठों सिद्धियाँ, नवों निधियाँ उनकी उँगलियोंपर नाचती हैं; वे जो चाहें क्षण भरमें बना-बिगाड़ सकते हैं; जहाँ चाहें क्षण भरमें आ-जा सकते हैं; चौदहों भुवनोंमें ऐसा एक भी भुवन नहीं जहाँ उनकी पहुँच न हो और कोई ऐसा कार्य नहीं जो उनके सामर्थ्यसे बाहर हो।

लोक-हृदय और जनमानसपर इस घटनाका जो प्रभाव पड़ा वह तो पड़ा ही, पर बड़े-बड़े साधु-सन्त भी इस अलौकिक चमत्कारकी महिमाके प्रभावसे न बच सके। सद्गुरुकी खोजमें भटकनेवाले न जाने कितने साधु-सन्त उनके दर्शनके लिये दूर-दूरसे मोरंग-झाड़ीमें आने लगे। धूनीसाहबमें नित्य अच्छा-बड़ा मेला लगने लगा। जिस सत्संगकी महिमा गाते हुए तुलसीदासजी अघाते नहीं, वही सत्संग अपने सर्वाङ्ग वैभवके साथ वहाँ मूर्तिमान हो उठा।

श्री हरिदासजीकी उत्कंठा

उनका सत्संग पानेके लिये लालायित साधु-सन्तोंमें एक चर्मपोश अर्थात् मृगचर्मधारी श्रीहरिदासजी-उदासीन भी थे, जो वनखण्डीजी महाराजकी विमल कीर्त्ति सुनकर उनके दर्शनके लिये व्याकुल होकर बिना जलकी मछली बने तड़प रहे थे।

मनस्वीका निश्चय

आजकल रेल और सड़ककी सुविधाके कारण तथा जंगल कट जानेके कारण धूनीसाहब-तक पहुँचना सरल हो गया है। योगवनीसे सीधे धूनीसाहब-तकके मार्गमें दोनों ओर लहलहाते खेत देखकर आज कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि कभी इस सम्पूर्ण प्रदेशमें भयानक तथा विशाल शालका विस्तृत दुर्गम जंगल रहा होगा। उन दिनों मोरंग-प्रदेशमें प्रवेश पाना सरल न था। मार्ग इतना ऊबड़-खाबड़ और बीहड़ था कि मनुष्यसे ऊँची घासमें, झाड़-झंखाड़ोंमें, दिनमें भी मार्ग पाना सरल नहीं था। सबसे भयंकर बात तो यह थी कि उस निर्जन, निर्ग्राम मार्गमें न भोजनका ठिकाना था न जलका। शाल, शीशम और छिटपुट देवदारुके वृक्षोंके तले छाया तो मिल सकती थी, पर उनसे भूख नहीं मिट सकती थी, किन्तु जब धुनका पक्का, कर्मठ और मनस्वी व्यक्ति मनमें कोई बात ठान लेता है, तब दुर्लंघ्य पहाड़ भी दीमककी बाँबीके

समान छोटा हो जाता है; अगाध, अपार, जलसिन्धु भी छिछली तलैयाके समान सुगम्य हो जाता है और आंगनमें धरती आ समाती है—

अंगणवेदी वसुधा कुल्या जलधि: स्थली च पातालम् ।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ।।

इष्ट-दर्शन

मनमें आशाका प्रकाश लेकर और हृदयमें दर्शनका विश्वास लेकर प्रबल सात्त्विक निष्ठाके साथ हरिदासजी उदासीन उस विस्तीर्ण वनके झरनों और नदियोंको लांघते हुए अपने पपडियाए हुए ओठ, छाले पडे हुए और कण्टकविद्ध पैर लेकर वनखण्डीजी महाराजके पास पहुंच गए। वहाँ पहुँचकर उन्हें ऐसी प्रसन्नता हुई, ऐसा आह्लाद हुआ मानो सर्वज्ञानमयी ब्रह्मज्योतिका उन्हें साक्षात्कार हो गया हो, परात्पर ब्रह्मके साकार दर्शन हो गए हों और योगी लोग अपने हृदयमें जिस परमानन्दका अनुभव करते रहते हैं वह सहसा एकत्र होकर उनकी दृष्टिमें आ समाया हो। अत्यन्त गद्गद्-कण्ठ होकर, प्रेमाश्रु-भरे नयनोंसे अपना अखण्ड सात्त्विक विश्वास और स्नेह व्यक्त करते हुए, वे वनखण्डीजी महाराजके चरणोंमें दण्डके समान आ गिरे। श्रीवनखंडीजी महाराजने झट अपना जन जानकर उन्हें उठाकर गलेसे लगा लिया। तत्काल हरिदासजीको ऐसा लगा मानो उनके समस्त पिछले कर्मोंका ताप एक साथ शान्त हो गया हो, मनकी समस्त क्लेश-ग्रन्थियां एक साथ खुल पडी हों, हृदयकी समस्त विषमताएँ एक साथ बिखर पडी हों और यहाँ-तक आनेमें उन्हें जो कष्ट हुआ, वह सहसा लुप्त हो गया हो। जल और वीचिके समान, शिव और पार्वतीके समान, वाणी और अर्थके समान यह अपूर्व मिलन अविच्छेद्य, अविभाज्य और अवर्णनीय था। उस मिलनसे ऐसा जान पडा मानो अनेक जन्मोंसे

उनका सम्बन्ध रहा हो। तबसे हरिदासजी भी स्वामीजीके पास ही रहकर उनकी सेवा करने लगे।

मन सयम

इस ससर्गसे साधु हरिदासजीके मनकी सब वृतिया एक-एक करके सयत, एकाग्र और व्यवस्थित होने लगीं, मनके सम्पूर्ण सकल्प-विकल्प एक-एक करके दूर होने लगे और जैसे पारस पत्थरको छूकर लोहा अपना रग, रूप और मूल्य बदल लेता है, उसी प्रकार बनखण्डीजी महाराजके साथ रहते-रहते वे भी कुन्दन हो गए। इन्द्रका वज्र उन्हें भयभीत नहीं कर सकता था, कुबेरकी निधि उन्हें विचलित नहीं कर सकती थी।

स्पर्शमणि

एक दिन अपनी नित्य-क्रियाके पश्चात् श्री हरिदासजी उदासीन लँगोट-गगाके तटपर एक पत्थरकी चट्टानपर बैठे अपने पैर धो रहे थे। उनका लोहेका चिमटा भी साथ था। सयोगसे वहीं कहीं पारस पत्थर भी पडा हुआ था। उसका स्पर्श पाते ही लोहेके चिमटेका रग बदल गया। हरिदासजीने सोचा कि भगवान्ने मेरी मानस-परीक्षा लेनेके लिये यह रूपक रचा है। उनके लिये सोना और पारस दोनों पत्थरके टुकडेसे अधिक मूल्यवान नहीं रह गए थे, फिर भी उनके मनमें यह विचार आया कि कौन जाने आजके इस पारस पत्थर और सोनेके चिमटेसे मनमें क्या-क्या नई तृष्णाएँ जागने लगें और मेरी आज-तककी अर्जित तप सम्पत्ति और तितिक्षा भग हो जाय! उन्होंने तत्काल वह पारस पत्थर और सोनेका चिमटा, दोनोको उठाकर बडे वेगसे नदीमें फेंक दिया। छपाकके साथ दोनों पदार्थ नदीके गर्भमें विलीन हो गए और हरिदासजीका वह क्षणिक मनोमन्थन भी समाप्त हो गया। वे पुन पूर्ववत् निश्चिन्त हो गए।

प्रीतमदास

जहाँ यह घटना हो रही थी वहीं एक दूसरा साधु भी

पास ही बैठा हुआ ध्यानसे यह सब घटना देख रहा था। उसने मनमें सोचा कि यह बड़ा मूर्ख है, जो हाथ आई हुई लक्ष्मीका इस प्रकार अपमान कर रहा है। वह आगे बढ़ा और उपालम्भ-भरे स्वरमें कहने लगा—

"हे निष्काम महापुरुष! मानता हूँ आप निरीह हैं, निर्लोभ हैं, निश्चिन्त हैं; किन्तु आप यदि यह पारस पत्थर स्वयं न लेकर हम जैसे साधुओंको दे देते, तो इससे कितना लोक-कल्याण हो जाता! कुम्भ आदि पर्वोंपर न जाने कितने भिक्षुक और साधु तीर्थोंपर एकत्र होते हैं। अपने पास पारस पत्थर हो तो उन सबका कितना अच्छा स्वागत-सत्कार हो सकता, भण्डारा हो सकता और गृहस्थोंको बिना असुविधा दिए हम सबको तृप्त और तुष्ट कर सकते। इस सेवासे न जाने कितने साधु-सन्त आपका गुणगान करते, आपका नाम जपते और निश्चिन्त होकर अपनी तपस्या चलाते।"

ममत्व नहीं समत्व

मृगचर्मधारी हरिदासजी उदासीन उस साधुकी बातें सुनते ही खिलखिलाकर हँस पड़े। उन्होंने उस नये साधु प्रीतमदास (प्रियतमदास) को माया-विमुग्ध देखकर अत्यन्त, प्रेमसे समझाते हुए कहा—

"साधु! यह सारा विश्व विराट् स्वप्न है, मिथ्या है, माया है, छल है, विडम्बना है। इसके फेरमें पड़नेसे तुम्हारी ममताका कहीं अन्त नहीं होगा। यहाँ कोई पदार्थ न तो सत्य है, न स्थिर है, फिर उसे तुष्ट और तृप्त करनेके लिये इतने बड़े ममत्वसे भरा कल्याण क्यों साधना चाहते हो? यह सोनेका चिमटा और यह पारस पत्थर दोनों साधारण पत्थर और धातुके टुकड़ेके समान निर्जीव, निरर्थक और निर्मूल्य हैं। स्वामी वनखण्डीजी महाराजकी कृपा और उनके सत्संगसे मैंने ममत्वके बदले समत्वका पाठ सीखा है। यदि आप भी अपना और संसारका

कल्याण चाहते हों, तो उसी समत्वकी साधना कीजिए और वनखण्डीजी महाराजकी कृपा प्राप्त करनेके लिये शुद्ध मनसे तपस्या कीजिए। उनकी कृपा होगी तो वे आपको शीघ्र ही अपनी शरणमें ले लेंगे, आपके यह लोक और परलोक दोनो बन जावेंगे, आपका मनुष्य-शरीर धारण करना सफल हो जायगा।"

वनखण्डीजीका परिचय

प्रीतमदास भी वनखण्डीजी महाराजका नाम तो सुन ही चुके थे, पर वे नहीं जानते थे कि वनखण्डीजी महाराज कौन हैं, कहाँ निवास करते हैं और कहाँ तपस्या कर रहे हैं? प्रीतमदासजीने जब अत्यन्त नम्रता और विनय-भावसे हरिदासजीसे वनखण्डीजी महाराजका ठिकाना पूछा तो उन्होंने स्वाभाविक रूपसे समझा दिया कि वनखण्डीजी साधारणतः किसीको दिखाई नहीं देते। वे एकान्तवासी होकर भेड़िया-मठ और तकिया-मठमें समाधि लगाते हैं और दृश्यमान होकर धूनीसाहबमें साधु सन्तोंको दर्शन देते हैं, कीर्तन-भजन करते हैं और उपदेश देते हैं। पर वहाँ भी सब कोई उन-तक पहुँच नहीं सकता। बड़े भाग्यसे, बड़ी साधना और तपस्या करके, पिछले जन्मके पुण्यसे कोई-कोई पुण्यात्मा उनके भव्य दर्शन पाते हैं और उनकी दिव्य वाणी सुन पाते हैं।

सत्यनिष्ठा

प्रीतमदासजीने जब यह सब सुना तो उनके मनमें प्रबल संकल्प जाग खड़ा हुआ कि जैसे भी होगा मैं वनखण्डीजी महाराजकी कृपा अवश्य प्राप्त करूँगा। सच्चे मनसे एकाग्रचित्त होकर, अपने मनकी सब वृत्तियोंको बाँध कर, वे धूनीसाहबके पास वृक्षके नीचे बैठकर, स्वामी वनखण्डीजी महाराजका सामीप्य प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त तन्मयता और मनोयोगके साथ ध्यान तप करने लगे।

※ ※ ※

७

साँकलका साँप

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

ऋषियों-मुनियोंकी तपस्यासे, सतीके तेजसे, गो-ब्राह्मणकी आर्त्त पुकारसे, देवताओंके भी आसन डोल जाते हैं, ब्रह्माका कमल काँप उठता है, विष्णुका शेष कलमला उठता है, महादेवका कैलास झूलने लगता है और इन्द्रका सिंहासन विचलित हो उठता है। ये अदृश्य देव भी अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये, उन्हें प्रसन्न करनेके लिये, उनका कष्ट दूर करनेके लिये, उनकी आर्त्त पुकारपर नंगे पाँवों दौड़े चले आते हैं। पहले तो ये अपने भक्तोंकी नाड़ी टटोलते हैं, उनकी गम्भीर परीक्षा करते हैं, उन्हें कसौटीपर कसते हैं और यदि वे सच्चे तथा खरे उतरे, तो ये अपने भक्तोंको मुंहमांगा वर भी दे देते हैं।

कठोर तपस्या

ध्रुवने जिस लगनके साथ नारायणके लिये तपस्या की, प्रह्लादने जिस एकाग्रतासे भगवान्‌की प्रार्थना की, अम्बरीषने जिस तन्मयताके साथ विष्णुकी उपासना की, उसी भक्ति और निष्ठासे साधु प्रीतमदासजीने भी तपस्या और उपासना प्रारम्भ कर दी। तपस्या करते-करते दिनपर दिन, महीनेपर महीना, वर्षपर वर्ष निकलते चले गए, मुँह कुम्हला गया, शरीर सूखकर काँटा हो गया, पर प्रीतमदासजी अपनी धुनके पक्के थे, वे टससे मस न हुए। उन्हें पूरा विश्वास था कि वनखण्डीजी महाराज मुझपर अवश्य कृपा करेंगे।

परीक्षा

अपने भक्त प्रीतमदासकी यह बलवती निष्ठा देखकर स्वामीजीका कोमल चित्त दयासे भर गया। किन्तु वे भी परीक्षा लेना चाहते थे कि प्रीतमदासमें अन्ततक टिकनेका साहस है या नहीं। उन्होंने झट अपनी कटिमें बँधी हुई साँकल खोली। धरतीपर रखते ही वह साँकल देखते-देखते काले चितकबरे विषैले नागके रूपमें परिवर्तित हो गई। उन्होंने अपने उस मायानिर्मित साँपको कुछ संकेत किया और वह जड़से चेतन बना हुआ सर्प अपने स्वामीके संकेतके अनुसार लहराता हुआ वहाँ पहुँचा जहाँ प्रीतमदास बैठे तपस्या कर रहे थे।

सर्प-व्याधि

प्रीतमदासजीके पास पहुँचकर वह सर्प धीरे-धीरे बढ़कर उनके शरीरपर चढ गया और फिर उनके शरीरमें लिपटकर कसने लगा। उस सर्पने अपनी लपेटमें प्रीतमदासके हाथ और पाँव बाँध लिए और कण्ठमें एक फेरा देकर इस ऐंठनके साथ लिपटने लगा मानो कोई रेशमकी दृढ़ रस्सीसे शरीरको चारों ओरसे जकड़े डाल रहा हो। पर

प्रीतमदासजी निश्चल और स्थिर बैठे रहे। पल-पलपर वे यह आशका तो अवश्य करते रहे कि नागने अब डसा, अब काटा, किन्तु वे न हटे, न हिले-डुले, न चिल्लाए, और न उस सर्पको ही हटानेके लिये कुछ प्रयत्नशील हुए। जब उनके कण्ठमें भी फन्दा डालकर उस व्यालने उनकी श्वास-प्रक्रिया रोक दी, तब उन्होंने श्रीवनखण्डीजी महाराजका स्मरण करके अपनेको उनकी शरणमें समर्पित कर दिया और जीवनकी आशा छोड़कर दृढ़तासे बैठ गए। उसी क्षण वे देखते क्या हैं कि वह नाग, अपना बन्धन शिथिल कर रहा है। शरीरके जो अवयव टूटतेसे, बिखरतेसे प्रतीत होते थे वे सब यथास्थान सुस्थिर और सपुक्त लग रहे हैं। धीरे-धीरे सर्पने अपनी सब कुण्डली खोल दी और बड़े गौरव, धैर्य, शान्ति और सरलताके साथ वह प्रीतमदासजीके शरीरसे उतरकर स्वामी वनखण्डीजी महाराजके पास लौट आया।

सर्पके पीछे

प्रीतमदासकी समझमें ही न आया कि यह सब क्या माया चल रही है। क्यों और कहाँसे सर्प आया? क्यों शरीरमें लिपटा? लिपटकर भी उसने क्यों नहीं काटा? फिर क्यों पालित जीवके समान धीरेसे उतरकर निर्भीकता और निश्चिन्तताके साथ यहाँसे चला गया? हो न हो, यह कोई दैवी शक्ति है, माया है, जो मेरी अग्नि-परीक्षा ले रही है। जान पड़ता है मेरे अच्छे दिन आ रहे हैं और अब स्वामीजीका दर्शन प्राप्त होनेमें विलम्ब नहीं है। जैसे गौतम बुद्धको सहसा बुद्धत्व प्राप्त हो गया था, वैसे ही सहसा उनके मनमें भी यह प्रेरणा हुई कि यह सर्प मुझे गुरु-मार्ग बताने आया था। वे आसन छोड़कर उठ खड़े हुए और जिस मार्गसे सर्प गया था, उधर ही उसके पीछे-पीछे चलने

लगे। चलते-चलते उन्होंने देखा कि साँप आँखस ओझल हो गया है और उसके बदले एक ग्वाला हाथमे लकुटिया लिए उसीपर अपने दोनों हाथ और ठुड्डी टेके हुए मार्गमें खडा है। प्रीतमदासको बडा कुतूहल हुआ। उन्होंने बड़े कातर स्वरमें ग्वालेसे पूछा—

'क्यो भाई! तुमने कहीं वनखण्डीजी महाराजको देखा है।"

उसने अत्यन्त निश्चिन्तता, दृढता और विश्वासके साथ कहा—

"क्यों नहीं? वे यहीं तो रहते हैं।"

ग्वालेकी यह आश्चर्यमयी वाणी सुनकर प्रीतमदासने फिर उसी अनुरोधसे पूछा—

'वे कहाँ मिलेंगे?"

ग्वालेने कहा—

"खडे रहिए, अभी यहीं मिल जाते हैं।"

किंकर्त्तव्य विमूढ

यह कहते ही ग्वाला अन्तर्धान हो गया। प्रीतमदासजी ठक होकर, किंकर्त्तव्य-विमूढकी भाँति वहीं ज्योंके त्यों खडे रह गए। उनकी समझमें ही नहीं आया कि यह सब क्या लीला हो रही है! मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? किससे पूछूँ? आशा और निराशाकी पेंगोंपर झूलता हुआ उनका मन उल्लास और विषादका साथ-साथ अनुभव करने लगा। वे यही नहीं समझ पा रहे थे कि मैं अपनी साधनामें सफल हुआ हूँ या असफल, मुझे स्वामीजीके दर्शन मिलेंगे या नहीं, मैं उनकी सेवाके योग्य हूँ भी या नहीं।

ब्राह्मणसे भेंट

निर्जन वनमें आप कहाँ भटक आए हैं ? मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?"

प्रीतमदासजीको अपने इष्टदेवके दर्शनकी ही तो एक धुन थी, वही एक लगन थी। उन्होंने सात्त्विक भावनासे कहा—

"मैं वनखण्डीजी महाराजके दर्शन करना चाहता हूँ, उन्हींको ढूँढ़ता हुआ इस वनमें आ पहुँचा हूँ और जबतक उनके चरणोंके दर्शन नहीं कर लूँगा तबतक इसी प्रकार ढूँढ़ता रहूँगा।"

ब्राह्मणने हँसकर कहा—

"स्वामीजी ये क्या सामने बैठे हैं !"

प्रीतमदासने जो उधर दृष्टि घुमाई तो क्या देखते हैं कि साक्षात् ब्रह्म-ज्योति-सी जाज्वल्यमान एक अद्‌भुत् कान्तिपुंज-सी प्रदीप्त, दिव्य तपोमयी देवमूर्ति समाधिस्थ होकर सम्मुख बैठी है और ब्राह्मण लुप्त हो गया है। प्रीतमदासकी आँखोंसे प्रेम और भक्तिके आँसू छलछला पड़े। भावाविष्ट होकर वे दण्डके समान त्राहिमाम्-त्राहिमाम् कहते हुए उस दिव्य मूर्तिके सामने लेट गए।

※　　※　　※

लगे। चलते-चलते उन्होंने देखा कि साँप आँखसे ओझल हो गया है और उसके बदले एक ग्वाला हाथमें लकुटिया लिए उसीपर अपने दोनों हाथ और ठुड्डी टेके हुए मार्गमें खड़ा है। प्रीतमदासको बड़ा कुतूहल हुआ। उन्होंने बड़े कातर स्वरमें ग्वालेसे पूछा—

"क्यों भाई! तुमने कहीं वनखण्डीजी महाराजको देखा है।"

उसने अत्यन्त निश्चिन्तता, दृढ़ता और विश्वासके साथ कहा—

"क्यों नहीं? वे यहीं तो रहते हैं।"

ग्वालेकी यह आश्चर्यमयी वाणी सुनकर प्रीतमदासने फिर उसी अनुरोधसे पूछा—

"वे कहाँ मिलेंगे?"

ग्वालेने कहा—

"खड़े रहिए, अभी यहीं मिल जाते हैं।"

किंकर्त्तव्य-विमूढ

यह कहते ही ग्वाला अन्तर्धान हो गया। प्रीतमदासजी ठक होकर, किंकर्त्तव्य-विमूढकी भाँति वहीं ज्योंके त्यों खड़े रह गए। उनकी समझमें ही नहीं आया कि यह सब क्या लीला हो रही है! मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? किससे पूछूँ? आशा और निराशाकी पेंगोंपर झूलता हुआ उनका मन उल्लास और विषादका साथ-साथ अनुभव करने लगा। वे यही नहीं समझ पा रहे थे कि मैं अपनी साधनामें सफल हुआ हूँ या असफल, मुझे स्वामीजीके दर्शन मिलेंगे या नहीं, मैं उनकी सेवाके योग्य हूँ भी या नहीं।

ब्राह्मणसे भेंट

इतनेमें ही उन्होंने देखा कि एक ब्राह्मण उधर चला आ रहा है। उस ब्राह्मणने प्रीतमदासजीको दंड-प्रणाम करके पूछा—

"कहिए महाराज! वन्य जीवोंसे निरन्तर सेवित इस घोर

निर्जन वनमें आप कहाँ भटक आए हैं ? मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?"

प्रीतमदासजीको अपने इष्टदेवके दर्शनकी ही तो एक धुन थी, वही एक लगन थी । उन्होंने सात्त्विक भावनासे कहा—

"मैं वनखण्डीजी महाराजके दर्शन करना चाहता हूँ, उन्हींको ढूँढ़ता हुआ इस वनमें आ पहुँचा हूँ और जबतक उनके चरणोंके दर्शन नहीं कर लूँगा तबतक इसी प्रकार ढूँढता रहूँगा ।"

ब्राह्मणने हँसकर कहा—

"स्वामीजी वे क्या सामने बैठे हैं !"

प्रीतमदासने जो उधर दृष्टि घुमाई तो क्या देखते हैं कि साक्षात् ब्रह्म-ज्योति-सी जाज्वल्यमान एक अद्भुत् कान्तिपुंज-सी प्रदीप्त, दिव्य तपोमयी देवमूर्ति समाधिस्थ होकर सम्मुख बैठी है और ब्राह्मण लुप्त हो गया है । प्रीतमदासकी आँखोंसे प्रेम और भक्तिके आँसू छलछला पड़े । भावाविष्ट होकर वे दण्डके समान त्राहिमाम्-त्राहिमाम् कहते हुए उस दिव्य मूर्तिके सामने लेट गए ।

ः ः ः

८

आओ प्रीतमदास !

संघे शक्तिः कलौ युगे ।

प्रीतमदासजीने जिस समय वनखंडीजीके दर्शन किए उस समय वे ध्यानमग्न होकर परमतत्त्वकी आराधना कर रहे थे। उन्होंने समाधि तोड़ी और अपने उत्फुल्ल कमलके समान विशाल नेत्र खोले तो देखा कि एक साधु सामने दण्डवत् पड़ा हुआ है। वे तो सब रहस्य जानते ही थे। उन्होंने मृदु गम्भीर स्वरमें अत्यन्त आत्मीयताके साथ सम्बोधन किया—

"आओ प्रीतमदास।"

पर उस समयतक भक्त साधु प्रीतमदासजीके नेत्र झरने बन चुके थे, गला भर आया था। फिर भी ज्यों-त्यों करके भक्ति-विह्वल वाणीसे हिचकियोंमें उन्होंने कहा—

"हे परम पूजनीय ! आर्त-दुःखभंजन ! दीनबन्धु ! परम

तपस्वी ! करुणानिधान महाराज ! आपके दर्शन करके मैंने जीवनके सब तत्त्व प्राप्त कर लिए हैं। मेरी सारी आकांक्षाएँ, सब अभिलाषाएँ, संपूर्ण वांछनाएँ तृप्त हो गई हैं। मेरा मनुष्य शरीर धारण करना सफल हो गया है। मेरी सब मन.कामनाएँ पूर्ण हो गई हैं। मैं आपकी शरण हूँ। मुझे अपने चरणोंमें शरण दीजिए और यह वरदान दीजिए कि जन्म-जन्मान्तरमें भी मैं आपका अनुचर बना रहूँ।"

आओ वत्स

जैसे प्रेमविह्वल भक्तको देखकर भगवान् भी गद्गद् हो जाते हैं उसी प्रकार स्वामीजी भी प्रीतमदासकी यह अनन्य भक्ति देखकर स्नेहाविष्ट हो गए और अपना आसन छोड़कर झट प्रीतमदासके पास पहुँचे और उठकर उन्हें अपने गलेसे लगाकर अत्यन्त ममत्वके साथ बोले—

"आओ वत्स प्रीतमदास ! हम तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हैं। तुम जो माँगो वही तुम्हें प्रदान करेंगे।"

प्रीतमदासजीकी हिचकियाँ अभी बन्द नहीं हो पाई थीं। उन्होंने उसी प्रकार अवरुद्ध गलेसे कहा—

"दयानिधान ! आपका दर्शन हो जानेपर कौन-सी इच्छा बची रह सकती है ? बस मेरी यही प्रार्थना है कि आप मुझे अपने चरणकमलोंमें स्थान दें और सेवा करनेकी आज्ञा दें। आजसे आप ही मेरे माता-पिता-गुरु सभी कुछ हैं।"

स्वामीजीने तथास्तु कहकर उन्हें अपनी शरणमें ले लिया। उस दिनसे प्रीतमदासजी उनके अनन्य शिष्य और सेवककी भाँति छाया बनकर निरन्तर स्वामीजीके पास रहकर उनकी सेवा करने लगे।

सत्संगका प्रसाद

प्रीतमदासने स्वामीजीके विषयमें जो सुना था उससे कहीं अधिक सिद्ध उन्हें पाया। अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, कामावसायिता नामकी आठों सिद्धियाँ हस्तामलकवत् उनकी मुट्ठीमें थीं। सबसे आश्चर्यकी बात तो यह थी कि लोकप्रसिद्ध सिद्ध गोरखनाथजी प्रत्येक एकादशीके दिन स्वामीजीके पास आकर गोष्ठी किया करते थे। इस गोष्ठीका तत्त्वोपदेश सुननेका सौभाग्य केवल प्रीतमदासको ही मिला और यही प्रीतमदासके जीवनमें सत्संगका सबसे बड़ा प्रसाद था।

सेवाकी भावना

जब इस प्रकार आदरपूर्ण सेवा करते हुए पाँच वर्ष बीत गए तब एक दिन प्रीतमदासजीने स्वामीजीसे कहा—

"भगवन्! अपना उद्धार तो सब ऋषि, मुनि, सन्त करते ही हैं और आपकी कृपासे मुझे अपने उद्धारकी चिन्ता भी नहीं; क्योंकि आपकी दयासे न तो वह मेरे लिये दुर्लभ ही रह गया और न मुझे उसकी चिन्ता ही रह गई है; फिर भी मेरी यह प्रबल इच्छा है कि मैं उदासीन साधुओंको संघटित करके लोककल्याण और विश्वकल्याणका मार्ग प्रशस्त करूँ। इससे मैं अपने उदासीन सम्प्रदायका भी यश अभिवर्द्धित कर सकूँगा और इसके आदर्शसे सब साधुओंको भी सुख और शान्ति प्राप्त होगी।"

प्रोत्साहन

अपने शिष्य प्रीतमदासकी यह लोकमंगल-भावना सुनकर स्वामीजीको अपार हर्ष हुआ। वे प्रसन्न होकर उत्साहित करते हुए बोले—

"तुम्हारा विचार तो अत्यन्त स्तुत्य है; किन्तु लोकसेवाका

पथ बड़ा दुर्गम होता है। उसमें क्षण-क्षण विचलित होनेकी सम्भावना रहती है। अतः जो भी कुछ करो वह निष्काम भावसे, निर्लिप्त, अनासक्त तथा निरीह होकर करो। तभी लोकमंगलके कार्य उचित और सफल होंगे। इसके अतिरिक्त अच्छे काममें भी यदि फलकी आशा बाँधकर प्रवृत्ति की जाय, तो उससे न अपनेको ही सन्तोष मिलता है और न दूसरोंको ही; क्योंकि पग-पगपर फलकी अप्राप्तिसे दुःख और अर्धप्राप्तिसे असन्तोष प्राप्त होता है। तुम्हारा संकल्प अत्यन्त पवित्र है और यह संकल्प तभी पूर्ण होगा जब तुम मन लगाकर शुद्ध और निष्काम भावसे साधुओंका संघटन करोगे।"

विभूति

यह कर उन्होंने झट अपनी धूनीसे विभूति उठाई और उसे प्रीतमदासके मस्तकपर लगाकर, अपने वरद हस्तसे उनकी जटा बाँधकर, उन्हें मंगलमय आशीर्वाद देकर विदा करते हुए कहा—

"लो! यह धूनीकी विभूति लेते जाओ। सदा इसे मस्तक-पर लगाते रहना और इसकी पूजा करते रहना। तुम्हारा कल्याण होगा।"

यह विभूतिका गोला आजतक अखाड़ेमें गोलासाहबके नामसे पूजा जाता है।

अखाड़ोंकी स्थापना

उसी दिन सद्‌गुरु वनखण्डीजी महाराजका आशीर्वाद और वरदान पाकर प्रीतमदासजी साधु-संघटनका पुनीत व्रत लेकर चल पड़े। उन्होंने बड़े परिश्रमसे सम्पूर्ण भारतमें घूम-घूमकर प्रयाग, हरिद्वार, नासिक, उज्जैन आदि तीर्थोंमें उदासीन साधुओंके ऐसे अखाड़े स्थापित किए, जहाँ आजतक उदासीन साधु अपने सम्प्रदायके आचार-विचारका पालन करते हुए ईश्वराराधन करते हैं।

१

शालके वृक्षमें आम

कछू न दुर्लभ साधु कहें।

साधु प्रीतमदासके चले जानेपर कुछ दिनोंतक स्वामी वनखण्डीजी महाराज अकेले ही अपनी तपश्चर्या चलाते रहे। थोड़े दिनों पश्चात् दो विरक्त महापुरुष सांसारिक ममताका त्याग करके जितेन्द्रिय होकर तपस्या को साध लेकर घूमते-घामते स्वामीजीकी सेवामें आ पहुँचे और जिस प्रकार प्रीतमदासजीने अपनी अनन्य श्रद्धा तथा भक्तिसे उन्हें प्रसन्न कर लिया था, उसी प्रकार इन दोनों साधुओंने भी भक्तिसे स्वामीजीकी कृपा प्राप्त कर ली और वे धूनीसाहबमें रहकर उनकी सेवा करने लगे। साधुकी सेवा ही क्या, और फिर वनखण्डीजी महाराज जैसे साधुकी ? फिर भी उन्होंने उन दोनोंको जौरा-भौरा

नाम देकर उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित कर लिया और अपना शिष्य बना लिया।

द्वारपाल

चतुरा-मठका गोसाईं पहलेसे ही जला-भुना बैठा था और जबसे नेपालके महाराणाने वनखण्डीजीका स्वागत-सत्कार किया, तबसे तो उसकी ईर्ष्याग्नि और भी तीव्र होकर भभक उठी थी। वह दिन-रात ऐसे उपाय सोचता रहता था जिससे वनखण्डीजीकी तपस्यामें विघ्न पड़े, उनका असम्मान हो और उन्हें कष्ट हो। इसीलिये गोसाईं कभी-कभी उनकी समाधिमें विघ्न डालनेके लिये कुछ न कुछ उपद्रव करता ही रहता था। जौरा-भौराके आनेसे इन उपद्रवोंमें बहुत कमी हो चली; क्योंकि जौरा-भौरा निरन्तर वनखंडीजीकी देख-रेख करते रहते थे जब ये कुटियामें समाधि लगाकर बैठते थे, तब ये दोनो नन्दी-भृङ्गीके समान द्वारपाल बनकर उनकी रक्षा भी करते थे; क्योकि वे जानते ही थे कि यदि समाधिमें किसी प्रकारकी बाधा पड़ी तो स्वामीजीके शरीरपर संकट आ सकता है।

आम खानेकी इच्छा—

जौरा-भौरा यह अंगरक्षकका कार्य तो करते ही थे, साथ ही वे मन लगाकर अत्यन्त आत्मीयता और एकाग्रताके साथ कुटिया बुहारना, धोना, लीपना और वनसे फलफूल लानेका कार्य भी करते रहते थे। एक दिन दैवयोगसे जौरा-भौराके मनमें न जाने कैसे यह इच्छा जागरित हुई कि आम खाया जाय। यद्यपि वसन्त बीत चुका था और गर्मी आ गई थी, किन्तु तराईके जंगलोंने अपने बड़े-बड़े पत्तोंवाले वृक्षोंसे इतनी घनी छाया और ठंडक फैला रक्खी थी कि उस प्रदेशमें गर्मी झांक

भी नहीं पा रहो थी। वे ही आम पकनेके दिन भी होते हैं इसलिये स्वाभाविक रूपसे उनका मन आमके लिये लालायित हो उठा। जौरा-भौरा अपने मनकी कोई भी बात अपने गुरुजीसे छिपाते नहीं थे, इसलिये उन्होंने अत्यन्त नम्रता और विनयके साथ अपनी यह दुर्बलता स्वामीजीके सम्मुख प्रकट कर दी। स्वामीजीने अत्यन्त निरपेक्ष तथा स्वाभाविक ढंगसे कहा—

आम खानेकी इच्छा हुई है तो "यहाँसे थोड़ी दूरपर चतुरा-मठका हराभरा विस्तीर्ण उद्यान है। वहाँके गोसाईंसे आज्ञा लेकर उनसे आम प्राप्त कर लो।"

यह सुनते ही वे दोनों ढूंढ़ते-ढांढ़ते चतुरा-मठके गोसाईंके पास जा पहुँचे।

गोसाईं तो उन्हें पहचानता ही था। पहले तो उन्हें देखते ही उसका जी जल उठा, किन्तु फिर अपने मनके भावोंको किसी किसी प्रकार दबाता हुआ, बगुलाभगत बनकर वह अत्यन्त मधुर शब्दोंमें कुशलमंगल पूछकर कहने लगा—

"कहिए, आप लोगोंने कैसे कष्ट किया ?"

इन दोनों निरीह साधुओंने उसके मनका कपट तो तनिक भी नहीं समझा। इसीलिये उन्होंने चुपचाप सभी बातें धीरेसे कह डालीं और यह बता दिया कि हम केवल आम खाने आए हैं। अब तो चतुरा-मठका गोसाईं सिंह बन गया। उसने अत्यन्त तीखे व्यंग्य वचनोंसे आहत करते हुए कहा—

"क्यों जी ! आप लोगोंके गुरुजी तो त्रिकालज्ञ हैं, परम शक्तिमान हैं ! क्या उनमें इतनी शक्ति भी नहीं कि चार आम भी मँगा लें ? इसी विरतेपर, सिद्ध बनने चले हैं ? उनमें सिद्धि हो, तो मँगावें न आम।"

दोनों लौटे

दोनों साधुओंने अपने गुरुकी यह निन्दा सुनी तो कानपर

हाथ, रखकर चुपचाप लौट आए; क्योंकि साधुका लक्षण ही यह है कि दुष्टोंकी बातका प्रत्युत्तर न दे, गुरुकी निन्दा न सुने, और जो अपने साथ अपकार करे उसके साथ भी उपकार करता रहे। तुलसीदासजीने कहा है—

तुलसी संत सुअब तरु, फूलि फलहिं परहेत।
इतते ये पाहन हनत, उततें वे फल देत॥

शालपर आम

जौरा-भौराको उदास मुद्रामें लौटते देखकर स्वामीजी पहचान गए कि इन लोगोंकी मनःकामना सिद्ध नहीं हुई और ये लोग निराश होकर लौट आए हैं। दोनों शिष्योंने वहाँका सारा वृत्तान्त विस्तारसे स्वामीजीको समझा दिया। वनखण्डीजी महाराज बोले—

"सिद्ध लोग चमत्कार दिखानेमें अपनी तपस्या नष्ट नहीं करते। फिर भी मैं तुम्हें आम तो खिलाऊँगा ही। लो मेरा यह चिमटा! इस शालके जंगलमें जिस पेड़से यह चिमटा छू जायगा वही आमका वृक्ष हो जायगा और उसमें तुम्हें फल भी लगे हुए मिल जायँगे।"

यह बात सुनकर तो उन दोनों शिष्योंको बड़ा कुतूहल हुआ। अब वे आम खानेसे अधिक चमत्कार देखना चाहते थे। वे झट पास खड़े हुए शालके लम्बे वृक्षोंके नीचे पहुँचे और ज्यों ही उन्होंने स्वामीजीका चिमटा दो-चार वृक्षोंके तनोंपर ठोका, तो देखते-देखते शालके बड़े-बड़े चौड़े-चौड़े पत्ते सिकुड़ और सिमिटकर आमके छोटे लम्बे पत्ते बन गए और उनके छोरोंपर रसभरे पीले-पीले बड़े-बड़े आमके फल लटक आए। जौरा-भौराकी बाछें खिल गईं। उन्होंने थोड़ेसे फल तोड़े और गुरुजीके आगे लाकर रख दिए। गुरुजीने आखोंसे देखा, हाथोंसे छू दिया और दोनों शिष्योंसे कहा कि अब इन वृक्षोंसे तुम्हें

भी नहीं पा रही थी । वे ही आम पकनेके दिन भी होते हैं इसलिये स्वाभाविक रूपसे उनका मन आमके लिये लालायित हो उठा । जौरा-भौरा अपने मनकी कोई भी बात अपने गुरुजीसे छिपाते नहीं थे, इसलिये उन्होंने अत्यन्त नम्रता और विनयके साथ अपनी यह दुर्बलता स्वामीजीके सम्मुख प्रकट कर दी । स्वामीजीने अत्यन्त निरपेक्ष तथा स्वाभाविक ढंगसे कहा—

आम खानेकी इच्छा हुई है तो "यहाँसे थोड़ी दूरपर चतुरा-मठका हराभरा विस्तीर्ण उद्यान है । वहाँके गोसाईंसे आज्ञा लेकर उनसे आम प्राप्त कर लो ।"

यह सुनते ही वे दोनों ढूंढ़ते-ढाँढ़ते चतुरा-मठके गोसाईंके पास जा पहुँचे ।

गोसाईं तो उन्हें पहचानता ही था । पहले तो उन्हें देखते ही उसका जी जल उठा, किन्तु फिर अपने मनके भावोंको किसी किसी प्रकार दबाता हुआ, बगुलाभगत बनकर वह अत्यन्त मधुर शब्दोंमें कुशलमंगल पूछकर कहने लगा—

"कहिए, आप लोगोंने कैसे कष्ट किया ?"

इन दोनों निरीह साधुओंने उसके मनका कपट तो तनिक भी नहीं समझा । इसीलिये उन्होंने चुपचाप सभी बातें धीरेसे कह डालीं और यह बता दिया कि हम केवल आम खाने आए हैं । अब तो चतुरा-मठका गोसाईं सिंह बन गया । उसने अत्यन्त तीखे व्यंग्य वचनोंसे आहत करते हुए कहा—

"क्यों जी ! आप लोगोंके गुरुजी तो त्रिकालज्ञ हैं, परम शक्तिमान हैं ! क्या उनमें इतनी शक्ति भी नहीं कि चार आम भी मँगा लें ? इसी बिरतेपर, सिद्ध बनने चले हैं ? उनमें सिद्धि हो, तो मँगावें न आम ।"

दोनों लौटे

दोनों साधुओंने अपने गुरुकी यह निन्दा सुनी तो कानपर

हाथ, रखकर चुपचाप लौट आए; क्योंकि साधुका लक्षण ही यह है कि दुष्टोंकी बातका प्रत्युत्तर न दे, गुरुकी निन्दा न सुने, और जो अपने साथ अपकार करे उसके साथ भी उपकार करता रहे। तुलसीदासजीने कहा है—

तुलसी संत सुअंब तरु, फूलि फलहिं परहेत।
इतते ये पाहन हनत, उतते वे फल देत॥

शालपर आम

जौरा-भौराको उदास मुद्रामें लौटते देखकर स्वामीजी पहचान गए कि इन लोगोंकी मनःकामना सिद्ध नहीं हुई और ये लोग निराश होकर लौट आए हैं। दोनों शिष्योंने वहांका सारा वृत्तान्त विस्तारसे स्वामीजीको समझा दिया। वनखण्डीजी महाराज बोले—

"सिद्ध लोग चमत्कार दिखानेमें अपनी तपस्या नष्ट नहीं करते। फिर भी मैं तुम्हें आम तो खिलाऊँगा ही। लो मेरा यह चिमटा! इस शालके जंगलमें जिस पेड़से यह चिमटा छू जायगा वही आमका वृक्ष हो जायगा और उसमें तुम्हें फल भी लगे हुए मिल जायँगे।"

यह बात सुनकर तो उन दोनों शिष्योंको बड़ा कुतूहल हुआ। अब वे आम खानेसे अधिक चमत्कार देखना चाहते थे। वे झट पास खड़े हुए शालके लम्बे वृक्षोंके नीचे पहुँचे और ज्यों ही उन्होंने स्वामीजीका चिमटा दो-चार वृक्षों-के तनोंपर ठोका, तो देखते-देखते शालके बड़े-बड़े चौड़े-चौड़े पत्ते सिकुड़ और सिमिटकर आमके छोटे लम्बे पत्ते बन गए और उनके छोरोंपर रसभरे पीले-पीले बड़े-बड़े आमके फल लटक आए। जौरा-भौराकी बाछें खिल गईं। उन्होंने थोड़ेसे फल तोड़े और गुरुजीके आगे लाकर रख दिए। गुरुजीने आंखोंसे देखा, हाथोंसे छू दिया और दोनों शिष्योंसे कहा कि अब इन वृक्षोंसे

निरन्तर आपके फल मिलते रहेंगे। अब तो ये दोनों शिष्य नित्य गुरुजीके लिये फल लाने रहे और तृप्ति-भर सेवन करते रहे।

* * *

१०

अग्नि-समाधि

मिलत एक दारुन दुख देही।

जबसे चतुरा-मठके गोसाईंने जौरा-भौराके साथ यह व्यवहार किया और जब उसे यह ज्ञात हुआ कि स्वामीजीके प्रभावसे शालके पेड़ बदलकर आमके पेड़ हो गए हैं तबसे तो उसके पेटकी बाईं फूलने लगी और यह ऐसे कुचक्रकी चिन्तामें लगा जो शीघ्रही उसके मार्गसे इस कण्टकको दूर कर दे। अब उसने पश्चात्ताप और आत्म-ग्लानिका एक नया रूपक प्रारम्भ कर दिया और धीरे-धीरे जौरा-भौराके सम्मुख वनखण्डीजी महाराजकी धुआंधार प्रशंसा करके उनका प्रियपात्र बननेका प्रयत्न करने लगा।

नवीन जाल

इस नई मायाको सिद्ध करने लगे वह जब-तब वनखंडीजी

महाराजसे मिलने-जुलने आने लगा और जब वनखण्डीजी महाराज समाधि लगाए कुटियाके भीतर बैठे रहे तब तो वह निश्चय-पूर्वक ही वहां जा पहुँचता था। समाधिके समय जौरा-भौरा दोनों द्वारपर अगरक्षक बनकर उनकी देखभाल करते रहते थे, इसलिये उसी समय गोसाईं वहाँ पहुँचकर समाधि-मग्न स्वामीजीके आगे बिलाई दण्डवत करके वहाँ बैठ जाया करता था और पूछनेपर बताता था कि मैं तो यों ही स्वामीजीका दर्शन करने चला आया हूँ । इसी प्रकार जब कई बार वह समाधिके समय आकर बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ दण्ड-प्रणाम करता रहा तो जौरा-भौराको भी यह विश्वास हो गया कि गोसाईं वास्तवमें सन्त हैं और यह किसीका अनिष्ट नहीं सोच सकता।

लम्बी समाधिकी सूचना

एक बार स्वामी वनखण्डीजी महाराजने भेड़िया-मठमें रहते हुए जौरा-भौरासे कहा—

"देखो ! मैं अपने प्राण ब्रह्माण्डके दशम द्वारमें चढ़ाकर दस दिनतक समाधि लगाकर बैठता हूँ। देखनेमें ऐसा जान पड़ेगा कि मेरे शरीरमें प्राण नहीं हैं; किन्तु दस दिनके पश्चात् मैं स्वयं समाधिसे जाग उठूँगा। इस अवधिमें तुम लोग सावधानीसे कुटियाकी देखभाल करना और किसी प्रकारकी शंका न करना । मेरे लिये इस प्रकारकी साधना कोई नई बात नहीं है । न जाने कितनी बार मैं इस प्रकार दीर्घकालिक अखंड समाधि लगा चुका हूँ।"

कुचक्रका अवसर

दोनो साधुओंके लिये ऐसी लम्बी समाधि सचमुच आश्चर्यकी बात थी । स्वामीजी समाधि लगाकर बैठ गए और वे दोनो भी वहीं प्रहरी बनकर समाधि टूटनेकी प्रतीक्षा करने लगे । दस दिनकी समाधिका

समाचार शीघ्र ही चारों ओर फैल गया । चतुरा-मठके गोसाईंको भी किसीने यह समाचार दे दिया कि वनखण्डीजी कई दिनसे समाधि लगाए बैठे हैं। यह सुनते ही चतुरा-मठके गोसाईंकी आँखें चमक उठीं, पाशविकता उसके मुखपर छा गई और वह तत्काल कूट संकल्पके साथ भेड़ियामठके लिये चल पड़ा । वहाँ जाकर उसने देखा कि भीतर वनखण्डीजी महाराज समाधि लगाए बैठे हैं और बाहर दोनों शिष्य जलपान कर रहे हैं । दोनों साधुओंसे आत्मीयता तो गोसाईंने बढ़ा ही ली थी, इसलिये उनमेंसे किसीको भी उसपर किसी प्रकारका सन्देह कैसे हो सकता . था ? वह भीतर गया, दंड-प्रणाम किया । उसके पश्चात् उसने वनखण्डी-महाराजजीकी नाड़ी देखी, उनके हृदयपर हाथ रक्खा और फिर अत्यन्त घबराहट, भय, आशंका और इष्ट-हानिकी ममताका रूपक बाँधकर दोनों शिष्योंके पास आकर भयार्त्त स्वरमें कहने लगा—

"अरे ! तुम लोग यहाँ बैठे क्या हो ? गुरुजीका तो अवसान हो गया है ! ऐसे समय तुम्हें भोजनको सूझ रही है ! आओ दौड़कर, देखो तो !"

विनाशकाले विपरीत-बुद्धिः

यद्यपि वनखण्डीजी अपनी समाधिके विषयमें सब कुछ पहले ही बता चुके थे; किन्तु "विनाशकाले विपरीत बुद्धिः" वाली कहावत चरितार्थ हो रही थी । जौरा-भौरा दोनों भीतर गए और अपने गुरुजीकी नाड़ी देखी तो शून्य ! हाथ-पैर सब ठण्डे हुए पड़े थे । उन्हें क्या ज्ञान था कि समाधिमें यह अवस्था हो ही जाती है । उनके हाथ-पाँव फूल गए और सचमुच

विश्वास हो गया कि गुरुजीके प्राण-पखेरू उड़ गए हैं। कुछ देरतक तो वे किकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर सोचते रहे और कहते भी रहे कि गुरुजीने दस दिनकी समाधि लगानेकी बात कहते हुए बताया था कि मेरे शरीरकी स्थिति मृतकके समान हो जायगी। किन्तु चतुरा-मठका गोसाईं बड़ा चतुर था। उसने कुछ ऐसे विचित्र तर्क देने प्रारम्भ किए कि दोनों शिष्य हतप्रभ हो गए।

छल

जौरा-भौराने सचमुच यह मान लिया कि वनखण्डीजी महाराज इस लोकमें नहीं हैं। गोसाईंने इतनी आत्मीयता और भक्ति दिखाई कि उस साधुके सम्पूर्ण अन्तिम संस्कार करनेका प्रबन्ध भी उसने अपने सिर ले लिया।

अन्तिम संस्कारका प्रबन्ध

उदासीनोंमें दाह और प्रवाह दोनों प्रथाओंका प्रचलन है। किन्तु गोसाईंने षड्यन्त्र करके यही व्यवस्था दी कि जहाँ समुद्र, बड़ी नदी या गंगा न हो वहाँ प्रवाह नहीं करना चाहिए। मोरंग-वनके दोनों ओर बहनेवाली कोसी और मोची नामकी दोनों नदियोंमें इतना जल भी नहीं था कि उनमें प्रवाह किया जा सके। अतः सीधे-साधे जौरा-भौराको भी गोसाईंकी बात ही ठीक जँची और दाह-क्रियाका पूरा प्रबन्ध होने लगा।

शाप

चतुरामठके गोसाईंने अपने शिष्योंको लेकर बड़ी तत्परता, एकाग्रता और आत्मीयताके साथ सब प्रबन्ध करना प्रारम्भ कर दिया और अन्तिम संस्कारके सब साधन शीघ्र ही एकत्र करके उदासीन सम्प्रदायकी मर्यादाके अनुरूप इतने शीघ्र वनखण्डीजीके अन्तिम संस्कारका प्रबन्ध करा दिया कि किसीको कानोंकान इसकी सूचना भी न मिल पाई। अग्नि-संस्कार कर देनेपर जब शरीर जलने लगा, तब वनखण्डीजी महाराज दिव्य

देह धारण करके प्रकट हुए और अत्यन्त विक्षोभके साथ उन्होंने गोसाईंको सम्बोधित करके कहा—

"हे गोसाईं ! हमने न कभी तुम्हारे कामोंमें बाधा डाली और न तुम्हारा कोई अपकार किया; किन्तु तुमने निरन्तर हमारी साधनामें विघ्न डाले, बाधाएँ उपस्थित कीं और आज तुमने हमारी समाधिके बीच षड्यन्त्र करके हमारे शिष्योंको भ्रममें डालकर हमारे समाधिस्थ शरीरको अग्निपर चढ़वा दिया। मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि अब तुम्हारी गद्दीपर यति नहीं, कोई गृहस्थ ही बैठता रहेगा।"

यह शाप सुनकर पहले तो गोसाईं कुछ त्रस्त और भयभीत हुआ किन्तु तत्क्षण साहस बटोर कर वह भी कहने लगा—

"आपने यही क्या कम अपकार किया कि नेपालकी जनतापरसे हमारा सम्पूर्ण प्रभाव नष्ट कर दिया। अब आपके स्थानपर भी सिंह और हाथी जैसे जंगली श्वापदोंका निवास होगा और आपका भी कोई शिष्य यहाँ नहीं रहने पावेगा।"

मौनदास

जौरा-भौरा तो यह सब दृश्य देखकर हक्के-बक्के हुए खड़े थे। दोनों हाथ जोड़े खड़े काँप रहे थे। अब उन्हें अपनी भूल समझमें आ रही थी। उन्होंने समझ लिया कि अब यहाँसे अन्न-जल उठा। किन्तु वनखण्डीजी महाराज परम उदार थे। वे तो सब जान ही गए थे कि इसमें जौरा-भौराका कोई दोष नहीं है। उन्होंने दोनोंको अभयदान देते हुए कहा—

"तुम लोग एक लकड़ीका साढ़े तीन हाथ लम्बा खम्भा ले आओ।"

खम्भा लाया गया और स्वामीजीकी आज्ञासे कुटीमें गाड़ दिया गया। उसे गाड़ देनेके पश्चात् स्वामीजीने गोसाईंसे कहा—

"गोसाईं ! तुम साधु-वेषमें हो, इसलिये जो कुछ तुमने

विश्वास हो गया कि गुरुजीके प्राण-पखेरू उड़ गए हैं। कुछ देरतक तो वे किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर सोचते रहे और कहते भी रहे कि गुरुजीने दस दिनकी समाधि लगानेकी बात कहते हुए बताया था कि मेरे शरीरकी स्थिति मृतकके समान हो जायगी। किन्तु चतुरा-मठका गोसाईं बड़ा चतुर था। उसने कुछ ऐसे विचित्र तर्क देने प्रारम्भ किए कि दोनों शिष्य हतप्रभ हो गए।

छल

जौरा-भौराने सचमुच यह मान लिया कि वनखण्डीजी महाराज इस लोकमें नहीं हैं। गोसाईंने इतनी आत्मीयता और भक्ति दिखाई कि उस साधुके सम्पूर्ण अन्तिम संस्कार करनेका प्रबन्ध भी उसने अपने सिर ले लिया।

अन्तिम संस्कारका प्रबन्ध

उदासीनोंमें दाह और प्रवाह दोनों प्रथाओंका प्रचलन है। किन्तु गोसाईंने षड्यन्त्र करके यही व्यवस्था दी कि जहाँ समुद्र, बड़ी नदी या गंगा न हो वहाँ प्रवाह नहीं करना चाहिए। मोरंग-वनके दोनों ओर बहनेवाली कोसी और मीची नामकी दोनों नदियोंमें इतना जल भी नहीं था कि उनमें प्रवाह किया जा सके। अतः सीधे-साधे जौरा-भौराको भी गोसाईंकी बात ही ठीक जँची और दाह-क्रियाका पूरा प्रबन्ध होने लगा।

शाप

चतुरामठके गोसाईंने अपने शिष्योंको लेकर बड़ी तत्परता, एकाग्रता और आत्मीयताके साथ सब प्रबन्ध करना प्रारम्भ कर दिया और अन्तिम संस्कारके सब साधन शीघ्र ही एकत्र करके उदासीन सम्प्रदायकी मर्यादाके अनुरूप इतने शीघ्र वनखण्डीजीके अन्तिम संस्कारका प्रबन्ध करा दिया कि किसीके कानोंकान इसकी सूचना भी न मिल पाई। अग्नि-संस्कार कर देनेपर जब शरीर जलने लगा, तब वनखण्डीजी महाराज दिव्य

देह धारण करके प्रकट हुए और अत्यन्त विक्षोभके साथ उन्होंने गोसाईंको सम्बोधित करके कहा—

"हे गोसाईं ! हमने न कभी तुम्हारे कामोंमें बाधा डाली और न तुम्हारा कोई अपकार किया; किन्तु तुमने निरन्तर हमारी साधनामें विघ्न डाले, बाधाएं उपस्थित कीं और आज तुमने हमारी समाधिके बीच षड्यन्त्र करके हमारे शिष्योंको भ्रममें डालकर हमारे समाधिस्थ शरीरको अग्निपर चढ़वा दिया। मैं तुम्हें शाप देता हूँ कि अब तुम्हारी गद्दीपर यति नहीं, कोई गृहस्थ ही बैठता रहेगा।"

यह शाप सुनकर पहले तो गोसाईं कुछ त्रस्त और भयभीत हुआ किन्तु तत्क्षण साहस बटोर कर वह भी कहने लगा—

"आपने यही क्या कम अपकार किया कि नेपालकी जनतापरसे हमारा सम्पूर्ण प्रभाव नष्ट कर दिया। अब आपके स्थानपर भी सिंह और हाथी जैसे जंगली श्वापदोंका निवास होगा और आपका भी कोई शिष्य यहां नहीं रहने पावेगा।"

मौनदास

जौरा-भौरा तो यह सब दृश्य देखकर हक्के-बक्के हुए खड़े थे। दोनो हाथ जोड़े खड़े कांप रहे थे। अब उन्हें अपनी भूल समझमें आ रही थी। उन्होंने समझ लिया कि अब यहांसे अन्न-जल उठा। किन्तु वनखंडीजी महाराज परम उदार थे। वे तो सब जान ही गए थे कि इसमें जौरा-भौराका कोई दोष नहीं है। उन्होने दोनोंको अभयदान देते हुए कहा—

"तुम लोग एक लकड़ीका साढ़े तीन हाथ लम्बा खम्भा ले आओ।"

खम्भा लाया गया और स्वामीजीकी आज्ञासे कुटीमें गाड़ दिया गया। उसे गाड़ देनेके पश्चात् स्वामीजीने गोसाईंसे कहा—

"गोसाईं ! तुम साधु-वेषमें हो, इसलिये जो कुछ तुमने

कहा- हे यह मैं स्वीकार किए लेता हूँ। किन्तु यह स्मरण रखना कि चाहे यहाँ कोई हमारा शिष्य रहे या न रहे; किन्तु यह खम्भा मौन व्रतधारी शिष्य होकर मौनदास (मोहनदास)-के नामसे यहाँका चिरस्थायी महन्त बनकर रहेगा और संसारमें किसीकी इतनी शक्ति नहीं होगी कि इसे यहाँसे टससे मस कर सके।

भविष्य-निर्देश

इतना कहकर उन्होंने फिर औरा-भौराकी ओर दृष्टि घुमाई और कहा—

"परमात्माने हमें जिस लोक-कल्याणके लिये भेजा था, वह अभी पूरा नहीं हो पाया, इसलिये कुछ समय पश्चात् हम कुरुक्षेत्रमें पण्डित रामचन्द्र शर्माके यहाँ जन्म लेंगे, जहाँ हमारा रूप भी यही होगा और नाम भी यही। यहाँ मेरी समाधि बनवाकर तुम दोनों अन्त समयतक इसी आश्रममें निवास करना और आसपासके जितने प्राणी हैं उन सबका कल्याण करते रहना। मेरी समाधिके पास ही तुम्हारी भी समाधियाँ बनेंगी।"

समाधि-स्थापना

औरा-भौराके नेत्रोंसे आँसू छलछला आए और वे डाढ मारकर बालकोंके समान रोने लगे। उन्हें सान्त्वना देते हुए स्वामीजीने कहा—

"तुम दोनों चिन्ता न करो। अगले जन्ममें तुम दोनों मेरे साथ रहोगे। हम अगले जन्ममें उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित होकर सिंध प्रदेशमें साधुबेला तीर्थकी स्थापना करेंगे। उस समय तुम दोनों हरिनारायणदास और हरिप्रसाद नामसे प्रसिद्ध होगे। तुममेंसे एक कोठारी होगा, दूसरा महन्तकी गद्दीपर बैठेगा।"

अपनी दिव्य गुरु-गभीर वाणीसे यह कहते-कहते स्वामीजी अदृश्य हो गए और उनका शरीर भस्म हो गया। उसी स्थानपर समाधि बनी और वे दोनों शिष्य अन्त समयतक वहीं

भेड़िया-मठमें मौनदास स्तम्भके पास समाधिकी सेवा करते रहे और अन्तमें उन दोनोंकी भी समाधियाँ वहीं बनीं।"

धूनी साहब

धूनीसाहबमें जो धूनी वनखण्डीजी महाराज जगा गए थे, वह आजतक ज्योंकी त्यों जाज्वल्यमान है। लोगोंमें यह किंवदन्ती है कि मोरंग-वनके हाथी आ-आकर उस धूनोमें लकड़ियाँ डाल जाते थे और सिंह अपनी पूँछसे झाड़ू लगा जाते थे। यह सत्य हो या न हो; किन्तु आज भी धूनी जलती रहती है और धूनीसाहबके पास वे आमके पेड़ भी खड़े हैं, जिन्हें स्वामीजीने चिमटेसे छूकर शालसे आम बना दिए थे।

वनखण्डीजीकी मूर्ति

भक्तोंने वनखण्डीजी महाराजकी स्मृति चिरस्थायी करनेके लिये वहीं धूनीसाहबके पास ही कुएँकी ओर वनखण्डीजी महाराजकी मूर्ति स्थापित करा दी। इसी आश्रमके दक्षिणकी ओर लँगोट-गंगा नामकी एक स्रोतस्विनी है जिसके तटपर साधु प्रीतमदासजीका स्थान बना हुआ है। धूनीसाहबमें आज भी नेपाल राज्यकी ओरसे वनखण्डीजीके आश्रमपर रहनेवाले साधुओंके लिये हाँड़ियाँ मिलती हैं और वह प्रदेश आज भी उसी धूनीके नामपर अर्पित है।

✻ ✻ ✻

११

सिन्धु-गंगा

सिन्धु रेव महानद. ।

अपने हिममण्डित शिखरों तथा देवदारुके विशाल गगनचुम्बी वृक्षोंकी हरित वनश्रीसे सम्पन्न, पूर्वसे पश्चिमतक अपनी अनेक शाखा-प्रशाखाओंके साथ फैले हुए, भारतकी उत्तरी सीमाके प्रहरी नगाधिराज हिमालयकी दुर्लंघ्य पर्वत-मालाओंके उत्तरमें तिब्बत प्रदेशका वह समुन्नत विस्तृत पठार है, जिसे पाश्चात्य विद्वानोंने भौगोलिक ग्रन्थोंमें 'पृथ्वीकी छत' कहकर सम्बोधित किया है। एशियाकी इसी समुन्नत धरणीने भारतकी लोकविश्रुत पवित्र नदियोंकी जन्मस्थली बननेका गौरवपूर्ण पद प्राप्त किया है। जिस मानसरोवरसे पुण्यसलिला भागीरथीका जन्म हुआ है, जिसके तटपर दुग्धधवल राजहंसोंका दल निरन्तर मुक्ता-चयन करता रहता है, जिसके शुभ्र दर्पणमें प्रतिदिन गगनचारी ग्रह-नक्षत्र

अपना प्रतिविम्ब देखते चलते हैं और जो शुद्ध अकल्मष मानसका सदा प्रतीक माना जाता रहा है, उसी मानसरोवरके निकट उत्तरमें तथा कश्मीरके उत्तर-पूर्व एक विशाल हिमधवल गौर कैलास पर्वत है, जो वहाँकी भाषामें गांगरी कहलाता है और जिसके विषयमें भूटान-निवासी भोटोंका विश्वास है कि यह "तिसि" पर्वत पृथ्वीपर सबसे ऊँचा पहाड़ है।

कैलास

वैयाकरणों और साहित्यकारोंने इस कैलास पर्वतके नामकी अनेक प्रकारसे व्याख्या करके अपना श्रद्धापूर्ण प्रातिभ कौशल दिखलाया है। कुछका कहना है—

'के जले लासो दीप्तिः यस्य।'

जलमें जिसकी कान्ति झलकती हो वही कैलास है।

दूसरे आचार्यका कथन है—'कैलसः स्फटिक- स्यैव शुभ्रः।'

स्फटिकके समान श्वेत होनेके कारण ही वह कैलास है।

तीसरे आचार्यका कहना है—'कैलम् आनन्दम्, तस्य आसः।'

आनन्दका स्थान होनेके कारण ही इसका नाम कैलास पड़ा है।

अध्ययनसे ज्ञात हो सकेगा कि शैवागमोंने कैलास शब्दकी यही तीसरी व्युत्पत्ति अधिकांशतः मानी है क्योंकि उनके अनुसार आनन्द-निधान परमेश्वर पशुपति महादेव अपनी अर्धाङ्गिनी परम शक्ति उमाके साथ इसी पर्वतपर अखंड शाश्वत आनन्द-निधानके रूपमें निवास करते हैं और यहींपर प्रलयकी सृष्टि करनेके लिये वे अपने गणोंके साथ अपना भैरव ताण्डव भी करते हैं। मत्स्यपुराणमें महामहिम कैलासका, विशद वर्णन करते हुए लिखा है कि अनेक रत्नोंसे लदे हुए शिखरोंवाले हिमालयके पृष्ठपर वह कैलास पर्वत अवस्थित है, जिसके सर्वोच्च शिखरपर देवाधिदेव शिवजी सदा शाश्वत विहार करते हैं, जिसके दक्षिणमें एलाश्रम, उत्तरमें सौगंधिक पर्वत, दक्षिण-पूर्व कोणमें शिवगिरि,

पश्चिम-उत्तरमें ककुद्मान और पश्चिममें अरण पर्वत इसके दुग्धधवल सौन्दर्यको अपने शृङ्गोंका आधारपृष्ठ बनाकर इसकी रमणीयताका विवर्धन करते हैं और जिसके पदतलसे प्रस्रवित हिम-विगलित सहस्रमुखी जलधाराओंसे मन्दोद नामका वह सरोवर पुष्ट और समृद्ध होता है, जिसके अंचलसे विराट् भगवानके पदनखसे द्रवित होनेवाली, ब्रह्माके कमंडलुमें कुछ कालतक विश्राम करनेवाली, महेश्वर शिवजीके जटा-जालमें चिर-कालतक भ्रमण करनेवाली तथा भगीरथके तपकी सिद्धि बनकर सगरके पुत्रोंका उद्धार करनेवाली प्रसन्नसलिला भागीरथी अपने त्रिपथका एक पथ लेकर प्रवाहित हुई है। इसी सुसलिल मानसरोवरके तटपर ही विश्वकी सम्पूर्ण विभूतियोंसे परिपूर्ण, अगणित सौंदर्य-स्थलोंसे विभूषित, वह मनोरम और पवित्र नन्दन-वन भी है जहाँ मुक्तात्मा और देवता अपने पूर्वार्जित पुण्योंके फल-स्वरूप चिर-आनन्दका उपभोग करते हुए निरन्तर निश्चिन्त और स्वच्छन्द विहार करते हैं। परम रमणीय मराल-सेवित पुण्यतोय मानसरोवरको अपने हिम-जलसे सम्पन्न करनेवाले इस मनोरम कैलास पर्वतपर जगत्पिता महेश्वरके साथ-साथ यक्षाधिपति कुबेर भी देवयोनि यक्षों और अप्सराओंके साथ अपनी नवों निधियाँ लेकर विश्वविभूतियोंका संरक्षण करते हुए चिर विलास करते हैं। बृहत्-संहिताके कूर्म-विभागमें इस पर्वतके रूप-सौन्दर्यका अति ललाम वर्णन करते हुए पुराणकारने भावमग्न होकर लिखा है—

"उस मनोहर स्थलपर पहुँचकर दूरसे दर्शन करनेपर कैलास पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो शुभ्र धवल मेघका विराट् समूह एकपुञ्ज होकर वहाँ विश्राम कर रहा हो। इस दिव्य शाश्वत पर्वतपर किन्नरों और गन्धर्वोंके समूह, असंख्य देव-कन्याओंके साथ अपने कोकिल-कण्ठोंसे मार्गी गीत गाते हुए और अपनी रसमयी तंत्रियोंके हृदयहारी स्वरोंसे आकाशको मुखरित करते हुए इस पर्वतको सदा संगीतमय बनाए रहते हैं।"

इस परमेश्वरावास पुण्यगिरि, संगीतमय, हिमावेष्टित कैलास पर्वतके महत्त्व और उसके सौन्दर्यको प्रायः सभी पुराणोंने बड़ी श्रद्धा और भक्तिके साथ अत्यन्त विशद रूपमें वर्णित किया है। अनेक पर्वत-मालाओंसे आवेष्टित तथा हिमधवल होनेके कारण पुराणोंने इसे गणपर्वत और रजताद्रि भी कहा है।

सिन्धुनद

इसी रजताद्रि कैलासके पश्चिमी पार्श्वसे जो हिमधारा पश्चिमकी ओर बह निकलती है, उसीका नाम सिन्धु है जो तिब्बतकी सीमामें समुद्र तलसे सोलह सहस्र फुट ऊँचेपर जन्म लेकर एक सौ साठ मीलतक 'सिंकाबाब' नामसे "पृथ्वीकी छत" पर बहती हुई अपनी सहोदरा घार नदीसे मिलकर कश्मीरकी घाटीमें पहुँचकर भारतकी सीमामें प्रविष्ट हो जाती है।

कश्मीरकी घाटीमें पहुँचते ही यह अपना भारतीय नाम 'सिन्धु' धारण करके कश्मीरकी पार्वत्य भूमिकी क्यारियोंमें लहराती हुई केशरके वल्लरोंको अपने जलकणसे लदे हुए पवनके झकोरोंसे कपाती हुई, कराकोरम पहाड़के कोरोंको अपने तीक्ष्ण प्रवाहसे रगड़ती और काटती हुई, नंगा पर्वतके कठोर शैलोंसे उलझकर, उसके विशाल शैलखण्डोंमेंसे अपना मार्ग प्रशस्त करती हुई, दुर्गम ऊबड़-खाबड़ वनों तथा पार्वत्य प्रदेशोंके विषम भूमि-तलोंको अपने प्रखर वेगसे पार करती हुई, अपने भैरव प्रवाहके कर्णभेदी जल-रवसे निष्कम्प पर्वतोंके पार्श्वों को कँपाती और गुंजाती हुई, कश्मीरकी कमनीय कामिनियोंको जल-विहारका अनवरत विलास प्रदान करती हुई और अपने अपरिमित वेगसे समुद्र-मिलनकी अधीरता व्यक्त करती हुई यह नदी, अपने उद्‌गम-स्थलसे ८१२ मील तक अपनी प्रखरता तथा तेजस्वितासे सम्पन्न स्फूर्ति और गति से कर चौदह सहस्र फुट नीचे पंचनदकी समस्थलीपर सौम्य तथा मन्द प्रवाह लेकर उतर जाती है। पंचनद-प्रदेशमें पहुँचकर यही सिन्धु महानद

त्रिसप्त-सिन्धुकी रचना करता हुआ अनेक नदियोंकी जल-समृद्धिसे पुष्ट होकर अट्ठारह सौ मीलकी लंबी यात्रा करके न जाने किस युगसे अपनी सम्पूर्ण जलराशि निरन्तर समुद्रको अर्पण करता आ रहा है।

त्रिसप्तसिन्धु

यह सिन्धु-नद भारतका वह गौरव नद है, जिसकी सहायक सरिताओंके कूलो और उपकूलोंमें भारतीय सभ्यता, साहित्य धर्म और समाजने अपना जन्म ग्रहण किया, पोषण प्राप्त किया, संस्कार सिद्ध किया और विश्वभरमें अपने दिव्य उद्बोधनका संदेश फैलाया। इस सिन्धु नदके पूर्व भागमें एक वह सप्तसिन्धु था जो शतद्रु (शुतुद्रि, शुतुद्रु, सतलज), परुष्णी (इरावती या रावी), असिक्नी (चन्द्र-भागा या चिनाव), वितस्ता (झेलम), आर्जिकीया (विपाशा, उर्रंजिका, विपाशा, व्यास) और सुषोमा नामकी सात नदियोंसे सम्पन्न था। दूसरा पश्चिमी सप्तसिन्धु वह था जिसमें तृष्टमा (ष्यवयव), सुसर्त्तु (सुवास्तु), रसा, श्वेती (अर्जुनी), कुभा (काबुल), गोमती (गोमल) और क्रुमु (कुरम) नदियाँ सम्मिलित थीं। तीसरा पश्चिमोत्तरमें वह सप्तसिन्धु था जिसमें ऊर्णावती, हिरण्मयी, वाजिनीवती, सीलमावती, एणी और चित्रा नामकी नदियाँ थीं। इनमेंसे प्रथम या पूर्वी सप्तसिन्धुके पूर्वमें सरस्वती (घग्घर) नदी थी, जिसके पूर्वमें गंगा और यमुना बहती थीं। इस त्रिसप्त-सिन्धुकी इक्कीस नदियोंकी जलराशिसे पुष्ट होकर यह सिन्धु महानद पंचनदके काश्मीर नगरके पास सिन्धु-प्रदेशमें प्रविष्ट हो जाता है और सिन्धु-प्रदेशकी मरुभूमिके बीचसे होता हुआ अरबसागरमें जा समाता है।

सिन्धु-नदका माहात्म्य

भारतीय संस्कृतिकी जिस उदात्त भूमिकाने एक वार सार संसारको चकित कर दिया था, जिसके आश्रयपर

भारतने अपनेको संसारका गुरु कहनेका गौरव प्राप्त किया था, जिसकी व्यापक परंपराने हमारे धर्म, साहित्य और समाजको आजतक अक्षुण्ण, अपराजित और अमर बनाए रक्खा, उसका जन्म और पोषण इसी महानद सिन्धु और इसकी सहायक नदियोंसे अभिषिक्त त्रिसप्त सिन्धु-प्रदेशमें हुआ; इसीलिये ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेदोंने, निरुक्त, ऐतरेयालोचन तथा वसिष्ठ-स्मृतिने; ब्राह्म पद्म, शिव, श्रीमद्भागवत, देवी-भागवत, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्म-वैवर्त, वाराह, स्कंद, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड, ब्रह्माण्ड, कालिका, वायु तथा नृसिंह आदि पुराणोंने; वाल्मीकीय रामायण और महाभारत आदि महाकाव्योंने तथा अनेक स्तोत्रोंने। इस सिन्धु नदके माहात्म्यका विस्तारसे वर्णन करते हुए अनेक युक्तिके साथ यह बताया है कि स्तवन और चिन्तनके लिये इसीके जलसे सिक्त स्थान ही अत्यन्त पवित्र है। संपूर्ण दैवी सिद्धियाँ इसके तटपर साधकके पास स्वयं सिमटी चली आती हैं। इसकी लहरें सोमका सेचन करती हैं, इसके जलसे पशु पुष्ट होते हैं, अन्न लहलहाते हैं तथा प्रजा जीवन प्राप्त करती है। इसमें स्नान करनेका माहात्म्य अनेक पुराणोंमें वैसी ही महत्ताके साथ वर्णन किया गया है जैसे गंगाजीका; और इसीलिये उस महत्ताको लोक-सिद्ध करनेके लिये इसका नाम श्रद्धालु भक्तोंने सिन्धु-गंगा रख दिया है। पुराणकारोंने इस महानदकी पवित्रताका स्तवन करते हुए लिखा है—

"इस महानदकी पुण्य धारामें स्नान करनेसे लोग पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और इसके जलका सेवन करनेसे मनुष्यका शरीर अधिक पुष्ट और शक्तिशाली होता है।"

सिन्धुका ऐतिहासिक महत्त्व

पुराणोंमें जिस निष्ठाके साथ इस नदका माहात्म्य वर्णित

किया गया है उसे देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि किसी समय सिन्धुनदका भी वही माहात्म्य रहा होगा जो आज गंगा-यमुनाका है। उस माहात्म्यके लुप्त होनेका कारण भी यही रहा है कि उत्तर-पश्चिमके पहाड़ी मार्गोंसे जब भारतकी सीमामें अनेक दस्यु जातियोंके क्रूर आक्रमण और निर्मम अनाचार होने लगे, तब इस यज्ञ-पावन भूमिके सभी तीर्थ धीरे-धीरे एक-एक करके लुप्त होते चले गए और लगभग दो सहस्राब्दितक बर्बर दस्युओंकी धन-लोलुपतासे पदाक्रान्त यह प्रदेश केवल युद्ध-क्षेत्र ही बना रह गया। ऐसी परिस्थितिमें न धर्म पनप पाया, न संस्कार पल सके और न सामाजिक संस्कृति ही अपना रूप स्थिर रख सकी। ऐसा विश्वास है कि किसी समय सिन्धुमें उसी प्रकार कुम्भ लगता था जैसे प्रयाग, हरिद्वार, नासिक और उज्जयिनीमें लगता है। इस कुम्भ-योगके अनेक प्रमाण भी यत्र-तत्र विकीर्ण मिलते हैं किन्तु यह कुम्भ पर्व सप्तसिन्धुसे कब लुप्त हुआ, इसका कोई साक्ष्य आजतक उपलब्ध नहीं हो सका। किन्तु सिन्धुके कछारमें अभी हरप्पा और मोहन-जोदड़ोमें जो खुदाइयां हुई हैं उनसे यह तो सिद्ध हो ही गया है कि आजसे सात सहस्र वर्षों पूर्व सिन्धुके कछारमें भारतकी अत्यन्त उदात्त सभ्यता अपने सम्पूर्ण वैभवके साथ इसमें निवास करती थी और ये नगर पूर्व तथा पश्चिमकी समस्त व्यावसायिक चेष्टाओंके ऐसे विराट् केन्द्र थे, जहां अनेक देशोंके व्यापारी आ-आकर अपनी वस्तुओंका विनिमय करते थे और सुदूर-पूर्व चीनतक तथा सुदूर-पश्चिम रोम और त्रिपोलीतकके व्यवसायी यहां आकर अपनी समृद्धिका परिचय देते थे।

भारतका गौरव

किन्तु इस सिन्धु नदीका केवल यही महत्त्व नहीं है कि इसका जन्म पुण्यगिरि कैलाससे हुआ है, न यही कि इसने पंचनद तथा

सिन्धुको भूमिको मरुस्थल होनेसे बचा लिया है। इसका सबसे बडा महत्त्व यह है कि इसी नदने अपने अनेक नामोसे समस्त विश्वको भारतका परिचय दिया, जिसके पूर्व और पश्चिमके सभी देशोने इस सिन्धुस्थानको अपनी विकृत भाषामें हिन्दुस्तान कहा। केवल देशको ही नहीं, यहांके निवासियोको भी इन विदेशियोने इसी नदीके नामपर सिन्धु या हिन्दु कहकर सम्बोधित किया और इसी नदके जलसे अभिषिक्त प्रदेशका उत्थान और पतन भारतका उत्थान और पतन रहा। इन्हीं सब महत्ताओके कारण सिन्धु केवल साधारण व्यावसायिक जल-प्रवाह मात्र नहीं रहा, वह भागीरथी गङ्गाके समान ही पवित्र तीर्थ रूपमें पूज्य समझा जाता रहा, वह हमारी सभ्यता और हमारे धर्मकी उद्गम-स्थलीका पोषक रहा और इसीलिये भक्तोने इस महानदका सम्मान करते हुए इसे सिन्धु-गङ्गा कहकर इसका अभिनन्दन किया।

इतनी उपेक्षा क्यो ?

यह आश्चर्यकी बात है कि अपने विशाल सास्कृतिक गौरवकी इतनी गाथाएँ, अपने भौगोलिक महत्त्वके इतने लक्षण और अपनी ऐतिहासिक महत्ताके इतने प्रमाण लेकर भी यह प्रदेश, इस युगकी धर्मनिष्ठाका समुचित केन्द्र न बन पाया और इसका कारण भी स्पष्ट रूपसे यही प्रतीत होता है कि भारतीय सस्कृतिकी विध्वंसिका जो मुसलिम राज्य-परम्परा पजाबमें जमती चली आई, उसने इस क्षेत्रकी धार्मिक प्रवृत्तिको तबतक नहीं पनपने दिया जबतक तपस्वी साधु और ब्राह्मणोंने अपने आदेश, बलिदान और त्यागसे फिर यहांके देशवासियोके हृदयमें नवीन श्रद्धा और अभिनव शक्ति उत्पन्न करके फिरसे भारतीय दर्शन, भारतीय धर्म और भारतीय सस्कारकी ओर उन्हें उन्मुख नहीं किया।

⁂ ⁂ ⁂

१२

बाबा रुखडदासका शाप

साधुनको अपमान करि को रहि सकत निचिन्त।

सिन्धु नद भारतके लिये कई दृष्टिसे महत्त्वका है। इसका जन्म ही उस पवित्र कैलास पर्वतसे है जिसपर साक्षात् महादेवजी चिरशक्ति जगन्माता पार्वतीके साथ निवास करते हैं। न जाने कितने यात्रियोंने उस दिव्य पर्वतके दर्शनकी लालसा और श्रद्धाके साथ वहांतक पहुँचनेका प्रयत्न किया किन्तु सफलता किसी-किसीके हाथ लग पाई। घने भयकर जगलों और विषम पहाडियोंकी दुर्गम घाटियोंमेंसे होकर समद्र पृष्ठसे सोलह सहस्र हाथ ऊँचे कैलासके अकसे निकलनेवाले इस महानदके उत्पत्ति-स्थानतक पहुँचना निश्चय ही असाधारण प्रयास है। कहा जाता है कि जैसे गङ्गाका उद्गम गगोत्री पर्वतपर गोमुखसे होता है, वैसे ही इस नदका जन्म सिंह-मुखसे हुआ है और अट्ठारह सौ

मीलकी निर्बाध यात्रा करता हुआ यह नद निरन्तर मानसरोवर-का दिव्य जल अरब-सागरको अर्पित करता रहता है। अपने इस लम्बे प्रवाहमें न जाने कितने गन्धकके स्रोतोंसे यह अपनी देह पुष्ट करता है और न जाने कितनी ओषधियुक्त पर्वत-मालाएं अपनी शक्ति देकर इसे भारतका अभिषेक करनेके लिये प्रेरित करती हैं। इस नदका व्यवहार और स्वभाव भी ससारकी समस्त सरिताओंसे विलक्षण है। ग्रीष्म कालकी रात्रिमें इसका जल घटते-घटते इतना घट जाता है कि लोग पैदल ही उसमेंसे चलकर पार हो जाते हैं, किन्तु प्रातःकाल जब सूर्यके प्रचण्ड तापसे हिमालयकी हिम-मडित चोटियोंसे-धारा प्रवाह स्रोतोंमें हिम गलने लगता है, तब देखते-देखते इस नदका जल बडे वेगसे बढने लगता है और मध्याह्न तक तो ऐसी वेग-शील बाढ आ जाती है कि कूलपर पैर रखकर इसमें खडा होना भी सकट-मुक्त नहीं रहता। इस आकस्मिक बाढसे यह नद अपने तट-वासियोंको सदा त्रास देता रहता है और इसीलिये एक बार महाराज रणजीतसिंहकी सात सहस्र अश्वारोही सेना इसे पार करते समय इसकी आकस्मिक बाढमें बह गई।

सिन्धुका सौन्दर्य

पजाबके मध्यसे लेकर सागर-सगमतक इसकी धाराके बीच छोटे-छोटे अनेक द्वीपों तथा तटोंपर ऊँचे खडे बालूके कगारों, और दोनों ओर विस्तीर्ण बालुका-पुलिनकी छटा स्थान-स्थानपर दिखाई पडती रहती है। सिंध प्रदेशमें भक्खरके समीप तो इसके दोनों तटोंपर ऊँचा सिर किए हुए असख्य खजूर और ताडके बडे-बड़े वृक्षोंके वन इसकी धारामें निरन्तर अपना प्रतिबिम्ब निहारकर उसके सीकारोंसे लदे हुए पवनके झोकोंमें निरन्तर झूलते हुए अपनी उल्लासमद आत्मीयता प्रकट करते ही रहते हैं।

सक्खर और रोहड़ीके बीच का द्वीप

अपनी सहायक नदियोंका सुशीतल, स्वस्थ और निर्मल जल लेकर यह महानद समुद्रकी ओर बढ़नेके लिये जहाँ सिंधके मरुस्थलमें बढ़ने लगता है वहीं उस भूमिके उत्तरी छोरपर, सक्खर और रोहड़ी नगरके बीच, एक पहाड़ी भी इसके प्रवाहके बीच शिलाद्वीप बनकर इसके प्रखर वेग और प्रचण्ड जलाघातकी अवहेलना करती हुई न जाने किस युगसे जमी खड़ी है। सिंधुके दोनों पार सक्खर और रोहड़ीके रहनेवाले मछुए और नाविक इस पहाड़ीको सिन्धुके प्रवाहमें बहती हुई अपनी डोंगियों या बेड़ोंका आश्रय भले ही बनाते रहे हों, अपने मत्स्य-व्यापारसे थककर उस पहाड़ी द्वीपपर अपने भींगे हुए जाल भले ही सुखाते रहे हों, किन्तु सिंधुके भयंकर, प्रलयंकर प्रवाह-की विभीषिका उसके दोनों ओर इस रूपमें निरन्तर उपस्थित रहती थी कि कोई पुरुष उस द्वीपमें घर बनाकर वास करनेकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। कभी-कभी गर्मीके दिनोंमें तो जब यह महानद अपनी सभी जल-शाखाओंमें सूर्यकी किरणोंसे पिघला हुआ हिमजल समेटकर इठलाता हुआ बढ़ चलता था, उस समय तो इस पहाड़ी द्वीपकी दोनो टेकरियोंके बीचकी नीची घाटीमें भी सिंधुका जल तीसरी धारा बनकर बहने लगता था। ऐसे भयानक स्थलमें कुटुम्ब या परिवार लेकर रहनेका दुःसाहस भला कौन कर सकता था और फिर वर्षाके दिनोंमें तो वहाँ पहुँचनेकी कल्पना ही दुराशा मात्र थी। किन्तु साधु लोग तो अपनी शान्त साधनाके लिये ऐसा ही कोई एकान्त स्थल खोजते फिरते हैं, जो नगरके भीषण कोलाहलसे दूर हो, जहाँ मनुष्यकी गंध भी न मिलती हो, जो अनेक प्रकारके जीव-जंतुओंके त्राससे मुक्त हो और जहाँ निश्चिन्त होकर ईश्वराराधन और एकांत साधना करनेमें किसी प्रकारकी बाधा न हो।

द्वीप-पहाड़ी

पंजाबके मध्यसे लेकर सागर-संगमतक सिन्धु नदमें अनेक ऐसे छोटे-छोटे द्वीप बीच-बीचमें उठ खड़े हुए हैं, जिनमेंसे कुछ तो जल बढ़ जानेपर मैनाक पर्वतकी भाँति जलधारामें लुप्त हो जाते हैं, किन्तु कुछ ऐसी ठोस पथरीली ऊँची पहाड़ियाँ भी हैं, जो बाढ़के दिनोंमें भी सदा जल-तलसे ऊँची उठी रहती हैं। इन्हीं पहाड़ियोंमेंसे एक यह भी उपर्युक्त पहाड़ी है जो सक्खर और रोहड़ी नगरोंके बीच बहते हुए सिंधु नदकी धाराके बीचों बीच न जाने किस युगसे खड़ी है और जिसकी दोनों टेकरियोंके बीचकी घाटीमें बाढ़के दिनोंमें भी जल ऊपर चढ़ आता था।

बाबा दीनदयालुकी धूनी

इसी स्थलको एकान्त जानकर तथा साधुओंकी निर्विघ्न तपस्याके लिये अत्यन्त योग्य समझकर उदासीन साधु बाबा दीनदयालुने सं० १८४४ की चैत्र शुक्ला प्रतिपदाको यहाँ पहुँचकर अपनी धूनी जगाई। उस समयसे लेकर लगभग बारह वर्षतक उनकी इतनी ख्याति बढ़ी कि उनके सत्संगके निमित्त दूर-दूरसे बहुत-से साधु भी यहाँ यदा-कदा घूमते-घामते आते रहे। सं० १८५६ की फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी होलीके दिन बाबा दीनदयालुजी उदासीनने ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त किया। उनके ब्रह्मनिर्वाणके लगभग एक वर्ष पहलेसे ही उनके एक शिष्य बाबा रूखड़दास उदासीन वहाँ वैशाख शुक्ला द्वितीया सं० १८५५ से बाबा दीनदयालुके शिष्य होकर रहने लगे थे। फलतः अपने गुरुजीके ब्रह्मनिर्वाणके पश्चात् पहाड़ी द्वीपकी छोटी टेकरीपर बाबा रूखड़दासने अपने गुरु बाबा दीनदयालुजीकी समाधि बनाकर उस टेकरीका नाम अपने गुरुजीके नामपर दीनबेला रख दिया और अपने नामपर बड़ी टेकरीका नामकरण किया रूखड़बेला।

भक्खर द्वीपके मुसल्मानोंका षड्यन्त्र

इसी द्वीपसे कुछ पूर्वकी ओर सिंधु नदीकी धारामें ही एक

और भी बड़ा-सा द्वीप है, जिसे भक्खर कहते हैं। इसमें पुराने समयसे ही एक गढ़ बना हुआ था जो उन दिनों एक मीरके हाथमें था। बाबा रूखड़दासकी सेवावृत्ति और उनके चमत्कारके कारण उनकी लोकप्रियता इतनी बढ़ चली थी कि मीर भी कभी-कभी उनके दर्शनोंके लिये वहाँ आ जाया करते थे। इस प्रकार हिन्दुओंके साथ-साथ बहुतसे मुसलमान भी उनके भक्त हो चले थे। इन सब कारणोंसे स्वाभाविक था कि काजियों और मुल्लाओंकी जो प्रतिष्ठा होनी चाहिए थी, वह घटती गई और लोग अधिक संख्यामें बाबा रूखड़दासकी सेवामें पहुँचने लगे। मुसलमानी बादशाहों, नवाबों और मीरोंके यहाँ उन दिनों काजियों और मुल्लाओंका बोलबाला था। बाबा रूखड़दासजीके चमत्कारोंकी कथा जब उनके कानोंमें पड़ी, तो उनकी स्वाभाविक ईर्ष्या जाग उठी और उन्होंने यह दुःसंकल्प किया कि किसी प्रकार उस साधुके साथ-साथ उसका यश भी समाप्त कर दिया जाय। इन सबका परिणाम यह हुआ कि काजियों और मुल्लाओंने एक विराट् षड्यंत्र किया कि जब बाबाजी समाधि लगाकर बैठें उसी समय उन्हें समाप्त कर दिया जाय। फलतः कुछ मुसलमान गुंडे ठीक कर लिए गए और उन्हें आदेश दिया गया कि जब बाबा रूखड़दास समाधि लगाकर बैठें, तभी पत्थरोंसे मारकर उन्हें ढेर कर दिया जाय।

हत्यारोंकी नौका

सं० १८७० की श्रावण शुक्ला पूर्णिमाकी खुली चाँदनीमें आधी रातको एक डोंगी भक्खरकी ओरसे कुछ लोगोंको लिए द्वीप (रूखड़बेला) की ओर बढ़ी चली जा रही थी। चाँदनी रात होनेसे अन्य नाववाले यह समझ रहे थे कि संभव है मीरसाहब अथवा दुर्गके अधिकारी चाँदनी रातका आनन्द लेनेके लिये निकल पड़े हों। यदि उस समय किसीको

तनिक भी इसका भान होता कि यह बाबा रूखडदासके समाप्त करनेवाले हत्यारोका दुष्ट दल है तो सभवत उन आततायियोसे भरी नाव सिंधुकी प्रखर धारामें बलपूर्वक जल समाधि लेनेको विवश कर दी गई होती। किन्तु विधाताको यह स्वीकार नहीं था। फनत आततायियोके समूहसे लदी हुई यह नाव दीन-बेला जा पहुँची। चोरोकी भाँति ये निर्दय क्रूर दस्यु पैर दबाकर, हाथमें बडे-बडे पत्थरके चक्के लेकर यहाँ पहुँचे जहाँ बाबा रूखडदासजी नित्य नियमके अनुसार शान्त समाधि लगाए बैठे थे।

हत्या

इन आततायियोने आव देखा न ताव, झट धुँआधार पत्थर बरसाने आरभ किए। देखते देखते बाबा रूखडदासके शरीरसे रक्त और दुग्धकी दो धाराएँ एक साथ बह चलीं और उनके शरीर-पिंजरसे मुक्त किन्तु योगयुक्त आत्माने मानवीय वाणीमें यह शाप दिया—

'अरे दुष्टो! तुम लोगोने मुझे समाधिमें बैठा देखकर मेरी यह दशा की, अन्यथा मैं तुम्हारी बेडी ही नदीमें डुबो देता। मैं तो शरीर छोडकर जा रहा हूँ पर थोडे ही दिनोमें पूज्य बनखण्डीजी महाराज उदासीन यहीं आकर अपनी धूनी जगायेंगे, आसन लगायँगे और इस पापका तुम्हें दड भी देंगे।'

यह स्वर सुनकर तो उन आततायियोके पैरो तलेसे धरती खिसक गई, आकाश उन्हें घूमता सा दिखाई देने लगा और वे परस्पर एक दूसरेको बुरा-भला कह-कहकर कोसने लगे। जिन मुल्लाओने उन्हें प्रेरित करके भेजा था उन्हें भी सब गालियाँ देने लगे पर अब हो ही क्या सकता था। अब तो बाण हाथसे छूट ही चुका था।

बाबा रुखडदासकी समाधि

बाबा रूखडदासके अवसानका समाचार रोहडी, सक्खर और

भक्खरमें विजली वनकर फैल गया। मीरको भी जब यह ज्ञात हुआ कि किसीने बाबा रूखड़ दासको मार डाला तब वे भी बड़े खिन्न और दुखी हुए। झुंडके झुंड सहस्रों भक्त आँखोंमें आँसू लेकर नावोंमें चढकर उस साधुके दर्शनके लिये उमड पड़े और यथाविधि उनका प्रवाह करके भक्तोंने बाबा दीनदयालुकी समाधिके पास ही उनकी समाधि भी बना दी। इस घटनासे इतना आतंक व्याप्त हुआ कि इनके पीछे कोई हिन्दू साधु वहाँ ठहरनेका साहस न करता, और जो साधु वहाँ आए भी उन सबकी भी वही गति हुई। सं० १८४७ से सं० १८४५ तक एक-एक करके जो पाँच साधु साहस करके यहाँ कुटिया बनाकर रहे, उन्हें भी मुसलमान गुंडोंने एक-एक करके समाप्त कर दिया। उनकी समाधियाँ दीनबेलाकी दोनों समाधियोंके समीपवर्ती मैदानमें अभीतक बनी हैं।

※ ※ ※

१३

वरुणद्वीप या जिन्दापीर

भक्तके वशमें है भगवान !

सं० १००७ वि० (सन् ९५० ई०) में सिन्धु प्रदेशके अन्तर्गत नसरपुर नामक गाँवमें महात्मा उदयचन्द्र नामक एक सिद्ध पुरुषका जन्म हुआ जिनका उपनाम उडेरालाल या अमरलाल था। इनकी माता देवकी और पिता रत्नराय अत्यन्त आस्तिक और सदाचारी गृहस्थ थे। उनके पुण्य प्रतापसे उनके ही घर उदयचन्द्र जैसे महात्माका जन्म हुआ। महात्मा उदयचन्द्र या उडेरालाल बड़े पहुँचे हुए सिद्ध थे। उनकी वाणीमें, उनकी देहमें, उनकी क्रियाओंमें कुछ अपूर्व दैवी विलक्षणता थी। इसीलिये सिन्धकी आस्तिक श्रद्धालु हिन्दू जनता उन्हें वरुणदेवका अवतार मानती आई है। यद्यपि वे स्वयं बड़े सिद्ध पुरुष थे, किन्तु उन्होंने स्वयं घूमकर अपने विचारोंका

प्रचार नहीं किया। उनके मतका अधिक लोक-प्रचार उनके शिष्य और चचेरे भाई महात्मा पुगरने किया जिसका यह परिणाम है कि आज भी सिन्धियोंमें बहुतसे लोग ठक्कर संप्रदायके अनुयायी हैं। इस संप्रदायका प्रसिद्ध स्थान वरुणद्वीप या जिन्दापीर है जो सक्खर नगरके पास सिन्धुकी धारामें द्वीप रूपमें प्रतिष्ठित है।

मीरोका आतंक

दसवीं शताब्दीमें, मार्कशाह नामका एक मीर सिन्धपर शासन करता था। उसके धर्मान्ध मुसलमान मंत्रीने उसे एक बार यह सम्मति दी कि दीनके विकासके लिये उस प्रदेशके समस्त हिन्दुओंको बलपूर्वक मुसलमान बना लिया जाय। मीरने भी तत्काल उसकी सम्मति स्वीकार कर ली। उसने ठट्ठानगरके सभी प्रमुख हिन्दुओंको बुलाकर आदेश दिया कि तुम सब इस्लाम धर्म ग्रहण कर लो। यह सुनकर हिन्दुओंपर तो मानो वज्रपात हो गया। मीरका आतंक इतना था कि वे सीधे अस्वीकार भी नहीं कर सकते थे, क्योंकि वे जानते थे कि नकारका अर्थ सीधा सर्वनाश है। मुसलमान शासकोंका अत्याचार और अनाचार वे लोग स्वयं देख और सुन चुके थे। वे भली भाँति जानते थे कि इन धर्मान्ध शासकोंसे किसी भी प्रकारका अनुनय-विनय करना निष्फल है। उन्होंने मार्कशाहसे एक सप्ताहका अवकाश माँगा और कहा कि हम लोग सब मिलकर विचार किए लेते हैं और एक सप्ताह पश्चात् सबका निर्णय आपकी सेवामें निवेदित करेंगे। मार्कशाहने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली और वे लोग राजद्वारसे चिन्तामान होकर घर लौट आए।

दैवी सहायता

अन्य हिन्दुओंको जब यह समाचार सुनाया गया तो बड़ी खलबली मच गई। किसीकी समझमें ही न आया कि इस अन्यायका प्रतिकार किस प्रकार किया जाय। अन्तमें सबने

मिलकर यही निश्चय किया कि 'अब भगवानको छोड़कर दूसरा कोई सहारा नहीं है। सब हिन्दू मिलकर सिन्धु नदके तटपर एकत्र हुए और एक सप्ताहतक निराहार व्रत रहकर एकाग्र मनसे भगवानसे सहायताकी प्रार्थना करने लगे। घट-घट-व्यापी, सर्वान्तर्यामी, शरणागतवत्सल, आर्तिनाशक भगवानने प्रार्थना सुन ली और जिस दिन सप्ताह अन्त होने वाला था उसी दिन प्रातःकाल सिन्धु नदके जलसे यह गुरु-गंभीर मानववाणी सुनाई पड़ी—

"आप लोग चिन्ता न कीजिए। आप लोगोंकी रक्षाके लिये हम एक सप्ताहके भीतर ही नसरपुरमें अवतार धारण करेंगे।"

ये शब्द सुनते ही सब हिन्दू कृतज्ञता-पूर्वक भगवानका आभार मानने लगे। सबको विश्वास हो गया कि हमारे धर्मकी रक्षा हो जायगी, अब हमारे धर्मपर आँच नहीं आवेगी। वे सब अत्यन्त प्रसन्न मनसे घर लौट आए। हिन्दू नेताओंने मार्कशाहके पास यह संदेश जा सुनाया कि हमारा रक्षक नसरपुरमें अवतार लेनेवाला है, इसलिये हमें एक सप्ताहका समय और दिया जाय।

कंसके अत्याचारोंकी गूँज

कृष्ण-जन्मका समाचार सुनकर जो कुबुद्धि कंसके मनमें उत्पन्न हुई थी, उसी कुबुद्धिने मीरको भी आ घेरा। अपने राजसी दर्प और आवेशमें उसने आज्ञा दी कि नसरपुरमें इस सप्ताह जो बालक जन्म ले वह तलवारके घाट उतार दिया जाय। धर्मान्ध शासकके धर्मान्ध सेवक अघासुर, बकासुर, मुष्टिक और चाणूर बनकर नसरपुर जा धमके और उन्होंने चारों ओरसे नगरका घेरा डाल लिया। संयोगसे उस सप्ताहमें केवल देवी देवकीकी गोदसे रत्नरायके पुत्र महात्मा उदयचन्द्र या उडेरालालका ही जन्म हुआ। मीरके सभी राक्षस सेवक रत्नरायके घर आ चढ़े और जिस कक्षमें नव-जात बालक उत्पन्न हुआ था उस कक्षको जाकर उन्होंने घेर लिया। मीरका क्रूरकर्मा मंत्री भी यह

समाचार सुनकर वहाँ आ पहुँचा। उसने आज्ञा दी कि बालक बाहर लाया जाय।

वरुणदेवका स्वरूप

अत्यन्त भयभीत और त्रस्त भावसे रोती कलपती हुई देवकीके पाससे श्री रत्नरायजी उस नवजात शिशुको उठा लाए और उस मुसलमान मंत्रीके आगे उन्होंने बालकको पीढ़ेपर लाकर लिटा दिया। पीढ़ेपर लिटाते ही वह बालक देखते-देखते लम्बी श्वेत दाढ़ीवाला वृद्ध बन गया, फिर झट जल-प्रवाह बनकर वह उस कक्षमें फैलने लगा और जितनी देरमें कि लोग अपने वस्त्र समेटें-समेटें उतनी देरमें तो वह भयंकर सिंह बनकर उस मंत्रीकी ओर गरजकर झपट ही पड़ा। मंत्री महोदय और उसके साथी चिल्लाते हुए वहाँसे प्राण लेकर भागे और सीधे मीरके पास आकर हाँफते हुए सब कथा सुनाकर प्रार्थना करने लगे कि हिन्दुओंको मुसलमान बनानेकी आज्ञा लौटा ली जाय नहीं तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। मीरसाहबने यह सब सुना तो उनके भी हाथ-पाँव फूल गए और उन्होंने झट यह आज्ञा भिजवाई कि हम अपना आदेश लौटा लेते हैं, अब कोई हिन्दू बलपूर्वक मुसलमान नहीं बनाया जायगा। यह समाचार सुनकर हिन्दू हर्षसे फूले न समाए। उन्हें विश्वास हो गया कि हमारे उद्धारके लिये, धर्मकी रक्षाके लिये भगवानका अवतार हो गया।

मीरका निमन्त्रण

अब उडेरालाल बड़े होने लगे। उनकी शिक्षा-दीक्षा होने लगी। प्रारंभसे ही उनका जीवन विरक्ति, गंभीरता और परोपकार-वृत्तिसे ओत-प्रोत था। ठट्ठेके मीर और मंत्री दोनोंकी क्रूर दृष्टि तो उनपर पहलेसे लगी ही हुई थी। अतः जब उडेरालाल कुछ बड़े हो चले तो एक दिन मीरने अपने मंत्रीको भेजकर उनसे कहलाया कि हम आपसे बड़े प्रसन्न हैं, आप हमसे दरबारमें आकर मिलिए।

उडेरालाल तो समझ ही गए कि यह मुझे बन्दी करनेके लिये षड्यन्त्र रचा जा रहा है; किन्तु उन्हें अपने आत्मबलमें विश्वास था। उन्होंने निमंत्रण स्वीकार कर लिया और मंत्रीसे कहा कि आप चलिए, हम नदीके मार्गसे जाते हैं।

सेनाके साथ

मंत्रीने आकर मीरसे सब कथा सुनाई। नियत दिन पर उडेरालालका स्वागत करनेके लिये वह दल-बल-सहित सिन्धु नदीके तटपर ठट्ठानगरमें जा डटा। थोड़ी देर पश्चात् मंत्री देखता क्या है कि उडेरालाल अपने साथ शस्त्रधारी अश्वारोहियोंकी एक विशाल सेना लिए सिन्धु नदीके तटसे चले आ रहे हैं। मंत्रीका पापी हृदय यह अपूर्व दृश्य देखकर काँप उठा और उसने समझ लिया कि हो न हो मेरा कुचक्र अवश्य पहचान लिया गया है। वह हाथ जोड़कर आगे बढ़ा और स्वागत करते हुए बोला—

महाराज! मीर साहबने तो आपको दर्शन देनेको बुलाया था, इस सेनाकी क्या आवश्यकता थी।

महात्मा उडेरालालका सम्मान

महात्मा उडेरालालने देखा कि बोलते-बोलते भयके मारे मंत्रीकी घिग्घी बँध गई है और वह घबरा गया है। उन्होने ज्यों ही सेनाकी ओर दृष्टि घुमाकर देखा तो यह संपूर्ण सेना क्षण भरमें आँखसे ओझल हो गई। ठट्ठेके जो हिन्दू नागरिक वहाँ एकत्र थे उन्होंने 'उडेरा लालकी जय', 'हिन्दू धर्मकी जय' के घोषसे आकाशको विकम्पित कर दिया। आगे आगे उडेरालाल, उनके पीछे मंत्री और विशाल जनसमूह सब राजप्रासादकी ओर बढ़ चले। इतने बड़े महात्माकी अगवानीके लिये मार्कशाह भी अपने सिंहासनसे उतरकर द्वारतक चला आया और बड़े सम्मानके साथ उन्हें अपने राजप्रासादमें ले गया जहाँ सब प्रकारसे उनका राजसी स्वागत-सत्कार किया गया।

महात्माके अपमानका फल

जब महात्मा उडेरालाल राजभवनमें आ गए तब कुटिल मंत्रीने सोचा कि अच्छा अवसर हाथ लगा है, क्यों न इसे यहीं बन्दी कर लिया जाय। मीर साहब और महात्मा उडेरालालमें परस्पर धार्मिक विषयोंपर चर्चा चल ही रही थी कि इतनेमें मंत्रीने संकेतसे मीर साहबको बाहर बुला लिया और उस भवनपर ताले डलवाकर पहरा बैठवा दिया। चारों ओर यह घोषणा करा दी गई कि उडेरालाल बन्दी कर लिए गए। मंत्रीने बन्दी उडेरालालसे कहा कि तुम यहांसे छूटकर नहीं जा सकते, अब तुम्हें मुसलमान होना ही पड़ेगा। भयंकर अट्टहासके साथ जब महात्मा उडेरालाल हँसे तो वह समूचा राजप्रासाद इस प्रकार डोल उठा मानो भयंकर भूकंप उसे झकझोरे डाल रहा हो। सहसा सब द्वार अपने आप प्रचण्ड शब्दके साथ टूटकर गिर पड़े और मंत्रीने देखा कि उडेरालालका कोई चिह्न भी उस भवनमें नहीं है।

जल-प्रलय

उडेरालालके बन्दी होनेका समाचार सुनकर हिन्दुओंमें बड़ा आतंक छा गया। वे सब दल बाँधकर महात्मा उडेरालालकी मुक्तिके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करने लग गए। ठीक उसी समय उस जन-समूहमें उडेरालालजीका जय-जयकार हुआ और यह कोलाहल दिग्दिगन्तमें छा गया कि महात्मा उडेरालालजी आ गए। क्षोभ, ग्लानि, आशंका और भयसे उदास भीड़ सहसा हर्षोल्लासके रवसे गूंज उठी। योगिराज उडेरालालने सबसे कहा कि आप लोग अपने घर जाइए, क्योंकि मीरका राजप्रासाद अब जलमग्न होनेवाला है। देखते-देखते सिन्धुकी लहरें समुद्रकी लहरोंके समान ऊँची होकर ऊपर चढ़ने लगी और थोड़ी ही देरमें राजप्रासाद उनकी चपेटोंमें पड़कर ऐसा दिखाई देने लगा मानो अब गया, अब बहा। अब तो मीरसाहबके प्राणोंपर भी बन आई। अत्यन्त

दीनताके साथ वे अपने परिवारके साथ महात्मा उडेरालालके चरणोंमें आ गिरे ।

क्षमादान

शरणागत-वत्सल, क्षमाशील, महात्मा उडेरालालने मीरको क्षमा कर दिया और सिन्धु नदीकी ओर ऐसा संकेत किया कि आकाशसे टकरानेवाली ऊँची लहरें भी सहसा बैठ गईं और नदी अपना वेग तथा पूर समेटकर अपने साधारण रूपमें उतरकर बहने लगी। उस दिनसे मुसलमान भी उन्हें जिन्दापीर मानकर उनकी पूजा करने लगे ।

ज़िन्दापीर

महात्मा उडेरालालके अवसानके पश्चात् सक्खरके पासवाले द्वीपमें उनकी समाधि बनाई गई और आज-तक भी हिन्दू उस द्वीपको वरुण द्वीपके नामसे और मुसलमान जिन्दापीरके नामसे मानते और पूजते चले आ रहे हैं, जहाँ हिन्दू उन्हें वरुणके अवतार मानते हैं और मुसलमान जीवित महापुरुष या जिन्दा-पीर समझते हैं ।

※ ※ ※

१४

वरदान

मृषा न होइ देव-ऋषि वानी ।

दृषद्वतीके उत्तर तथा सरस्वतीके दक्षिण जिस राजर्षि-सेवित ब्रह्मावर्त्त, धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्रको राजर्षि कुरुने कर्षण करके वहाँ निरालस, निराहार प्राण-त्याग करनेवाले तथा युद्धमें वीर-गति पानेवालेके लिये स्वर्गका द्वार सदाके लिये खोल दिया है, जिस पुनीत समन्तकपंचक क्षेत्रको देवताओंकी यज्ञ-भूमि बनाकर अविमुक्त क्षेत्रको शाश्वत पवित्रता प्रदान कर दी गई है, जिस धर्मक्षेत्रपर धर्मनिष्ठ पाण्डवोंने साक्षात् धर्मस्वरूप योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको अग्रणी बनाकर अपनी सात अक्षौहिणी सेना लेकर धृतराष्ट्रके दुर्मद परिवारको तथा उनके मदान्ध पुत्र दुर्योधनकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाको धर्म-युद्धमें परास्त किया था, जिस पवित्र भूमिपर धर्मकी विजय-

वैजयन्ती फहराकर पांडवोंने संसारको यह संदेश दिया था कि प्रारंभमें चाहे जितना अपार और असह्य कष्ट हो किन्तु अन्तमें धर्मको ही निश्चित विजय होती है, उसी पुण्य-भूमिके एक अंचलमें बसे हुए कुरुक्षेत्र (थानेश्वर) नगरमें विक्रमको उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारंभमें पंडित रामचन्द्र शर्मा नामके एक गौड़ सद्गृहस्थ ब्राह्मण निवास करते थे। ब्राह्मण-संस्कारके अनुरूप उन्होंने सभी शास्त्रोंका भली प्रकार व्यवस्थित अध्ययन करके अपने शील और चरित्रसे सात्विक ब्राह्मणका धर्म-कर्म सुरक्षित कर रक्खा था।

पुत्रकी चिन्ता

त्यागी, निःस्वार्थ, परमार्थी, ब्राह्मणकी निःसीम उदार भावना उनके तपःपूत हृदयमें इतनी व्याप्त थी, ब्राह्मण-सुलभ निर्लोभिता उनके शुद्धांतःकरणमें इतनी परिपूर्ण थी कि उन्होंने अपने पास उपस्थित किसी वस्तुकी याचना करनेपर कभी किसीको 'नहीं' नहीं कहा। इसी पाण्डित्य, विद्वत्ता, सात्विक जीवन और उदारताके कारण आस-पासके क्षेत्रोंमें सब वर्गोंके लोग उनका बड़ा सम्मान तथा आदर करते थे। उस प्रदेशमें कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो उनकी उदारता और कृपाका कृतज्ञ न हो। औढर-दानी भूत-भावन भगवान् शंकरमें उनकी अखण्ड श्रद्धा थी और वे नियमतः प्रतिदिन शुद्ध निष्ठाके साथ अपने उस औढ़रदानी इष्टदेवकी उपासना और पूजा किया करते थे। विद्या और संपत्तिका इतना प्रशस्त वैभव तथा कीर्तिकी इतनी विशाल समृद्धि प्राप्त होनेपर भी प्रौढ़ावस्थातक उनके संतुष्ट तथा सर्वसुख-पूर्ण घरमें अपनी बाल लीलाओंसे मुग्ध चकित और प्रसन्न करनेवाले बालकका दर्शन नहीं हुआ। अपने समस्त सांस्कृतिक तथा भौतिक वैभवमें यह पुत्रका अभाव उन्हें निरन्तर शूलके समान पीड़ित किए रहता था क्योंकि केवल बालविनोदसे आत्मतुष्टि करने मात्रके लिये ही नहीं, अपितु

पारलौकिक-सुख तथा वृद्धावस्थामें आश्रयके लिये भी पुत्रकी आवश्यकताका वे निरन्तर अनुभव कर रहे थे।

श्रीमती मनोरमादेवी

उनकी सती साध्वी धर्मपरायणा धर्मपत्नी श्रीमती मनोरमादेवी-भी अपने उदार तथा सुशील स्वभावके कारण सबके आदरकी पात्र हो गई थीं। आस-पास मुहल्ले-टोलेके सब बच्चे सगी माताके समान उनसे स्नेह और उनका आदर करते थे, वे भी अपने अपरिमित स्नेहसे उन बालकोंकी उस कोमल, निश्छल मातृ-भावनाको अपने भावमय वात्सल्यसे सदा तुष्ट करती रहती थीं। इतने बड़े बाल परिवारका मातृत्व सुलभ होनेपर भी उनके मनको यह अभाव निरन्तर कचोटता रहता था कि मेरी गोदमें मेरा अपना कोई बालक नहीं है। यदि मेरी कोखसे भी एक शिशु जन्म लेता तो मैं भी अन्य पुत्रवती माताओंके समान उससे लाड लडाती, उसकी मधुर तोतली बोलीका रस लेती, उसकी बाल-लीलाओं और शिशु-चेष्टाओंका आनन्द लेती, उसका पालन-पोषण करती और उसे अपने मातृ-स्नेहका आलंबन बनाकर अपना जीवन सफल करती। दिनपर दिन बीतते चले जा रहे थे, किन्तु इस सुशील दम्पतिकी यह एक कामना पूरी नहीं हो पा रही थी।

स्वामी श्रीमेलारामजी उदासीन

उन दिनों मण्डलेश्वर स्वामी श्रीमेलारामजी उदासीनकी बडी ख्याति थी, जो अपने साथ सौ साधु लेकर सदा लोक कल्याण करते हुए घूमते रहते थे। उनकी सिद्धियों और उनके चमत्कारोंकी अनेक कथाएं बहुत लोकप्रसिद्ध हो चुकी थीं, यहांतक कि साधारण जनसमाजका यह विश्वास था कि लोकोत्तर सिद्धियां उनकी दासी हैं और उनकी वाणीमें सरस्वती का वास है, वे जो कह दें वह होकर ही रहता है, उनका वरदान कभी निष्फल नहीं जाता, कोई ऐसी ऋद्धि सिद्धि नहीं

जो उनके करतलमें वास न करती हो। न जाने कितने गृहस्थ और साधु उनकी सेवा और आशीर्वादसे संतुष्ट भी हो चुके थे। स्वभावसे भी वे ऐसे कृपालु थे कि जिसकी ओर उनकी दयादृष्टि घूम जाती, उसके सब संकल्प, उसकी सब कामनाएं तत्काल पूर्ण हो जाती थीं।

कुरुक्षेत्रमें स्वामीजीका आगमन

इसी प्रकार लोक-कल्याण करते हुए श्री स्वामी मेलारामजी उदासीन अपने सौ साधुओंकी मण्डलीके साथ देश-देशान्तर घूमते हुए एक बार कुरुक्षेत्रको उदासीन गुरुस्थलीमें भी आ पधारे। वहांकी श्रद्धालु धर्मप्राण जनताने जब ऐसे सिद्ध तथा लोकविश्रुत उदासीन महात्माका आगमन सुना तब तो सभी लोग उनके दर्शनके लिये ठट्ठके ठट्ठ बांधकर उमड़ पड़े। जिसे देखो वही अपनी अपनी श्रद्धाके अनुसार उनके सम्मुख फल-फूल अर्पित करके अपनी व्यथा सुना रहा है और उनका आशीर्वाद प्राप्त करके अत्यन्त हर्षसे मग्न हुआ लौटा चला आ रहा है। पण्डित रामचन्द्र शर्मा भी स्वामी मेलारामजी उदासीनकी सिद्धिका वर्णन भली भांति सुन चुके थे। उन्होंने भी अपने मनमें यह विचार किया कि ऐसे दिव्य महात्माके सम्मुख अपनी प्रार्थना तथा व्यथा उपस्थित करनेमें क्या संकोच है। वे भी अन्य श्रद्धालुओंके समान फल-फूलकी भेंट लेकर स्वामीजीकी शरणमें जा पहुंचे और अत्यन्त श्रद्धाके साथ उनके चरण स्पर्श करके अत्यन्त भावनम्र होकर उनकी स्तुति करने लगे।

वर मांगिए

पण्डित रामचन्द्र शर्माजीकी विद्वत्तापूर्ण शुद्ध संस्कृतमयी ललित वाणी सुनकर तथा उनकी निष्कपट श्रद्धापूर्ण आस्था देखकर स्वामीजी अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने पण्डित रामचन्द्र शर्माजीसे कहा—

"हे श्रद्धालु! आपकी ललित, निष्ठापूर्ण मधुर वाणीने तो

मेरा हृदय और मेरा आत्मा तुष्ट कर दिया है। मुझे आपकी रस-स्निग्ध वाग्धारासे अलौकिक आनन्द प्राप्त हुआ है। मुझे इतनी प्रसन्नता हुई है कि मैं अपने उस हर्षातिरेकको तृप्त करनेके लिये आपका कुछ उपकार करना चाहता हूँ अतः मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप मुझसे कोई वर माँगिए।"

स्वामी मेलारामजीकी यह कृपामयी वाणी सुनकर पण्डित रामचन्द्रजी शर्माके हृदयमें हर्षका सागर लहरें मारने लगा। किन्तु अपनी उस उल्लासपूर्ण उत्सुकताको अपनी विद्वत्तापूर्ण गम्भीरतामें दबाकर उन्होंने अत्यन्त गद्‌गद् कण्ठसे निवेदन किया—

"भगवन्! संसारकी सब सिद्धियाँ आपकी मुट्ठीमें हैं, विश्वकी समस्त कामनाएँ, इच्छाएँ और लालसाएँ आपकी वाणीके संकेतपर फलवती होती हैं। ऐसा कोई कार्य नहीं जो आपके लिये दुष्कर हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं जो आपके लिये अदेय हो, किन्तु इस समय मेरी एक यही आकांक्षा है, एक ही प्रार्थना है कि आप अपने चरणरजसे मेरी कुटिया पावन कर दें।"

स्वामीजीका सत्कार

स्वामी मेलारामजी तो पहले ही इतने भावित हो गए थे कि वे विश्वकी सम्पूर्ण निधियाँ भी यदि पण्डित रामचन्द्र शर्मा माँगते तो उनपर निछावर कर देते। इसलिये जब उन्होंने शर्माजीकी यह छोटी-सी प्रार्थना सुनी तो उसे स्वीकार करनेमें उन्होंने तनिक भी देर नहीं की और तत्काल उनके निवास-स्थानपर चलनेके लिये सन्नद्ध हो गए। ऐसे लोकविख्यात, प्रसिद्ध और सिद्ध अतिथिको अपने आवासपर पाकर पण्डित रामचन्द्रजी तथा श्रीमती मनोरमादेवीको ऐसी प्रसन्नता हुई मानो चातकको स्वातिका जल मिल गया हो, साधकको सिद्धि मिल गई हो और अन्धकारमें पड़े हुए पथिकको सहसा सहस्र रश्मिका आलोक प्राप्त हो गया हो। इस भक्त-तथा धर्मनिष्ठ

दम्पतिने पहले तो परम श्रद्धा, सात्त्विक निष्ठा तथा परम तन्मयता-के साथ स्वामीजीका षोडशोपचार पूजन किया, फिर उनके चरण धोकर चरणामृत लिया और शेष चरणामृतसे घर भरका अभिषेक करके सब प्रकोष्ठोंका सम्मार्जन किया। अतिथिदेवका सविधि पूजन-अर्चन कर चुकनेपर देवी मनोरमाने अत्यन्त मनोयोगसे उन्हें भोजन कराया।

प्रार्थना

स्वामीजीका भोजन हो चुकनेके पश्चात् शास्त्र-चर्चा होने लगी। स्वामी मेलारामजीको यह देखकर और भी अधिक आश्चर्यमय आनन्द हुआ कि शास्त्रका कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो शर्माजीकी सूक्ष्म दृष्टि और उनके अध्ययनसे बचा रह गया हो। अपने आतिथेयकी विद्वत्ता, श्रद्धा, भक्ति और स्नेहसे वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने फिर शर्माजीसे कहा—

"हम आपकी विद्वत्ता, सेवा-भावना, श्रद्धा और भक्तिसे इतने प्रभावित हैं कि हमारा मन हमें आपका कल्याण करनेकी निरन्तर प्रेरणा दे रहा है, इसलिये आप निश्चिन्त होकर हमसे कुछ वरदान माँगिए।"

"स्वामीजीके इस आग्रहसे समुत्साहित होकर पण्डित रामचन्द्र शर्माने कहना प्रारम्भ किया—

"भगवन्! मेरा क्या यही कम सौभाग्य है कि आप जैसे सिद्ध अतिथि मेरी इस दीन कुटियाको अपने चरणरजसे पवित्र कर रहे हैं। आप जैसे महात्माओंके आगमनके साथ-साथ सम्पूर्ण इच्छाएँ और कामनाएँ अपनी सब सिद्धियोंके साथ स्वयं आ पहुँचती हैं। आप अन्तर्द्रष्टा हैं, मेरे मनकी कौन-सी ऐसी गति है, जो आपकी अन्तर्दृष्टिसे छिपी रह गई है, फिर भी आपने अपनी कृपासे प्रोत्साहन देकर मुझे अपनी अभिलाषा व्यक्त करनेके लिये जो प्रेरणा और आज्ञा दी है उसका पालन करनेके निमित्त ही मैं कुछ निवेदन करनेकी धृष्टता करता हूँ।

भगवन् ! आप तो सर्वज्ञ हैं। आप जानते ही हैं कि सन्तानके बिना मनुष्य इस जीवनमें भी उचित सेवा-सुश्रूषा न पानेके कारण खिन्न बना रहता है, । घरमें बालक न होनेसे गार्हस्थ्य-जीवन भी शून्य, उदास और चेतनाहीन हो जाता है। पुत्रके द्वारा तर्पणका जल और पिण्डदान न मिलनेसे परलोकमें भी दु:ख पीछा नहीं छोड़ता। मुझे केवल अपना ही नहीं, अपने उन पितरोंका भी बड़ा क्लेश है जो मेरे अपुत्र होनेके कारण अभीसे लुप्त-पिण्डोदक होनेकी कल्पनासे दुखी हो रहे होंगे। इसलिये आपसे यही याचना है कि यदि आप सचमुच मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि मैं सुपुत्रका मुख देख सकूँ, उसके बालविनोदसे अपना गार्हस्थ्य-जीवन चेतन कर सकूँ और अपने पितरोंके ऋणसे उऋण होनेका सन्तोष प्राप्त कर सकूँ।"

प्रार्थना-स्वीकरण

जिस भावपूर्ण मनोरम शैलीमें पण्डित रामचन्द्र शर्माने अपनी मनोभावना प्रस्तुत की, उससे स्वामीजीका उदार हृदय इतना प्रफुल्लित हुआ कि उनकी वाणी सहसा अत्यधिक उदार होकर मुखरित हो उठी—

"हे ब्राह्मण-वंशावतंस ! हम आपकी सेवा और श्रद्धासे अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं। आपने केवल एक पुत्रकी याचना की है, किन्तु हमारा वरदान है कि आपके दो पुत्र होंगे, जिनमेंसे पहला पुत्र आप हमें समर्पित कर दीजिएगा।"

वरदान पाकर उस धर्मनिष्ठ दम्पत्तिके हर्षकी सीमा न रही। अत्यन्त गद्‌गद् कण्ठसे दोनोंने उनके चरणोंमें सिर नवाकर अपनी कृतज्ञता अर्पित की तथा अत्यन्त विनयोपचारके साथ वे स्वामी मेलारामजीको उदासीन गुरुस्थली—तक पहुँचा आए।

अमोघ वचन

सिद्ध महात्माओंके वचन अमोघ होते हैं, कभी निष्फल नहीं

जाते। स्वामी मेलारामजी उदासीनने जो वरदान पण्डित रामचन्द्र शर्मा और उनकी धर्मपत्नी मनोरमा देवीको दिया वह भी निष्फल नहीं गया।

※ ※ ※

१५

भालचन्द्रका जन्म

होनहार विरवानके होत चीकने पात।

स्वामी मेलारामजी उदासीनके आशीर्वादसे स० १८२० विक्रमी (सन् १७६३ ई०) को चैत्र शुक्ला सप्तमीको सोमवारके दिन रोहिणी नक्षत्रमें पण्डित रामचन्द्र शर्माके घर श्रीमती मनोरमादेवीके गर्भसे एक दिव्य बालकका जन्म हुआ। प्रौढावस्थामें इस अलौकिक बालकके जन्मसे माता-पिताको कितना हर्ष हुआ होगा यह लेखनीको वर्णनसीमासे बाहर है। पण्डित रामचन्द्र शर्मा इतने प्रसन्न थे कि उस दिन जो भी उनके यहाँ याचक बनकर गया उसे उन्होंने विमुख नहीं लौटाया और जितना उसने माँगा उससे कहीं अधिक देकर उसे तृप्त किया। उनके मनमें उस दिन इतना उल्लास था कि यदि उनका वश चलता तो वे अपना सर्वस्व लुटा देते।

भालचन्द्रका संस्कार

कर्मकाण्डी और शास्त्रज्ञ होनेके कारण उन्होंने पूर्ण विधिके साथ उस बालकके जातकर्म संस्कार कराए और यथा-दिन शास्त्र-विधिसे नामकरण संस्कार करके अपने इष्टदेव भगवान् शंकरके नामपर उसका नाम रक्खा भालचन्द्र। अपने दस पहलेके और दस आगेके कुलों तथा पितरोंको तारनेवाले उस पुत्रके आविर्भावपर पण्डित रामचन्द्र शर्माको ऐसा प्रतीत हुआ मानो साक्षात् शंकरने ही अवतार धारण कर लिया हो। वे क्या जानते थे कि नेपालकी तराईमें किसी कुटिल गोसाईंकी अकारण ईर्ष्याका आखेट बनकरके अग्नि-समाधि लेनेवाले परमसिद्ध योगीश्वर बनखण्डीजी महाराजने ही उनके पुत्रके रूपमें अवतार धारण करके उनका और उनके कुलका उसी प्रकार उद्धार किया है जिस प्रकार रामने रघुकुलका और कृष्णने यदुकुलका उद्धार किया था।

सिद्धका आगमन

अभी यह दिव्य बालक एक वर्षका भी न हो पाया था कि गिरनार पर्वतमें तपस्या करनेवाला एक सिद्ध एक दिन पण्डित रामचन्द्र शर्माके द्वारपर आया और बोला कि नेपालकी तराईमें मेरे जिस सिद्ध गुरुने मुझे सिद्धियाँ सिखाई हैं उनका अवतार आपके घरमें हुआ है। अतः आप कृपा करके उनका दर्शन हमें करा दीजिए। शर्माजीको उस सिद्धकी बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे झट भीतर गए और शिशु भालचन्द्रको अपने दोनों हाथोंमें उठाए चले आए। उस बालकको देखते ही उस सिद्धकी आँखोंसे प्रेमाश्रु बह चले। उसने भावमग्न होकर अपना जटामंडित सिर उस बालकके चरणोंमें रखकर बहुत देरतक गद्गद्-कण्ठसे न जाने क्या स्तवन किया और फिर अपना सिर उठाकर अपने नेत्र अपने गैरिक उत्तरीयसे पोंछकर अत्यन्त भावुकताके

साथ पंडित रामचन्द्र शर्मासे कहना प्रारम्भ किया—

"आप इन्हें साधारण बालक समझनेकी भूल न कीजिएगा। ये सनक-सनन्दन-सनत्कुमार-सनातनमेंसे साक्षात् सनकके अवतार हैं। इन्होंने लोक-कल्याणके लिये, धर्मकी स्थापनाके लिये, सनातन हिन्दू धर्मानुयायियोंकी रक्षाके लिये, उदासीन साधु सद्गुरुके रूपमें आपके यहाँ अवतार धारण करके आपके पूर्वार्जित पुण्योंका फल प्रदान किया है। इससे पहले ये उदासीन साधु श्रीवनखण्डीजी महाराजके रूपमें नेपालकी तराईमें तपस्या कर चुके हैं जहाँ मैंने इनसे सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। यह कहकर वह सिद्ध फिर अनेक बार उस हँसमुख शिशुके चरणोंमें बार-बार सिर नवाकर 'जय सद्गुरु' कहता हुआ हिमाचल पर्वतमें बदरी-नारायणकी ओर चला गया। ये सिद्ध श्रीप्रीतमदासजी थे।

साधुरामका जन्म

स्वामी मेलारामजीके आशीर्वादके अनुसार बालक भालचन्द्रके जन्मसे दो वर्ष पीछे श्रीमती मनोरमा देवीकी भाग्यशालिनी कोखसे दूसरे बालकका जन्म हुआ जिसका नाम रक्खा गया साधुराम। दोनों बालक अपने माता-पिताके नयन-तारक बने हुए अपनी बाल-लीलाओंसे अपने माता-पिताको प्रमुदित करते हुए, उनके गार्हस्थ्य-जीवनको आनन्दमय, उल्लासमय और विनोदमय बनाते हुए, शुक्ल पक्षके चन्द्रमाके समान दिन-प्रतिदिन बढ़ते गए और इस स्नेहमय दम्पतिने भी पूर्ण तन्मयता, स्नेह और दुलारके साथ अपने इन दोनों बालकोंको, ममतापूर्ण हृदयसे लालित-पालित किया। जिस एकाग्रता और चिन्ताके साथ कृपण अपने धनकी देख-भाल करता है, जैसी सजगतासे मणिवान् फणी अपने मणिकी रक्षा करता है, जिस सतर्कतासे यक्ष अपने स्वामी कुबेरकी निधियोंका संरक्षण करते हैं, उसी प्रकार पण्डित रामचन्द्र शर्मा और मनोरमादेवी भी उन दोनों बालकोंके स्वस्थ विकासका मनोयोगपूर्वक संरक्षण करते रहे।

भालचन्द्रकी मेधा

पूतके पाँव पालनेमें दिखाई दे जाते हैं, होनहार बिरवानके होत चिकने पात। भालचन्द्रकी तेजस्विता और अलौकिकता बचपनसे ही प्रकट होने लगी। उनको जो बात समझाई जाती, उसे इस प्रकार दुहरा देते मानो उन्हें बहुत पहलेसे उसका ज्ञान हो। जब वृद्ध लोग परस्पर कोई शास्त्र चर्चा करते अथवा किसी विषयपर विचार-विमर्श करते तो वह बालक ध्यानपूर्वक उनकी बातें सुनता और बीचमें ही ऐसा चातुर्यपूर्ण उत्तर देता कि सुनकर वे दङ्ग रह जाते। जो अध्यापक उस बालकको पढाते थे वे भी उसकी प्रखर बुद्धिका रहस्य नहीं समझ पा रहे थे, क्योंकि एक बार समझा देनेपर दूसरी बार कहनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती थी। उस तेजस्वी बालककी कोमल उँगलियाँ अक्षरोंकी उचित गति पहचानती थीं, उसकी प्रसन्न आँखें अक्षरोंका शुद्ध रूप पहचानती थीं और उसकी कोमल मधुर वाणी वर्णोंका ठीक उच्चारण जानती थीं। उसके अध्ययन व्यवहारसे ऐसा प्रतीत होता था मानो विश्वका सम्पूर्ण ज्ञान जन्म जन्मान्तरसे उसके मस्तिष्कमें भरा चला आया है।

विराग

इतना मेधावी होनेपर भी उस बालककी प्रकृति अत्यन्त एकान्तप्रिय थी। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध अपने पिता शुद्धोधनके राजसी वैभवमें भी विचित्र प्रकारकी नीरसताका अनुभव करते थे और वहाँके संगीतमय, विलासमय, आनन्दमय ऐश्वर्यसे आवेष्टित होकर भी चिन्तनशील और मननशील बने रहते थे, उसी प्रकार भालचन्द्र भी अपने पिताके स्नेहमय-लालन-पालनकी सर्व-सुविधामयी परिस्थितिमें रहकर भी कुछ अन्यमनस्क, विचारमग्न और ध्यानस्थ रहा करते थे। स्नेही दम्पति उस बालककी इस विलक्षण मनोदशाका ठीक

कारण न समझकर निरन्तर उनके लिये अनेक प्रकारके पक्वान्न, मिष्टान्न और वस्त्रादिका सचय करते रहते थे किन्तु भालचन्द्रको न तो पक्वान्न और मिष्टान्नमें ही कोई रुचि थी, न सुन्दर चमकीले चिकने वस्त्रोंमें ही । फिर भी माता-पिताने अपने उस मेधावी पुत्रको तुष्ट और प्रसन्न रखनेके लिये कोई उपाय शेष न छोड़ा और जैसे बना वैसे उसकी देखभाल और सेवा-सुश्रूषा की । किन्तु वह असाधारण बालक तो पिछले जन्मका सिद्ध था । वह भौतिक उपादानोंसे प्रभावित हो भी कैसे सकता था । वह ज्यों-ज्यों बडा होता गया, उसकी चिन्ताशीलता बढती गई और जिस बाल्यावस्थामें साधारण बालक चचल, नटखट और निश्चिन्त विहार करते हैं उसी बाल्यावस्थामें बालक भालचन्द्र गम्भीर, शान्त और चिन्तनशील होकर एकान्त-सेवन करने लगा ।

माता-पिताकी चिन्ता

अपने पुत्रकी यह अवस्था देखकर माता-पिताको बडी चिन्ता हुई और उन्होने यह प्रयत्न किया कि खेल-तमाशे, कथा-वार्ता तथा अन्य मनोविनोदके साधनोंमें उस बालकका मन बहलाया जाय । यद्यपि बार-बार उनके कानोंमें उदासीन स्वामी मेलारामजीके यह शब्द गूँजते रहते थे कि पहला बालक आप हमें दे दीजिएगा, फिर भी माता-पिताकी ममता इतनी प्रबल होती है कि उसने उस श्रद्धालु दम्पतिके चित्तको भी पराभूत कर लिया किन्तु दैवकी गतिपर उनका वश ही क्या था ।

१६

श्रीवनखण्डीजी महाराजका उदय

सिद्धिर्भवतु नाऽन्यथा ।

बालक बालचन्द्रने अपनी उस गम्भीर चिन्तनशील मुद्राके साथ–नौ शरद् तो ज्यों-त्यों करके पार किए, किन्तु दसवें वर्ष उसके मनमें अचानक एक प्रकारकी विरक्ति उद्बुद्ध होने लगी। उसे ऐसा जान पडने लगा मानो भीतरसे कोई बारबार पुकारकर कह रहा है कि यह स्थान तेरे योग्य नहीं है, तू संसारके कल्याणका साधक बनकर इस पृथ्वीपर जन्मा है, घरकी सम्पूर्ण माया ममता तेरे लिये व्यर्थ है। जिस प्रकार फ्रांसकी देवी जोनको दैवी वाणी सुनाई पडती थी, अलौकिक सन्देश श्रुतिगोचर होते थे, उसी प्रकार उस बालकको भी कुछ विचित्र विरागकी अलौकिक प्रेरणा होने लगी। उसका मन किसी अज्ञात प्रेरणासे विचलित और विक्षुब्ध होने लगा।

साधुका आगमन

मानसिक विक्षोभकी यह अवस्था चल ही रही थी कि उस नगर कुरुक्षेत्र (थानेश्वर) में एक उदासीन साधु आया और उस वृक्षके नीचे बैठ गया जिसके पास ही उस समय भालचन्द्र अपने कुछ बालक साथियोंके साथ खेल रहा था। उस उदासीन साधुने वहाँ बैठकर उन बालकोंको पुकारा—

"बच्चो ! इधर आओ।"

साधके मुँहसे इतना सुनते ही सब बच्चे डरके मारे इधर-उधर सरकने लगे। यद्यपि उदासीन साधुने बार-बार आग्रह किया कि तुम डरो मत, हमारे पास आओ, हम तुम्हें बहुत अच्छी-अच्छी कथाएँ सुनायेंगे। पर बालक भला कब, सुननेवाले थे, सब एक-एक करके वहाँसे खिसक दिए। किन्तु निर्भीक भालचन्द्रको किसका भय था। वह निर्द्वन्द्व होकर वहाँ खड़ा रहा और जब तीसरी बार साधुने कहा कि हमसे डरो मत, हमारे पास आओ, तब वह बालक निर्भय होकर आगे बढ़ा और उस साधुको प्रणाम करके उसके पास बैठ गया। उस साधुने बालक भालचन्द्रके बैठ जानेपर कहा—

"हे देव ! आप श्रीवनखण्डीजी महाराजके साक्षात् अवतार हैं। आप सम्पूर्ण जगत्‌के कल्याणके लिये यहाँ अवतार धारण करके आए हैं। आप सिद्ध और तपस्वी हैं। आपकी वाणी अमोघ है। आप वैराग्य धारण करके योगकी सब सिद्धियोंसे समन्वित होकर विश्व-कल्याणका मार्ग प्रशस्त करेंगे। आपके चमत्कारसे सारा विश्व चमत्कृत हो जायगा। आप अपना स्वरूप समझिए और चेतन होकर अपना निश्चित पन्थ ग्रहण कीजिए।"

संस्कार जाग उठा

जिस प्रकार गोरखनाथने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथको सचेत और उद्‌बुद्ध किया था उसी प्रकार साधुने भी बालक

भालचन्द्रको सचेत किया और वहाँसे उठकर चल दिया। बालक भालचन्द्रको सहसा विचित्र स्वयं-बोध हुआ, मनकी ग्रन्थियाँ सहसा खुल पड़ीं और उसने आँखें उठाकर एक बार आकाशकी ओर देखा और फिर जैसे उसे कोई दैवी सन्देश मिल गया हो इस प्रकार भावित होकर शून्य मनसे वह घर लौट आया।

गुरुकी खोजमें

बालक भालचन्द्रने अपनी माताके मुखसे तथा समवयस्कोंसे तो यह पहले ही सुन रक्खा था कि हमारे माता-पिताने स्वामी श्रीमेलारामजीको अपना ज्येष्ठ पुत्र अर्पित करनेका वचन दे रक्खा है। कुछ इस सन्देशने, कुछ उस साधुके उद्‌बोधनने, तथा कुछ पिछले जन्मके संस्कारने उस नौ वर्षके बालकको इतना उद्वेलित कर दिया कि उसे अपने माता-पिता, अपने भाई, अपने कुल-गोत्रके लोग और अपना समाज सब अपरिचित और परायेसे लगने लगे। इसी मानसिक उद्‌वेगकी अवस्थामें इस बालकने यह सुना कि परमसिद्ध श्रीस्वामी मेलारामजी उदासीन पटियाला रियासतके फुलैली ग्राममें अपनी साधु-मण्डलीके साथ पहुँचे हुए हैं। बालक भालचन्द्रको न जाने क्या प्रेरणा हुई कि श्रावण शुक्ला दशमी सं० १८२९ के दिन वह अचानक घरसे इस संकल्पके साथ चला कि मैं स्वामी मेलारामजीके पास पहुँचकर उनका शिष्यत्व ग्रहण करूँगा।

अपरिचित पन्थ

कुरुक्षेत्र और फुलैलीके बीच घोर पलास और कीकरका अँधेरा जङ्गल था जिसमें अनेक प्रकारके हिंसक जीव दिन-रात विचरण करते रहते थे। उसी जङ्गलके बीचसे जो कच्ची पगडण्डी जाती थी, उसपर जङ्गली श्वापदोंके कारण दिनमें चलना भी संकट-मुक्त नहीं था। किन्तु पूर्व-जन्मकी अर्जित योग-सम्पत्तिका सबल लेकर अत्यन्त निर्भीक

और निश्चल होकर वह नौ वर्ष, चार महीने और तीन दिनका बालक हिंस्र श्वापदोंसे सेवित उस महा-कान्तारके दुर्गम पथपर भी निर्भीक होकर बढ़ा चला जा रहा था। उस बीहड़ पन्यपर कोई एकाकी पथिक मिल जाता तो उससे आगेकी बटिया पूछकर आगे बढ़ जाता और यदि बजारे या पथिकोंकी टोली मिल जाती तो कुछ दूर उनका साथ पकड़कर चल देता। मार्गमें जो भी नदी, झील, बावड़ी या कुआं मिलता, वहीं पानी पीकर दो घड़ी अपनी श्रान्ति मिटाता और साथी पथिकोंसे जो कुछ रूखा-सूखा मिल जाता वही खा-पीकर भूख मिटाता। इसी प्रकार ज्यों-त्यों करके पैरोंमें छाले और मुंहपर थकावटकी रेखाएं लेकर वह साहसी, दृढ़-प्रतिज्ञ, मनस्वी बालक थोड़े ही दिनोंमें फुलेली जा पहुंचा।

गुरुसे भेंट

वहां पहुंचनेपर उसे तत्काल ज्ञात हुआ कि स्वामी मेलारामजी अपने दल-बल-सहित वहीं ठहरे हुए हैं। अपनी छोटी अवस्था और थका हुआ शरीर लेकर वह उस स्थानपर पहुंचा जहां स्वामी मेलारामजी अपने सौ साधुओंको लिए-दिए ठहरे थे। वहां पहुंचनेपर ज्यों ही स्वामी मेलारामजीने देखा कि एक तेजस्वी बालक सामने खड़ा है, वे तत्काल पहचान गए कि यह बालक मेरा भावी शिष्य है। उन्होंने अत्यन्त मृदुताके साथ स्नेह-सिक्त स्वरमें पुकारा—

"आओ भालचन्द्र!"

बालक भालचन्द्र यह सुनते ही दौड़कर उनके चरणोंमें इस प्रकार जा गिरा मानो जन्म-जन्मान्तरसे उनसे पुराना परिचय हो। स्वामीजीने उसे अपनी गोदमें बैठा लिया और घरका कुशल-मंगल पूछकर उन्होंने तत्काल उस बालकके लिये भोजनादिकी व्यवस्था कर दी और तबसे वह वहीं उनके साथ रहने लगा।

थानेश्वरमें चिन्ता

बालक भालचन्द्र जब सध्याको घर न लौटा तब पण्डित रामचन्द्र शर्मा और मनोरमादेवीकी चिन्ता बढ़ चली। जिसने भी सुना कि भालचन्द्र कहीं चला गया है, वही खोजने निकल पडा क्योंकि उसके मधुर व्यवहार और मेधाविताके कारण सभी लोग उस बालकसे स्नेह करने लगे थे। सारा नगर छान मारा गया, थानेश्वरका चप्पा-चप्पा छान डाला गया, किन्तु कहीं भालचन्द्र हो तो मिले। नगर भरमें विचित्र शोकपूर्ण नीरवता, निराशा और उदासी छा गई। जिसे देखो वही व्याकुल होकर भालचन्द्रके सम्बन्धमें पूछताछ करता चला आ रहा है। नगरकी प्रत्येक पुत्रवती माताने भालचन्द्रके सकुशल लौटनेके लिये मनौतियां मानीं। मनोरमादेवीकी तो यह दशा हो गई कि उन्होने अन्न-जल छोड दिया, रोते रोते उनकी आँखें सूज आईं। विक्षिप्तकी भाँति वे "हाय भालचन्द्र" की रट लगाने लगीं, उनके धैर्यका बाँध प्रलयकर अश्रु-प्रवाहने तोड दिया। जिसका ऐसा सुशील मेधावी पुत्र लुप्त हो गया हो उसे कोई क्या कहकर धैर्य भी बँधावे। पण्डित रामचन्द्र शर्माका भी हृदय तो रो रहा था किन्तु उन्होंने अपनी गम्भीरतासे अपने मोहको जकडकर बाँध रक्खा था। वे मौन होकर अपनी धर्मपत्नीका सब कुररी विलाप सुन भी रहे थे और यथासम्भव भालचन्द्रको खोजनेके उपाय भी कर रहे थे किन्तु कोई प्रयत्न सफल होता नहीं दिखाई दे रहा था। कोई भी यह नहीं बता पा रहा था कि भालचन्द्र कब गया, किधर गया। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते थे त्यों-त्यों इस दम्पतिकी दुश्चिन्ता और मानसिक व्यथा बढती जाती थी। मनोरमा-देवीकी तो यह दशा हो गई कि उनका शरीर अस्थि-पंजर मात्र रह गया। कोई कुछ कहता तो इस प्रकार शून्य दृष्टिसे देखतीं, मानो सुन ही न रही हों, गुम-सुम होकर आठों पहर आँसू

बहाती रहतीं। पण्डित रामचन्द्र शर्मा भी बाहरसे चाहे जितने वेदान्ती दिखाई पड़ रहे हों किन्तु उनका हृदय भी इस पुत्र-वियोगसे इतना मथा जा चुका था कि वे भी उतने ही थोड़े दिनोंमें वृद्ध से दिखाई पड़ने लगे।

कुशल-समाचार

जैसे लक्ष्मणको शक्ति लगनेपर, अपनी सम्पूर्ण वानरी सेनाके साथ व्याकुल रामकी चिन्ता हरण करनेके लिये हनुमानजी द्रोणगिरि उठाए चले आए, वैसे ही स्वामी मेलारामजीका एक शिष्य इस शोक-संतप्त परिवारमें यह समाचार लेकर पहुँचा कि भालचन्द्र कुशलसे स्वामीजीके पास पहुँच गया है; वे अत्यन्त शीघ्र उसे अपना शिष्य बना कर दीक्षा देंगे। ग्रीष्मकी प्रचण्ड लूसे तपी हुई भूमि जैसे आषाढ़की प्रथम वर्षासे हरी हो उठती है, उसी प्रकार इस शुभ समाचारसे माता मनोरमा-देवी और पिता पण्डित रामचन्द्र शर्मा ही नहीं वरन् सारा नगर प्रफुल्लित हो उठा। चारों ओरसे शर्माजीको बधाइयाँ दी जाने लगीं। नगरकी सब पुत्रवती देवियोंने अपनी-अपनी मनौतियाँ चढ़ाईं। अब इस दम्पतिने विचार किया कि हमने स्वामीजीसे जो प्रतिज्ञा की थी उसे न पालनेका ही हमें यह कठोर दण्ड मिला है, इसलिये चलकर स्वामीजीसे क्षमा माँग ली जाय। फलतः ये लोग भी स्वामीजीके शिष्यके साथ फुलैलीके लिये चल दिए।

क्षमा-याचना

स्वामीजीकी सेवामें पहुँचकर दोनों पति-पत्नीने अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हुए क्षमा माँगी और अपने पुत्र भालचन्द्रको आशीर्वाद देकर सत्य हृदयसे जी कड़ा करके स्वामीजीको सौंप दिया। वैशाख शुक्ला तृतीया सं० १८३० वि० को गुरु-मन्त्र देकर, चरणामृत पिलाकर बालक भालचन्द्रको स्वामी मेलारामजीने उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित कर लिया।

दीक्षाके समय भालचन्द्रको सम्बोधित करके उन्होने कहा—

"हे पुत्र ! तुम हमसे मिलनेके लिये भयकर वनकी विभीषिकाका खंडन करके, उपेक्षा करके यहाँ आए, इसलिये मैं तुम्हारा नाम वनखण्डी रखता हूँ।"

यह कहते ही तत्काल एक अद्भुत तेज उस नव-दीक्षित बालक साधुमें आविर्भूत हो गया। यह देखकर स्वामी मेलारामजीने कहा—

"हे वनखण्डी साधु ! सम्पूर्ण ऋद्धि-सिद्धि तुममें पहलेसे विद्यमान है। सब विद्याएं तुममें स्वयं भासित हो चुकी है। इसलिये तुम्हें अब कोई विशेष विद्या पढनेकी आवश्यकता नहीं है और न बहुत समयतक मेरे पास ही रहनेकी आवश्यकता है। कुछ दिन यहाँ रहकर तुम साधुओके साथ तीर्थयात्रा करो और अपनी योगशक्तिसे ससार भरके जीवोका उपकार करो।"

※ ※ ※

१७

ज्ञान-गुदड़िया

ज्ञानधना हि साधव ।

स्वामी मेलारामजीसे उदासीन संप्रदायमें दीक्षा लेकर विद्या-विचक्षण श्रीवनखण्डीजी महाराजने योगाभ्यास प्रारंभ कर दिया। उन्होंने अभ्यास, वैराग्य, ईश्वर-प्रणिधान, प्राणायाम, समाधि तथा विषयोंसे विरक्तिका साधन प्रारंभ कर दिया। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नामक योगके आठों अंगोंका गंभीर साधन करके थोड़े ही समयमें उन्होंने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँचो विपर्यय (मिथ्या) ज्ञानसे उत्पन्न क्लेशोंको जीतकर चित्तकी क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त चित्त-भूमियोंसे ऊपर उठकर निरुद्ध और एकाग्र वृत्तिका अभ्यास किया जिसमें ध्येयका रूप प्रत्यक्ष रहता है और जिसके अभ्याससे उपर्युक्त पाँचों

क्लेश स्वयं नष्ट हो जाते हैं। इसके पश्चात् एकाग्र वृत्तिसे उस असंप्रज्ञात योगकी साधना करके उन्होंने जीवन्मुक्तत्वकी सिद्धि कर ली जिस असंप्रज्ञात अवस्थामें सब वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, ज्ञाता और ज्ञेयका भेद मिट जाता है और केवल संस्कार मात्र बचा रहता है। योगकी उस चरम भूमिकी सिद्धि कर लेनेपर सब प्रकारकी वे विलक्षण शक्तियाँ उन्हें सहसा प्राप्त हो गईं जिन्हें योगकी भाषामें विभूति या सिद्धि कहते हैं। इस प्रकार आठों सिद्धियोंको वशीभूत करके श्रीवनखण्डीजी महाराजने योगी-जीवनोचित सात्त्विक, सहिष्णु और तपोमय संस्कार सोलह वर्षकी अवस्थामें ही प्राप्त कर लिए।

पटियाला नरेशके साथ

जिन दिनों श्रीवनखण्डीजी महाराज योगाभ्यास सीख रहे थे, उन्हीं दिनों वैशाख शुक्ला पूर्णिमा सं० १८३१ को तत्कालीन पटियालान-नरेश महाराज अमरसिंह शिकार खेलते हुए फुलेलीके जंगलमें आ निकले। उन दिनों स्वामी मेलारामजी उदासीन अपने साथ अनेक साधुओंको लिए हुए महंत श्यामदासजी उदासीनके आश्रममें ठहरे हुए थे। जिस समय पटियालाके महाराज स्वामीजीके दर्शनके लिये आए, उस समय ग्यारह वर्षके बालक श्रीवनखण्डीजी भी स्वामीजी महाराजके पास बैठे हुए थे। इस अपूर्व तेजस्वी बालकको देखकर पटियालाके महाराज इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अत्यन्त विनम्र स्वरोंमें स्वामीजीसे प्रार्थना की—

'महाराज! आप कृपाकर इस तेजस्वी बालकको आजके लिये मेरे साथ भेजनेका कष्ट कीजिए।, मैं इन्हें अपने राज-भवनमें ले जाकर अपने अन्तःपुरकी रानियोंको इनका दर्शन कराऊँगा और सध्यातक यहाँ पहुँचा भी दूँगा।"

यद्यपि श्रीवनखण्डीजीको यह सब आचार रुचिकर नहीं था

किन्तु फिर भी अपने गुरुदेवकी आज्ञा शिरोधार्य करके महाराजके साथ चल दिए।

नगरके बाहर

पटियालाके राजभवनमें, पहुँचनेपर अन्तःपुरकी सब रानियां तथा राजपुरुष इस दिव्य बालकके अपरिमित तेजको देखकर इतने विमुग्ध हो गए कि उसके सेवोपचारमें किसीको यह भी ध्यान न रहा कि इन्हें संध्यातक लौटा भी देना है। परिणाम यह हुआ कि जब संपूर्ण राज-परिवार सान्ध्य-कर्ममें संलग्न था, उस समय ये धीरेसे राजभवनसे निकले और पासके वनमें एक वृक्षके नीचे आसन लगाकर ध्यानमग्न हो गए। उधर जब महाराज-पटियालाको यह ध्यान हुआ कि श्रीवनखण्डीजीको संध्यातक पहुँचा देना है तो वे भीतर आए किन्तु ढूँढनेपर भी वनखण्डीजी कहीं न मिले। उन्होंने अपने सब दूत चारों ओर छोड़ दिए जिन्होंने शीघ्र ही आकर सूचना दी कि वनखण्डीजी नगरके बाहर एक वृक्षके नीचे ध्यानस्थ बैठे हुए हैं। महाराज तत्काल उनके पास गए और उन्हें स्वामी मेलारामजीके पास पहुँचा आए। सब कथा सुनकर स्वामी मेलारामजीने कहा कि यह बालक वनमें ही रहनेवाला है। इसीलिये इसका नाम हमने वनखण्डी रक्खा है। नगरका वातावरण इसे तनिक भी प्रिय नहीं है। इसीलिये यह रातको राजभवनमें नहीं ठहर सका।

वनखण्डीजीका तेज

वनखण्डीजी महाराजका शरीर, सिद्ध योगियोंके अनुरूप इकहरा पतला था, रंग पक्के गेहूँके रंगके तुल्य था जिसमें गोरता और लालिमाका अपूर्व तेजःपूर्ण समन्वय था। उनका मुख अत्यन्त प्रकाशमान, दीप्त और भरा हुआ था। उनका ललाट सुन्दर, प्रशस्त और चौड़ा था। शरीरके अनुरूप उनका कंबु-कंठ पतला और लम्बा था और जब वे सदाप्रसन्न मुद्रामें

मंद-स्मितिके साथ मुसकराते थे तब उनकी कुन्दकी कलीके समान धवल दंतावली, दामिनीके समान ओठोंके बीच चमक जाती थी। उनके दोनों स्वाभाविक, रक्तिम, कोमल किसलयोंके समान पतले अधर सहसा उस स्मिति-प्रकाशमें और भी अधिक सुन्दर प्रतीत होने लगते थे। सुग्गेकी चोंचके समान उनकी पतली लंबी नासिका उन रक्ताभ अधरोंपर कुशल शिल्पीके परम कौशलका प्रमाण बनकर उनके तेजस्वी मुखकी शोभा-वृद्धि करती थी। उनकी लंबी पतली बलिष्ठ भुजाएँ, पतली टाँगें और छोटे-छोटे तेरह अंगुल लंबे चरण अपने चमकीले नखों और गुलाबी तलवोंके कारण स्वयं भक्तोंकी श्रद्धा आकृष्ट करते थे। महापुरुषोंके समान उनके कान लम्बे, कंधेतक लटके हुए थे, नाभि गोल, गंभीर और सुन्दर थी जिसपर पड़ी हुई त्रिवली उनके नीरोग साढे पाँच फुट लंबे शरीरको भव्यता प्रदान करती थी। चीनांशुकके समान कोमल, स्निग्ध केश-हीन त्वचामें भी योगकी साधनाके कारण एक अपूर्व लालिमा व्याप्त हो गई थी। उनके विस्तीर्ण वक्षःस्थलपर भी बहुत छोटे-छोटे थोड़ेसे बाल थे किन्तु उनके सिरपर लहराते हुए कुन्तलोंकी लड़ियाँ वटकी जटाओंके समान पृथक्-पृथक् लटकती हुई भ्रमरावलीका भ्रम उत्पन्न करती थीं। उनके प्रशस्त ललाटके नीचे तीव्र स्पष्ट दृष्टिवाले ऐसे तेजस्वी नेत्र थे जो छोटे-छोटे बालोंसे धनुषाकार बनी हुई भ्रुकुटियोंके साथ मिलकर किसीको भी आकृष्ट कर लेनेके लिये पर्याप्त थे।

चिर-किशोर

योगके प्रतापसे उनका शरीर इस सोलह वर्षकी अवस्थासे लेकर अन्ततक निरन्तर एकरस किशोर अवस्थामें ही रहा और उनकी दृष्टि अन्ततक उसी प्रकार तीक्ष्ण, ज्योतिर्मय और तेजस्वी बनी रहीं। उनसे जब कोई पूछता कि महाराज आपकी दृष्टि इतनी स्वच्छ और ज्योतिर्मय क्यों है, तो वे यही कहते कि

यह सब नेती और धौती क्रियाका प्रताप है जिसके साथ-साथ में नियमसे भली भांति दातौनसे नित्य अपने दांत भी मांज लेता हूं। इससे दृष्टिकी शक्ति भी बनी रहती है और नेत्रोंमें कोई विकार भी नहीं आने पाता। इसीलिये हमारे बड़ोंने एक पद्योक्ति ही बना ली है—

"आंखको अंजन दांतको मंजन
नितकर नितकर नितकर नितकर।
नाकमें उंगली, कानमें लकड़ी
मतकर मतकर मतकर मतकर॥"

परिधान

उनका परिधान भी विचित्र ही प्रकारका था। गर्मीके दिनोंमें वे एक लंबा भगवे रंगका चोला (कफनी) गलेमें डाल लेते थे और सिरपर एक लंबा-सा टोपा लगाते थे। जब शीत अधिक पड़ने लगती थी तब वे शक्करपारेकी बखियामें सिला हुआ पैरतक लंबा चोगा पहन लेते थे। उनकी वाणी अत्यन्त कोमल, मधुर तथा कोकिलके कूजनके समान सुरीली थी। इसलिये जब वे धीरेसे भी बोलते, तो दूरतकके लोगोंको सुननेमें कोई बाधा न होती थी।

योग गुदडी

उनकी सबसे विलक्षण वस्तु थी वह चारखानेकी रंगबिरंगे कपड़ोंके टुकड़ोंसे गोल सिली हुई गुदडी, जिसका नाम उन्होंने योग-गुदडी रख छोड़ा था। वह योग-गुदड़ी उन्होंने योगाभ्यास की क्रियाके क्रमके अनुसार रक्खी थी। उस गुदड़ीमें उसी प्रकार सब टांके भरे थे जैसे शरीरकी अनेक नाड़ियोंमें हमारे प्राण चलते हैं। इनमेंसे मोटे धागोंसे भरे हुए टांके बड़ी नाड़ियोंके और छोटे धागोंसे भरे टांके छोटी नाड़ियोंके बोधक थे। इन धागोंके साथ साथ प्राणोंके प्रतीकात्मक ज्ञानके लिये उन्होंने रेशमी धागोंके टांके लगा रक्खे थे और जहां जहां इन

नाडियोंका मेल होता था, वहाँ-वहाँपर रंग-बिरंगे कपडोंकी ये कलियाँ उनका मेल दिखानेके लिये लगवा रक्खी थीं। इस गुदडीके एक ओर शरीरकी सब नसों और सब ततुओं तथा प्राणोंका चित्र अनुस्यूत था और दूसरी ओर शरीरका पूरा चित्र बना हुआ था। यह गुदडी इस प्रकार बनाई गई थी कि सोते समय उसका बिस्तर बन जाता था और बैठते समय वह कुरतेके रूपमें पहन ली जाती थी। इस गुदडीमें नाभिके स्थानपर कुण्डली मारे सर्पके आकारका एक चक्र बना हुआ था, जिसे वे योग-कुण्डली कहते थे। इसके द्वारा वे अपने भक्तों-को योगकी प्रक्रियाका क्रम सरलतासे बैठे-बैठे समझा देते थे।

टोपा

अपने लिये उन्होंने जो टोपा बनाया था वह भी सब इसी प्रकारका था कि उससे मस्तिष्कमें फैली हुई सब नसों और प्राण-वायुओंके सचरणका पूरा बोध हो जाता था। वे अपना टोपा भी इस प्रकार लगाते थे जिससे यह आभास मिलता था कि त्रिकुटी (नासिकाके ऊपर दोनों भौंहोंके बीचका भाग)को लाँघकर मस्तिष्कके उस परम ज्योतिर्मय प्रदेशमें प्राण प्रविष्ट हो जाता है जिसे उदासीन सप्रदाय-वादी सत्य-खण्ड या ब्रह्मरध्र कहते हैं। उस ज्योतिर्मय प्रदेशका प्रतीक समझानेके लिये उन्होंने टोपेमें लहराते हुए टाँकोंमें सूर्यकी किरणें बनाई थीं और उसके चारों ओर तीन-तीन अगुल लबी लाल और हरी झालरें लगाकर चिन्मय-स्वरूप परम ज्योति सूर्यका प्रतीक बनाकर सी रक्खा था। इस टोपेसे कभी-कभी वे कान भी ढक लेते थे और कभी कानोंको ढकनेवाले पल्लेको उठाकर ऊपर भी कर लेते थे। टोपेके बीचमें ऊपर राजाओंके मुकुटकी कलँगीके समान परमेश्वरकी वैजयन्ती-स्वरूप एक फूल बना रक्खा था। टोपेकी चार कलियाँ मानव-मस्तिष्कके चारों भागों-की प्रतीक थीं। प्राण-सचारके प्रतीक रेशमी धागे, बीचमें बने

हुए सूर्यमें उसी प्रकारसे मिल जाते थे जैसे योग-सिद्ध योगीके प्राणवायु ब्रह्मरंध्रमें पहुंचकर आत्मज्योतिसे मिल जाते हैं। इसी प्रकार अपना टोपा और अपनी गुदड़ी पहनकर जब वे जिज्ञासु भक्तोंके बीचमें बैठकर योगका मर्म समझाने लगते थे, उस समय योगकी वे विषम गुत्थियां जो बड़े-बड़े साधक भी नहीं समझ पाते थे, चुटकी बजाते-बजाते सबकी समझमें आ जाती थीं।

झोली

उनकी एक झोली भी थी जो योगाभ्यासकी प्रक्रियाके अनुसार ही बनी हुई थी। शरीर-रचनाके अनुसार उस झोलीमें भी एक मुख बना था। छातीका प्रतीक छोटा घेरा, पेटकी अनुकृतिके रूपमें बड़ा घेरा, दोनों ओर भुजाओंके अनुरूप दो लम्बे खोल और उसपर धागोंकी सिलाई ऐसी थी कि जिससे शरीरकी नाड़ियोंसे उदर और वक्षःस्थलका ठीक सम्बन्ध प्रतीत हो।

तीर्थाटनकी आज्ञा

योगकी यह महाविभूति संग्रह करके सोलह वर्षकी अवस्था-तक श्रीवनखण्डीजी महाराज नियमपूर्वक सब ज्ञान प्राप्त करते हुए अपने सद्गुरु श्री उदासीन मेलारामजीके पास निवास करते रहे। उसके पश्चात् जब उनके सद्गुरुजीने देखा कि अब श्रीवनखण्डीजीका ज्ञान पूर्ण हो गया है तब उन्होंने संकल्प किया कि अब सत-समागम और देशाटन-का अनुभव मात्र शेष रह गया है। प्राचीन और नवीन आचार्योंका यह दृढ़ विश्वास है कि किसी प्रकारका ज्ञान तब-तक सिद्ध नहीं होता जबतक वह अनुभव तथा विचार-विनिमयकी कसौटीपर कस न लिया जाय। इसलिये स्वामी मेलारामजीने अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर एक दिन श्रीवनखण्डीजीको अपने पास स्नेहसे बुलाकर कहा—

"हे योगिराज! अब तुम्हारा ज्ञान-व्रत पूर्ण हो चुका है,

इसलिये अब तुम इस अनुष्ठानको पूर्ण करनेके लिये साधुओंके साथ तीर्थाटन करो। इससे अपने देशके जड़ और जंगम तीर्थोंका परिचय होगा, साधु-विद्वानोंसे संपर्क प्राप्त होगा तथा देश-विदेशके भ्रमणसे अनेक वस्तुओं और विषयोंका प्रत्यक्ष ज्ञान होता चलेगा।"

देशाटन

तीर्थाटनके परम इच्छुक श्रीवनखण्डीजी महाराज यही चाहते भी थे। उन्होंने गुरुजीकी आज्ञा सिर-माथे चढ़ाई और सं० १८३६ के कार्तिक मासमें एक योगाभ्यासी उदासीन साधुके साथ वे तीर्थाटनके लिये निकल पड़े। लगभग साढ़े तीन वर्ष वे उस साधुके साथ देशाटन करते रहे और फिर सं० १८४० में जब हरिद्वारका कुम्भ लगा तब वे वहाँ आकर अपने गुरुजीसे मिले। हरिद्वार पहुँचनेपर उस उदासीन योगीका साथ छूट गया और कुम्भका मेला समाप्त होनेपर ये अपने सद्गुरु स्वामी मेलारामजीके साथ कुरुक्षेत्र चले आए।

अनुभव

साढ़े तीन वर्षके इस प्रवासमें अनेक योगियों, साधुओं और महात्माओंका संसर्ग प्राप्त करके श्रीवनखण्डीजीने यह अनुभव किया कि अभी योगकी सिद्धि पूर्ण रूपसे विकसित नहीं हो पाई है। फलतः एक वर्षतक वे अपने सद्गुरुके पास रहकर सब प्रकारका समाधान करके, मनकी सब शंकाएँ दूर करने लगे और साधनामें भी जो कहीं-कहीं कुछ त्रुटियाँ रह गई थीं उन्हें भी पूर्ण मनोयोगके साथ दूर करने लगे। इस एक वर्षकी अवधिमें उन्होंने सब प्रकारकी मानसिक गुत्थियाँ सुलझा लीं और अब वे अपनेको इस योग्य समझने लगे कि मैं निर्भय होकर संसारका कल्याण भी कर सकता हूँ और जिज्ञासुओंकी जिज्ञासाकी पूर्ति भी कर सकता हूँ।

❋ ❋ ❋

१८

तीर्थाटन और देशाटन

परोपकाराय सता विभूतयः ।

काशी-खण्डमें तीर्थकी व्याख्या करते हुए तीर्थ तीन प्रकारके माने गए हैं—जंगम, मानस, और स्थावर। जिन विद्वान् तपस्वी ब्राह्मणोंने सत्यसे मनका, विद्या और तपस्यासे आत्माका और ज्ञानसे बुद्धिका संस्कार किया हो, जिनका एक वाक्यामृत कर्ण-कुहरमें पड़ जानेसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है, मानस अकल्मष हो जाता है, हृदय विकारशून्य हो जाता है, जिनकी निष्काम सेवा अमरत्व प्रदान करती है और जिनकी संतुष्टिसे समस्त कामनाएँ द्विगुणित सिद्धियोंके साथ बद्धांजलि होकर आ खड़ी होती हैं, ये अध्यात्मवादी, सुबुद्ध, पवित्र स्वभाववाले, सर्व-कामप्रद ब्राह्मण और साधु ही जंगम तीर्थ हैं। सत्य, क्षमा, दया, निश्छलता (ऋजुता), दान, दम, संतोष, ब्रह्मचर्य,

विप्रवादिता, ज्ञान, धैर्य और तपस्या ही मानस तीर्थ है, जिनके अभ्याससे शक्तिका विकास होता है, आत्म-संतोषके साथ साथ आत्म-विश्वासका सवर्द्धन होता है, राजस और तामस वृत्तियोका निराकरण होकर सात्विक वृत्तियोंका उदय होता है और मनुष्य जीवन्मुक्तकी अवस्था प्राप्त कर लेता है।

स्थावर तीर्थ

स्थावर तीर्थोंका वर्णन करते हुए ग्रन्थकारने लिखा है कि एकान्तसेवी तपस्वी साधुओंने पवित्र नदियोके तटपर पुण्य-शैलोके गह्वरोमें, पुण्य स्रोतोके सगमपर वास करके अपनी तपस्या और सिद्धिसे उन स्थलोको सदाके लिये सिद्धपीठ बना दिया है। अनेक लोक-मंगलकारी पुण्यश्लोक महापुरुषोने अपने जन्म और कर्मसे अपनी जन्मस्थली और कर्मस्थलीको तीर्थ बननेका गौरव प्रदान किया है। अनेक धर्मनिष्ठ गृहस्थ और राजाओने यज्ञके द्वारा अनेक स्थलोंको तीर्थका महत्त्व प्रदान किया है। इस प्रकारके सभी पुण्य प्रदेश स्थावर तीर्थ है, जहाँ पहुँचनेसे, जिनका दर्शन करनेसे, जहाँ विचरण करनेसे, जहाँ निवास करनेवाले महात्माओंके ससर्गसे, जहांके रमणीय प्रदेशोका निरीक्षण और दर्शन करनेसे मन शुद्ध होता है, आत्मामें सत्त्ववृत्तिका विकास होता है। यहाँ महापुरुषोंकी पुण्य गाथाएं सुनकर सात्त्विक प्रोत्साहन मिलता है, सदुपदेश और सद्ज्ञानसे विक्षुब्ध तथा दु.खित मानसमें स्थिरता तथा सत्सकल्पका उदय होकर ऐसी सान्त्वना प्राप्त होती है, जिससे मानसिक व्यग्रता तो दूर होती ही है साथ ही एक विशिष्ट प्रकारका उदार भाव भी जागरित होता है, जिससे सब प्राणियोंके प्रति ममता तथा जड़ प्रकृतिके साथ अखण्ड आत्मीयताका आभास होने लगता है। इन स्थावर तीर्थोंमें जो लोग निरन्तर अवगाहन करते है उनका निश्चय ही कल्याण होता है। वे साधारण मानवतासे कहीं ऊपर उठ जाते है, देवता भी उनका आदर करते है।

तीर्थका महत्त्व

अनेक पुराणोंमें,तीर्थयात्राका महत्त्व बताते हुए लिखा है कि इन तीर्थोंके दर्शनसे चित्तका संपूर्ण मल दूर हो जाता है, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर नामक छहों विकार दूर होकर चित्तकी वृत्ति सत्त्वस्थ हो जाती है। श्रीवनखण्डीजी महाराजने यद्यपि योगाभ्याससे अपनी इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली थी और अपना चित्त भी शुद्ध कर लिया था, किन्तु फिर भी साधु-संपर्कसे अनेक अनुभव प्राप्त करना आवश्यक था। प्रत्यक्ष अनुभवसे देश-विदेशोंके मनुष्यों, उनके आचार-विचारों तथा वहाँकी भूप्रकृतियोंका परिचय भी प्राप्त करना अपेक्षित ही था क्योंकि जबतक यह प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त न हो तबतक ज्ञानका एक अंग ही उपेक्षित रह जाता है। इसलिये सं० १८४१ में अपने गुरु स्वामी मेलारामजी उदासीनकी आज्ञा लेकर वे तीर्थयात्राके लिये निकल पड़े। अपनी तीर्थ-यात्राका प्रारंभ उन्होंने पटियाला-राजस्थ फुलेली ग्रामसे किया, जहाँ उनके सद्गुरु श्री स्वामी मेलारामजीको सबसे बड़ी गुरुस्थली थी। अपनी गुरुस्थलीको मस्तक नवाकर वहाँसे वे हिमालय पर्वतकी उन अधित्यकाओं और उपत्यकाओंमें विचरण करनेके लिये चले गए, जहाँ काश्मीरकी मनोरम पर्वत-घाटियाँ, हरित लता-गुल्मों तथा अनेक रंग-बिरंगे फूलोंसे मंडित होकर चिर-वसंतश्रीको संप्रतिष्ठित किए हुए हैं। वहाँ जम्बूसे रामवन, रामवनसे कष्टवाल, कष्टवालसे भद्रवाल और भद्रवालसे पथरी ज्योतिका, दर्शन करके वे चम्बामें उस स्थलका दर्शन करने गए जहाँ बालयती जगद्गुरु भगवान् श्री श्रीचन्द्राचार्य महाराज सं० १६८२ वि० की पौष कृष्ण पंचमीको सदेह गुप्त हो गए थे।

अमरनाथकी यात्रा

उस पुण्य-स्थलका दर्शन करके मणिमहेश होकर वे पुनः

चम्बा लौट आए और वहाँसे फिर अनेक स्थानोंमें पर्यटन करते रहे। अनेक तीर्थों तथा कश्मीरके अनेक मनोरम स्थलोंमें विचरते हुए, वे अमरकंटक पर्वतपर अमरनाथजीका दर्शन करने गए। अमरनाथकी यात्रा करना कोई सरल कार्य नहीं है। मार्गमें इतने विकट और भयानक वन मिलते हैं, ऊँचे-नीचे दुर्गम पथ प्राप्त होते हैं और इतने नद, पर्वत और हिमाच्छन्न पार्वत्य प्रदेश लाँघने पड़ते हैं कि साधारण मनुष्य इस कष्टका नाम सुनकर ही विकंपित हो उठता है। किन्तु वनखण्डीजी तो सिद्ध पुरुष थे, वे अपनी योगसिद्धिके बलसे एक बड़ी चादरपर बैठकर आकाश-मार्गसे दुर्गम पथ पार कर लेते थे। वहाँसे लौटकर जब वे कश्मीरमें आ तब उन्होंने अपनी मंडलीको विदा कर दिया। वे इन पर्वतोंमें घूम ही रहे थे कि श्रावण शुक्ला पूर्णिमा सं० १८४३ को अचानक दो साधुओंने इनके पास आकर यह समाचार दिया कि सिद्ध-स्थान-पर सिद्ध लोग आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। स्वामीजीने उन दोनों साधुओंको तो चादरपर बैठाकर अपने योगबलसे भेज दिया और अकेले ही योग-शक्तिके द्वारा उस सिद्ध-स्थानपर जा पहुँचे जहाँ अनेक सिद्ध योगी संसारकी समस्त माया-ममताको तिलांजलि देकर एकान्त साधनाके द्वारा आत्म-साक्षात्कार कर रहे थे। स्वामी वनखण्डीजीको देखकर सिद्धोंने अत्यन्त आत्मीयताके साथ उनका बड़ा स्वागत किया। इन योग-सिद्ध विभूतिमान् महापुरुषोंके साथ वे आठ वर्षतक रह गए और फिर सं० १८५२ में हरिद्वार कुम्भपर उन सिद्धोंके साथ ही जा पहुँचे।

कुम्भ-पर्व

कुम्भ-पर्व हमारे देशका सबसे बड़ा राष्ट्रीय पर्व है, जिसमें भारतके सभी प्रान्तोंके धर्मिष्ठ नागरिक तथा साधु-सन्त अपने समाजके साथ पहुँचते हैं। स्कन्द-पुराणके अनुसार जब मकर

राशिमें सूर्यके साथ बृहस्पति भी हों और इस योगमें पूर्णिमा पड़ जाय तब प्रयाग और गंगाद्वार (हरिद्वार या गंगोत्री)में गंगाजी साक्षात् पुष्कर-तुल्य हो जाती हैं और उस समय वहां स्नान करनेसे करोड़ों सूर्य-ग्रहणोंके स्नानका पुण्य मिलता है। इसी प्रकार जब सिंह राशिमें सूर्य और बृहस्पति मिल जाते हैं और इस योगमें गुरुवारको पूर्णिमा पड़ जाय तब गोदावरी, नदीमें पुष्कर-योग लगता है, जब कृष्ण पक्षकी अष्टमीको मेष राशिमें सूर्य और बृहस्पति पहुंच जायें तब कावेरीमें और श्रावणमें गुरुवार या सोमवारको अमावास्या या पूर्णिमाके दिन सूर्य और गुरु एक ही राशिमें पहुंच जायें तब कृष्णा नदीमें पुष्कर-योग या कुम्भ-पर्व होता है। यह योग विभिन्न स्थानोंपर बारह-बारह वर्षके अन्तरपर पड़ता रहता है। आजकल कृष्णा और कावेरीपर कुंभ नहीं लगता है, उनके बदले उज्जैनमें लगने लगा है।

चार सिंह

संवत् १८५५–५६ में भगवान् रामचन्द्रके चरण-कमलोंसे पावन बने हुए चित्रकूट और उसके आस-पासकी विन्ध्य-पर्वत-मालाओंमें अटन करते हुए, विन्ध्य पर्वतके रमणीय स्थलों और तीर्थोंका दर्शन करके सं० १८५७ में बनखण्डीजी महाराज उदासीन जब मार्गमें एक पहाड़ी तालपर पहुंचे तो उस समय वे देखते क्या हैं कि चार सिंह वहाँ जल पी रहे हैं। बनखण्डीजीने निर्भय हो कर अग्नि जलाई, तालमें स्नान किया और बैठकर प्रणवका जप करने लगे। धीरे-धीरे चारों सिंह स्वामीजीके पास आए और पालत कुत्तोंके समान पूंछ हिलाकर सिर झुकाकर चलते बने। सं० १८५८ में उन्होंने मानसरोवरकी यात्रा की। भारतकी प्रसिद्ध पुण्य-पयस्विनियोंको जन्म देनेवाले उस विराट् मानसरोवरका दर्शन

करके वे एक वर्षतक हिमालयकी पहाडियोमें ही विचरण करते हुए स० १८६१ में हरिद्वार आए और वहाँ बहुत दिनोतक कनखलवाले बाबा मनोहरदासजी उदासीन तथा अन्य साधुओको योगाभ्यास सिखाते रहे ।

गुरु-पूजाके दिन आम

जब वे अपनी मडलीके साथ गोहाटी घूम रहे थे उन दिनो एक विचित्र घटना घटी । गोहाटीमें स्वामीजी नित्य अपनी मडलीके साथ श्रीमद्‌भागवतके ग्यारहवें स्कधका एक अध्याय और गीता तथा उदासीन-मात्राके मन्त्रोका पाठ करते थे। इसी बीच आषाढ शुक्ला पूर्णिमाको गुरुपूजा आ पडी। भारतीय नियमके अनुसार गुरपूजाके दिन सभी विद्यार्थी और शिष्य अपनी-अपनी श्रद्धा-भक्तिके साथ यथाशक्ति, यथा-सामर्थ्य अपने अपने गुरुओकी पूजा किया करते हैं। कुछ लोगोंका यह विश्वास है कि इस अवसरपर गुरुको रसाल (आम) प्रदान करनेसे अक्षय पुण्य तथा अभिलषित ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिये प्राय इस पर्वपर सब शिष्य लोग अन्य ऋतु-फलोंके साथ अपने गुरुओको आम भी समर्पित करते हैं। दुर्भाग्यसे उस वर्ष असममें आम हो नहीं पाए। इधर सब शिष्य-मडलीको भी यह चिन्ता थी कि किसी न किसी प्रकार आम मिलना ही चाहिए नहीं तो पूजा अपूर्ण रह जायगी। जब ये लोग चारो ओरसे निराश हो गए तब उन्होंने अत्यन्त नम्रताके साथ वनखण्डीजी महाराजसे जाकर निवेदन किया—

"गुरुदेव ! आज आम न मिलनेसे हमारी पूजा अधूरी हो रही है। इसलिये आपसे अत्यन्त विनीत प्रार्थना है कि हमारी यह कामना पूरी करें, क्योंकि आप सर्व शक्ति-सपन्न हैं, आपके लिये कुछ भी असभव नहीं है।" स्वामीजीने झट अपनी झोली-में हाथ डाला और उसमेंसे सिद्ध-गुटिका निकालकर एक

साधुको देते हुए आदेश दिया कि इस योग-गुटिकाको मुखमें रखनेसे तुम क्षण भरमें दिल्ली पहुँच जाओगे। इसके प्रभावसे तुम तो सब कुछ देख सकोगे पर तुम्हें कोई नहीं देख सकेगा। सिद्ध-गुटिका मुखमें रखते ही वह साधु सचमुच अदृश्य हो गया और थोड़ी ही देरमें सुन्दर पके हुए आमोंसे भरी झोली लेकर आ पहुँचा। यह चमत्कार देखकर सब साधु और भक्त गद्गद कंठसे बनखण्डीजी महाराजकी प्रशंसा करने लगे; और फिर उन्होंने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे गुरुदेवकी पूजा की। इस प्रकार लगभग एक वर्षतक बनखण्डीजी महाराज असम देशमें ही निवास करते रहे।

नरबलि बन्द

जिन दिनों स्वामीजी मद्रास-प्रान्तका भ्रमण कर रहे थे, उन्हीं दिनों आश्विन शुक्ला अष्टमी सं० १८४१ को वे मदुरा (दक्षिण मथुरा) जा पहुँचे। उन दिनों इस नगरका शाक्त राजा देवीपर नर-बलि चढ़ाया करता था। उसका क्रम यह था कि दूध-पेड़ा खिलानेके बहाने वह अनेक साधुओं और यात्रियोंको फँसा लेता था और फिर पकड़कर उन्हें बलि चढ़ा देता था। यह अत्याचार देखकर वहाँकी एक दयालु महिलाने अपना आटे-दालका सदाव्रत चलाया जहाँ आने-वाले सभी साधुओं और यात्रियोंको वह सचेत कर देती थी कि राजाके दूध-पेड़ेवाले सदाव्रतमें न जाइएगा। इस प्रकार यद्यपि उस देवीने सहस्रों मनुष्योंके प्राण बचा लिए थे फिर भी कुछ न कुछ भूले-भटके वहाँ पहुँच ही जाते थे और अपने प्राणसे हाथ धो बैठते थे। जब बनखण्डीजी महाराजने मदुरा पहुँचकर उस देवीका आतिथ्य ग्रहण करके यह नरबलि-वाला समाचार सुना तो उनके मनमें बड़ी करुणा उत्पन्न हुई और वे स्वयं अपने साथ एक साधुको लेकर राजाके दूध-पेड़ेवाले सदाव्रतके बहाने बन्दी हो गए। अपने चमत्कारसे

उन्होंने वन्दी-गृहके सब द्वार खोलकर वहाँ नरबलिके लिये एकत्रित साधुओं तथा स्त्रियोंको मुक्त कर दिया। जब राजाको यह समाचार मिला तो वह अत्यन्त भय-भीत होकर स्वामीजीके पास आया और क्षमा माँगने लगा। स्वामीजीने उससे कहा कि नर-बलि देकर तू मानवत्व और ईश्वरत्व दोनोंका उपहास कर रहा है। यदि तेरे राज्यमें यही होता रहा तो मैं तुझे शाप देकर सपरिवार भस्म कर दूंगा। शापकी बात सुनकर राजा गिड़गिड़ाने लगा और प्रतिज्ञा की कि मैं भविष्यमें कभी नर-बलि नहीं दूंगा। वह स्वामीजीका शिष्य हो गया और उसके साथ-साथ नरमेधका पाप भी सदाके लिये बन्द हो गया।

ठगोंकी विद्या कीलित

सं० १८४२ में वे रामेश्वर, लंका, मलाबार, पद्म-नाभ, जनार्दन, और जंगयार भी घूम आए। सं० १८४२ में दक्षिण-यात्रा करते समय गोसाईं साधुओंका एक छोटासा दल भी स्वामीजीके साथ हो लिया जो मोतियोंका व्यापार करता था। कुछ मंत्र-तंत्र जाननेवाले ठगोंने पहलेसे ही यह ताड़ लिया था, इसलिये उन्होंने इन गोसाइयोंको अभिमंत्रित बैंगन खिलाकर उन्हें ऐसा बाँध लिया कि यदि वे ठग "बैंगन उठ" कहते तो सब गोसाईं खड़े हो जाते और "बैंगन बैठ" कहते तो सब बैठ जाते थे, किन्तु फिर भी वनखण्डीजी महाराजके कारण वे मोती नहीं हथिया पा रहे थे। वनखण्डीजीको ज्यों ही इन ठगोंके कुकृत्यका ज्ञान हुआ, त्यों ही उन्होंने अपनी योग-सिद्धिसे उलटे उन ठगोंको ही बाँध दिया। स्वामीजीके इस प्रभावसे वे सब व्याकुल होकर उनके चरणोंमें आ गिरे और क्षमा माँगने लगे। दयालु स्वामीजीने उन ठगोंके मन्त्रोंको सदाके लिये कीलित कर दिया और वहाँसे उन्हें विदा किया।

नर-भक्षक अघोरियोंसे मुक्ति

सं० १८७२ की ज्येष्ठ शुक्ला पूर्णिमाको रामेश्वरको ओर जाते समय दो गोसाईं गुरु-चेले भी उनके साथ हो लिए। जब उन्होंने लम्बा मार्ग छोड़कर छोटे मार्गसे रामेश्वर पहुँचनेका विचार प्रकट किया तब स्वामीजीने उन्हें बहुत समझाया कि इस मार्गमें नर-भक्षक अघोरी रहते हैं, वे आप लोगोंको छोड़ेंगे नहीं। किन्तु उन लोगोंने स्वामीजीकी एक न मानी और साथ छोड़कर चल दिए। स्वामीजी महाराज अपने सहयात्री गुजराती सेठके साथ थोड़ी दूर हो गए थे कि उन्हें तत्काल यह अन्तर्ज्ञान हुआ कि दोनों गुरु-शिष्य गोसाईं संकटमें पड़ गए हैं। उन्होंने गुजराती सेठको उन दोनोंकी विपत्ति-कथा बताते हुए कहा—

"पहले तो उन्हें एक पीपलके नीचे तिलकधारी माला-ब्रह्मचारी मिला जो उन्हें फुसलाकर भीतर गुफामें ले गया। वहाँ एक सरोवरके तटपर आग जल रही थी और बहुत-से पशु-पक्षी बैठे हुए थे। तत्काल उस ब्रह्मचारीने राक्षसका रूप धारण करके दो बकरोंको मारकर उन्हें अग्निमें पकाकर, जल पीकर निद्रा ली। यह सब देखकर अब उन दोनो गुरु-शिष्य गोसाइयोंके सिर चकराने लगे हैं और अब वे मेरा स्मरण करने लगे हैं।" सेठने स्वामीजीसे प्रार्थना की कि महाराज इनकी रक्षा कर लीजिए। स्वामीजीने 'अच्छा' कहकर फिर कहना प्रारम्भ किया—

"मैंने उन्हें सुबुद्धि दे दी है। दोनोंने मिलकर अपने चिमटे आगमें तपा लिए हैं और अब वे उस सोए हुए राक्षसकी आँख फोड़नेवाले हैं। लो फोड़ दी और दोनों वहाँसे निकल भागे।"

रामेश्वर पहुँचनेपर गुजराती सेठने सचमुच देखा कि वे दोनों गुरु-शिष्य सकुशल आ पहुँचे हैं और उनके सम्बन्धमें

स्वामीजीने जो घटना सुनाई थी वह अक्षरशः सत्य निकली। उसके पश्चात् अनेक प्रदेशोंमें घूमते हुए कपिल-गंगामें स्नान करके वे फिर बम्बई लौट आए।

जलपोतको गति-दान

श्रीरामेश्वरकी यात्रा करके जब स्वामीजी लंकासे लौटे तो वे समुद्रके बीच एक पहाड़ी द्वीपपर योगाभ्यास करने लगे। वहीं उनके मनमें यह संकल्प हुआ कि रामेश्वर होकर मलाबार चला जाय। उनका यह सोचना ही था कि अचानक एक व्यापारी जलपोत, भोज्य सामग्रीके अभावमें तथा समुद्री प्रभंजनके वेगसे उस द्वीपके पास आ लगा। उस जलपोतके दो-चार साहसी नाविक ऊपर चढ़कर स्वामीजीके पास आए और उनसे अपनी कष्ट-कथा कहकर भोजनकी याचना करने लगे। स्वामीजीने अपने सिद्धिबलसे सेंठकी मिट्टीकी हँड़ियामेंसे इतना भोजन निकाल-निकालकर दिया कि वे भी तृप्त हो गए और अपने साथियोंके लिये भी ले गए। किन्तु जलपोत वहाँसे सरकनेका नाम न लेता था। तब वनखण्डीजीने कहा कि हमारे चढ़नेपर ही जलपोत चलेगा। अतः वनखण्डीजीने उस जलपोतपर जैसे ही अपनी साधु-मण्डलीके साथ पदार्पण किया वैसे ही वह जलपोत चल निकला और स्वामीजी रामेश्वर पहुँच गए। वहाँसे वे तो मलाबारकी ओर चल दिए और जलपोतने अपना मार्ग ग्रहण किया।

बम्बईकी वापी,

इस पूरी यात्रामें वे केवल स्वयं ही अनुभव और ज्ञान नहीं प्राप्त कर रहे थे वरन् अनेक सन्तों और गृहस्थोंको उपदेश भी देते चलते थे। उनकी वाणीमें इतनी सरसता और मधुरता थी, उनके नेत्रोंमें इतना तेज और प्रभाव था कि जो उन्हें सुनता, जो उन्हें देखता, वही उनका शिष्य हो जाता। इस प्रकार

घूमते-घामते वे बम्बईमें पश्चिमकी उस समुद्री पार्वत्य वेलापर पहुँचे जो निरन्तर गुरु-गम्भीर स्वरसे महालक्ष्मीका स्तोत्रपाठ किया करता है। उसीके पास स्वामीजी महाराजने सन् १८७५ में अपनी धूनी जगाई। सहस्रों भक्त प्रतिदिन वहां दर्शन और उपदेशके लिये आने लगे। उन दिनों नलकी व्यवस्था नहीं थी और सागरका क्षार जल अपेय था। जलका कष्ट देखकर स्वामीजीके मनमें यह संकल्प हुआ कि मधुर जलका स्रोत यहांसे फूट पड़े। उनके तपोबल और योगबलसे उस आश्रममें धूनीके पास ही एक जल-धारा फूट निकली और देखते-देखते एक वापीके रूपमें परिणत हो गई। यद्यपि बम्बई कौर्पोरेशनके नियमानुसार यह वापी ऊपरसे ढँक दी गई है किन्तु आज भी अनेक भक्त अरिष्ट-शान्ति तथा भूत प्रेत-बाधाकी शान्तिके लिये उस जलका प्रयोग करते हैं और यों भी अनेक धार्मिक पुरुष उसी जलका व्यवहार करते हैं।

बम्बईका आश्रम

इस वापीके प्रकट होनेके पश्चात् स्वामीजी निरन्तर इसीमें स्नान करते थे और इस कारण इस वापीका जल उनके नित्यस्पर्शसे वास्तवमें पुण्यतोय हो गया था। बम्बईमें लोगोंने इतना आग्रह किया कि स्वामीजी छः मासतक वहीं टिके रहें, किन्तु फिर उन्होंने अपने छोटे गुरुभाई बाबा गुरुमुखदासजीको उस (महालक्ष्मीके पासवाले) अपने आश्रममें बैठाकर अपने साथ दो साधु तथा छोटे गुरुभाई बाबा सन्तदास तथा अभ्यागत साधु गंगारामको लेकर वहांसे प्रस्थान किया। तबसे यह आश्रम निरन्तर साधुबेलाके अन्तर्गत ही रहता चला आया है।

भील सरदारका अत्याचार

सं० १८७६ में स्वामी बनखण्डीजी महाराज अनेक वन

बम्बईमें श्रीमाधुवेला आश्रम

१५
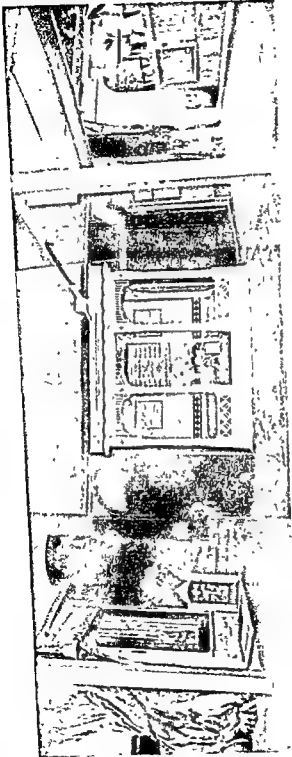
सिन्धु-निवास

प्रान्तोंमें परिभ्रमण करते हुए जब दाऊद-गोदड़ीके वनमें पहुँचे तो वहाँ एक भीलोंका गाँव मिला जहाँके अत्याचारी सरदारका नियम था कि वह अपने गाँवमें आए हुए साधुओं-से चमत्कार दिखानेको कहता था और यदि वे न दिखा सकते तो उन्हें बन्दी करके उनसे चक्की पिसवाता था। जब स्वामीजी वहाँ पहुँचे तो इनसे भी यही कहा गया। इन्होंने झट एक मुट्ठी गेहूँ लिया और ज्यों ही वह गेहूँ चक्कीमें पड़ा त्यों ही सब चक्कियाँ अपने आप चलने लगीं। यह देखकर वह सरदार स्वामीजीके चरणोंमें आ गिरा और उनकी आज्ञासे सब साधुओंको मुक्त करके उसने फिर किसीको कष्ट न देनेका व्रत ले लिया। फिर सं० १८७६में स्वामीजीने गिरनारमें जाकर शिवरात्रि की। वहाँसे अनेक तीर्थोंमें होते हुए वे सिन्ध देशमें जा पहुँचे।

आश्रम-स्थापनाका संकल्प

इस प्रकार भारतवर्षकी उत्तरी सीमा कश्मीरसे लेकर दक्षिणमें लंकातक और पूर्वमें आसामसे लेकर पश्चिम-में अरबके बन्दरगाह अदन और मसकत-तकका प्रदेश भली-भाँति घूमकर, विभिन्न प्रदेशोंकी जल-स्थल—वायु-प्रकृतिका अध्ययन करके, इन विभिन्न प्रदेशोंमें रहनेवाले पशु-पक्षियों और मनुष्योंकी वृत्तियोंका भली भाँति अनुशीलन करके, विभिन्न तीर्थोंमें घूमकर, उनके इतिहाससे पूर्णतः परिचित होकर तथा साधुओंकी संगतिसे धर्म तथा आत्म-तत्त्वके सब रहस्य समझकर अब वे पूर्णतः सर्वसिद्धि-सम्पन्न हो गए थे और उनके मनमें यह भी संकल्प धीरे-धीरे जम रहा था कि किसी एक स्थानपर पहुँचकर वहाँ आश्रमकी स्थापना करके साधुओंके एकान्त साधनका कोई केन्द्र स्थापित किया जाय और वहाँसे लोक-कल्याणका मार्ग भी प्र[illegible]िया जाय।

प्रान्तोंमें परिभ्रमण करते हुए जब दाऊद-गोदड़ीके वनमें पहुँचे तो वहाँ एक भीलोंका गाँव मिला जहाँके अत्याचारी सरदारका नियम था कि वह अपने गाँवमें आए हुए साधुओं-से चमत्कार दिखानेको कहता था और यदि वे न दिखा सकते तो उन्हें बन्दी करके उनसे चक्की पिसवाता था। जब स्वामीजी वहाँ पहुँचे तो इनसे भी यही कहा गया। इन्होंने झट एक मुट्ठी गेहूँ लिया और ज्यों ही वह गेहूँ चक्कीमें पड़ा त्यों ही सब चक्कियाँ अपने आप चलने लगीं। यह देखकर वह सरदार स्वामीजीके चरणोंमें आ गिरा और उनकी आज्ञासे सब साधुओंको मुक्त करके उसने फिर किसीको कष्ट न देनेका व्रत ले लिया। फिर सं० १८७६में स्वामीजीने गिरनारमें जाकर शिवरात्रि की। वहाँसे अनेक तीर्थोंमें होते हुए वे सिन्ध देशमें जा पहुँचे।

आश्रम-स्थापनाका संकल्प

इस प्रकार भारतवर्षकी उत्तरी सीमा कश्मीरसे लेकर दक्षिणमें लंकातक और पूर्वमें आसामसे लेकर पश्चिम-में अरबके बन्दरगाह अदन और मसकत-तकका प्रदेश भली-भाँति घूमकर, विभिन्न प्रदेशोंकी जल-स्थल—वायु-प्रकृतिका अध्ययन करके, इन विभिन्न प्रदेशोंमें रहनेवाले पशु-पक्षियों और मनुष्योंकी वृत्तियोंका भली भाँति अनुशीलन करके, विभिन्न तीर्थोंमें घूमकर, उनके इतिहाससे पूर्णतः परिचित होकर तथा साधुओंकी संगतिसे धर्म तथा आत्म-तत्त्वके सब रहस्य समझकर अब वे पूर्णतः सर्वसिद्धि-सम्पन्न हो गए थे और उनके मनमें यह भी संकल्प धीरे-धीरे जम रहा था कि किसी एक स्थानपर पहुँचकर वहाँ आश्रमकी स्थापना करके साधुओंके एकान्त साधनका कोई केन्द्र स्थापित किया जाय और वहींसे लोक-कल्याणका मार्ग भी प्रशस्त किया जाय।

१५

सिन्धु-निवास

साधु-चरन-रज परसि कै, दुख सब जाय पराय।

उदासीन स्वामी वनखण्डीजी महाराजने जिस समय सिन्धु-देशमें पदार्पण किया उस समय उनके छोटे गुरुभाई बाबा सन्तदास, अभ्यागत साधु गंगाराम और दो साधु भी साथ थे; शेष साथके साधुओंको उन्होंने बम्बईमें ही छोड़ दिया था। घूमते-घामते सं० १८७८ में वे सिन्धु-प्रदेशके ठट्ठानगरमें जा पहुँचे। वहाँ जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्राचार्यजीकी धूनीको प्रणाम करके वहाँसे नौकापर कोटरी तथा हैदराबाद होते हुए ये करांची आए और वहाँ लगभग छः मासतक टिके रह गए। श्रद्धालु सिंधियोंका इतना विशाल जन-समूह इनका भक्त हो गया कि वह किसी प्रकार भी इन्हें करांचीसे बाहर नहीं जाने देना चाहता था। फिर भी

सं० १८७८ के कार्तिकमें वे हैदराबाद जा पहुँचे और दीवाली वहीं व्यतीत की।

महामारीका शमन

जिस समय वनखण्डीजी महाराज हैदराबादमें पहुँचे उस समय विसूचिका रोग प्रचण्ड महामारीका रूप धारण करके सारे नगरमें इस प्रकार व्याप्त था कि उसने कालदूत बनकर बड़े वेगसे वहाँके नगरवासियोंको अपने विकराल मुखमें भरना प्रारम्भ कर दिया था। वहाँका श्मशान शव-भूमि बन गया था। कोई घर ऐसा शेष नहीं रह गया था जिसमेंसे आर्त्त-रोदन और चीत्कार न सुनाई पड़ता हो। महामारीका यह अकाण्ड ताण्डव तथा जन-विध्वंस देखकर वनखण्डीजी महाराजका कोमल चित्त करुणार्द्र हो उठा। उनकी दैवी शक्ति, सिद्धि और चमत्कारकी कथा तो पहले-से ही चारों ओर व्याप्त हो चुकी थी इसलिये अनेक गृहस्थ इस विपत्तिकी वेलामें अपनी और नगरकी करुण-कथा लेकर उनके पास आने लगे और विपत्ति दूर करनेकी प्रार्थना करने लगे। स्वामीजी महाराज तो पहले ही इसके लिये कृत-संकल्प हो चुके थे। उन्होंने तत्काल गौका दूध अभिमन्त्रित करके विभूतिके साथ उन्हें देते हुए कहा—

"इसमें गङ्गा-जल मिलाकर नगरके चारों ओर परिक्रमा करते हुए इस जलको गिराते जाओ। ऐसा करनेसे इस नगरकी सीमासे यह महामारी दूर हो जायगी।"

नगरके मुखियोंने वनखण्डीजी महाराजका चरणामृत भी इसमें मिलाकर उस अभिमन्त्रित जलसे सारा नगर धो दिया।

हर्षोल्लास

इस क्रियाका इतना चमत्कारी प्रभाव हुआ कि श्मशान उजड़ गया, उजड़े हुए घर बसने लगे, महामारी समाप्त हो गई और एक सप्ताहके भीतर ही वह विध्वस्तप्राय

नगर फिर आनन्द-श्री-सम्पन्न और प्रसन्न दिखाई देने लगा। सारे सिन्ध भरमें इस उपकारकी कथा विद्युद्गतिसे व्याप्त हो गई। झुण्डके झुण्ड नर-नारी ऐसे अलौकिक महापुरुषके दर्शनके लिये एकत्र होने लगे। स्वामीजीके वासस्थानपर नित्य श्रद्धालुओंका मेला लगने लगा, जिनमें सब वर्णों और सब वर्गोंके लोग सरल भावसे सम्मिलित होते थे। लोग उनके श्रीमुखसे हरिनाम और उपदेश भी सुनने आने लगे। इनके अतिरिक्त सैकड़ों अन्य गृहस्थ भी न जाने कितनी कामनाएँ लेकर उनके पास आते और उनका आशीर्वाद ले जाते।

प्रस्थानका संकल्प

इस प्रकार उपदेश देते हुए और जनताका कल्याण करते हुए स्वामीजी महाराज लगभग एक वर्षतक वहाँ टिके रहे। इस अवधिके पश्चात् जब उन्होंने वहाँसे आगे बढ़नेका विचार किया तब हैदराबादके प्रमुख नागरिकोंके एक दलने उनकी सेवामें पहुँचकर उनसे प्रार्थना की—

"आप देवता हैं, आपने हमारे नगरकी रक्षा की है। सारा सिन्ध विशेषतः यह नगर आपके उपकारका ऋणी है इसलिये हम सब लोगोंकी यह विनीत प्रार्थना है कि आप यहीं आश्रम बनाकर रहें। उसके लिये आपकी जो भी आज्ञा होगी उसका हम लोग हृदयसे पालन करेंगे।"

स्वामीजीने उत्तर दिया—"मुझे शास्त्रोंमें वर्णित मैनाक पर्वतके खण्ड-कोटि तीर्थको सिन्धु नदमें प्रकट करना है जो सहस्रों वर्षोंसे किसी कारण-वश लुप्त हो गया है। आगम और निगमने अत्यन्त श्रद्धाके साथ विशद तथा उदात्त रूपमें सात जल-प्रवाहोंसे युक्त सप्तसिन्धुके पोषक सिन्धुनद अथवा सिन्धुगंगाका विशद माहात्म्य बताया है। अनेक

धर्म-ग्रन्थों, महाकाव्यों और पुराणोंमें बड़े सम्मानसे इस नदको स्मरण किया गया है, यहाँतक कि दस्यु यवनोंके धर्मान्ध तथा लोलुपता-पूर्ण आक्रमणोंसे पहले सिन्धुमें भी गङ्गा, गोदावरी और शिप्राके समान कुम्भ-पर्वपर विशाल मेला लगा करता था। अब मैं उसी तीर्थको पुनः उद्बुद्ध करके उसी पुण्यस्थलपर जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ। इसलिये मैं यहाँ साधु गङ्गाराम और छोटे गुरुभाई सन्तदास-को छोड़े जाता हूँ। वे यहाँ आप लोगोंकी निरन्तर सेवा करते रहेंगे।"

अकेले प्रस्थान

इस प्रकार सब लोगोंको समझा-बुझाकर और सबको आशीर्वाद देकर वे वहाँसे प्रस्थान करनेका उपक्रम करने लगे। साधु गङ्गारामजी प्रारम्भसे ही वनखण्डीजी महाराज-के साथ थे। इसलिये उन्हें यह प्रस्ताव सुनकर बड़ा क्लेश हुआ और उन्होंने स्पष्ट रूपसे कह भी दिया कि आपके बिना मुझे यहाँ रहनेमें बड़ी व्यथा होगी। किन्तु जैसे रामने भरतको अपनी पादुका देकर मना लिया था, उसी प्रकार स्वामीजीने भी साधु गङ्गारामजीको अपनी चरणपादुका देते हुए कहा—"इस पादुकाकी सेवा किया करना, मैं नित्य प्रातःकाल आपको दर्शन दिया करूँगा।" यह वरदान सुनकर साधु गङ्गाराम सन्तुष्ट हुए और वनखण्डीजी महाराज कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा सं० १८७९ को दीवाली करके हैदराबादसे अकेले चल पड़े।

रोहिड़ीमें

यद्यपि अनेक भक्त उनके साथ चलनेको वहाँ प्रस्तुत थे, किन्तु फिर भी उन्होंने सबको विदा कर दिया और अकेले ही मार्ग ग्रहण किया। खैरपुर पहुँचकर वे एक

पखवाड़े भर वहां रहे और वहांसे सिन्धु नदीके पूर्वी तटपर अवस्थित रोहिड़ी नगरमें जा पहुँचे। वहां उनका सर्वप्रथम परिचय सेठ घूमनमल और सेठ रोझूमलको प्राप्त हुआ। स्वामीजीकी कीर्त्ति तो पहलेसे ही वहां पहुँच चुकी थी। साक्षात् दर्शन करके ये दोनों गृहस्थ बड़े गद्गद हुए और उन्हींसे गुरु-मन्त्र तथा दीक्षा लेकर उनके अनन्य भक्त बन गए। उन्हींके साथ-साथ तुलसीराम नामका एक और भी रोहिड़ी-निवासी भक्त था जो अनन्य भावसे एकनिष्ठ होकर स्वामीजीकी सेवा करता रहा और जो आगे चलकर बाबा विष्णुदासजीके नामसे स्वामीजीका शिष्य भी हुआ।

भक्खरका कोतवाल

पौष कृष्णा द्वितीया सं० १८७६ को जबसे स्वामीजी रोहिड़ी आए तबसे वे सेठ घूमनमल और सेठ रोझूमलके घरमें ही निवास करते रहे। उसी समय उन्हें ज्ञात हुआ कि सिन्धु नदकी बीच धारामें स्थित भक्खर द्वीपमें जो दुर्ग बना हुआ है उसके भीतर अच्छे कुलीन, धनवान तथा प्रतिष्ठित नागरिक भी निवास करते हैं और यहीं अमीरोंकी राजधानी भी है। वनखण्डीजी महाराजकी इच्छा हुई कि चलकर यह दुर्ग देखा जाय। वे नौकारूढ होकर भक्खर आए और वहां घूमते-घामते उन्होंने उस दुर्गके दुर्ग-पति (कोतवाल) श्रीदलपतसिंहजीसे भेंट की। श्रीदलपतसिंहने जिस राजसी ठाटबाटसे उनका स्वागत-सत्कार किया, उसे देखकर श्री वनखण्डीजी महाराजने उनसे पूछा—

"आप कौन हैं? क्या आप वजीर हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया—

"जी नहीं, मैं तो इस दुर्गका कोतवाल (मुख्य मुख्तार) और क्षत्रिय हूँ।"

स्वामी वनखण्डीजी महाराज उनके स्वागत-सत्कारसे इतने प्रभावित हो गए कि सहसा उनके मुखसे यह सिद्ध-वाणी निकल पड़ी—

"अच्छा ! आप शीघ्र ही इस दुर्गके वजीर होंगे।"

वरदान सफल

तीन दिनतक तो स्वामीजी वहीं भक्खरमें ही टिके रहे, फिर रोहिड़ी लौटकर अपने आतिथेय सेठ घूमनमल और रीझूमलके यहां पहुंच गए। स्वामीजीके वचनोंका यह चमत्कार हुआ कि वैशाख कृष्णा द्वितीया सं० १८८० को वरदानके ठीक चौदहवें दिन मीर बादशाहकी ओरसे श्रीदलपतसिंहको वजीरपद प्राप्त हो गया। बीस वर्ष-तक अत्यन्त कर्त्तव्य-निष्ठाके साथ इस महिम पदका निर्वाह करते हुए सं० १९०० में वे वनखण्डीजी महाराजके शिष्य हो गए और स्वामी हरिनारायणदासके नामसे प्रख्यात हुए। वे ही मोरंग-झाड़ीके तपस्वी श्री वनखण्डीजीके शिष्य जौराके अवतार होकर प्रकट हुए थे।

※ ※ ※

२०

तीर्थकी स्थापना

पूजइ मन-कामना तुम्हारी ।

जिन दिनों श्री वनखण्डीजी महाराज रोहिड़ीमें सेठ घूमनमल और रीझूमल (रांझामल) के यहां आतिथ्य ग्रहण करके विश्राम कर रहे थे, उन्हीं दिनों उन सेठोंके छोटे भाई हासानन्दके पुत्र दयारामका झंड (मुण्डन या चूड़ाकर्म संस्कार) होनेवाला था। हिन्दुओंमें प्रायः सभी स्थानों-के लोग किसी तीर्थ-स्थान या देव-स्थानमें जाकर अपने बालकोंका मुण्डन कराया करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो विशेष रूपसे मनौती मनाते हैं और उस मनौतीके अनुसार स्थानोंमें जाकर मुण्डन-संस्कार करते हैं। सिन्धमें भी वहांके हिन्दुओंमें इसी प्रकार तीर्थोंमें जाकर मुण्डन-संस्कार करानेकी प्रथा प्रचलित है। आतिथेय सेठोंने

पहलेसे ही यह सुखनी (मनौती) मान रक्खी थी कि सिन्ध-नदके बीचवाली पहाड़ी (साधुबेला) पर ही मुण्डन करावेंगे, इसलिये उन्होंने श्रीवनखण्डीजी महाराजसे आग्रह किया कि आप भी इस संस्कारमें सम्मिलित होकर बालकको आशीर्वाद दीजिए। स्वामीजीने भी उत्तर दिया कि सिन्धु-गङ्गाके बीचका यह द्वीप कोटितीर्थ नामका मेरु पर्वत है। इससे बढ़कर पुण्यस्थल दूसरा कहाँ प्राप्त होगा! यह प्राचीन युगका अत्यन्त पवित्र तीर्थ है। इसपर न जाने कितने ऋषियोंने कितने सहस्र वर्ष पूर्व वैदिक ऋचाओंके दर्शन करके लोक-कल्याण और आत्म-कल्याण किया था। मेरी स्वयं इच्छा है कि इस तीर्थको पुनः जागरित करूँ और इसमें कुशावर्तघाट तथा चक्रतीर्थ स्थापित करूँ।

बालकोंका मुंडन

सेठोंने जब स्वामीजीका यह पुण्य-संकल्प सुना तो उनके हर्षका पार नहीं रहा। वे तत्काल वही और लोला (मीठी रोटी) उठवाकर अपने पूरे परिवारके साथ बड़े धूमधाम और बाजे-गाजेके साथ स्वामीजीको अग्रणी बनाकर उस द्वीपमें पहुँचे जिसकी एक टेकरी बाबा दीनदयालुके नाम-पर दीनबेला और दूसरी टेकरी बाबा रूखड़दासके नामपर रुखड़बेला कहलाती थी, जहाँ मुसलिम आततायियोंकी कुटिल धर्मान्धताने बाबा रूखड़दास तथा उनके पाँच अनुयायियोंका नृशंस वध कर डाला था और जिसके लिये बाबा रूखड़दासजीने भविष्यवाणी की थी कि एक दिन श्रीवनखण्डीजी महाराज यहाँ आकर धूनी जगावेंगे और दुष्टोंको दण्ड देंगे। वह दिन भी आ पहुँचा।

साधुबेलामें धूनी

बड़ी धूमधाम और ठाठबाटसे बालक दयारामका मुण्डन-संस्कार हुआ। श्रीवनखण्डीजी महाराजने जी-भरकर

आशीर्वाद दिया। दिनभर वहाँ इस प्रकार मङ्गलगान और प्रीति-भोज होता रहा कि यह निर्जन द्वीप उस दिन ऐसा जान पड़ने लगा मानो वहां शताब्दियोंसे जनाकीर्ण बस्ती रही हो। संध्या होनेपर जब सेठ और उनके परिवारवाले चलनेको उद्यत हुए और उन्होंने स्वामीजीसे भी लौट चलनेकी प्रार्थना की तब स्वामीजीने यह समझाते हुए उन्हें विदा किया कि अब मैं इसी स्थानपर अपनी धूनी भी जगाऊँगा, यहीं एकान्त-वास भी करूँगा और इस पवित्र तीर्थको भी अभिव्यक्त करूँगा। अपने परम सेवक और भक्त तुलसीरामको साथ लेकर वे तो वहीं ठहर गए और सेठका परिवार रोहिड़ी लौट आया। उसी दिन वैशाख कृष्णा द्वितीया सं० १८८० को स्वामीजीने साधुबेलामें पहले पहल अपनी धूनी जगाई।

फणका छत्र और वृक्षारोपण

जिस दिन स्वामी बनखण्डीजी महाराजने साधुबेला तीर्थमें अपना आसन जमाया और धूनी जगाई उसके दूसरे ही दिन वैशाख शुक्ला तृतीया सं० १८८० को वे एक वस्त्र बिछाकर दोपहरको वहाँ लेटे हुए थे जहाँ आज-कल सभा-मण्डप बना हुआ है। वैशाखके दिनोंमें एक तो यों ही धूपमें तीक्ष्ण उष्णता होती है उसपर उस निर्जन निष्पादप पहाड़ीपर तो उत्तरायण सूर्यकी रश्मियोंने धूपमें भयंकर प्रचण्डता भर दी थी, इसलिये कोई भी प्राणी घड़ी आधघड़ीके लिये भी उस धूपमें नहीं बैठा रह सकता था। स्वामीजी महाराज ज्यों ही सोए त्यों ही एक बड़ा-सा मोटा काला नाग पासकी झाड़ीसे निकला और स्वामीजीके पास पहुँचकर अपना विशाल चौड़ा फन फैलाकर उनके मुखपर छाया करके बैठ गया। थोड़ी देरमें स्वामीजीकी आँखें खुलीं तो उन्होंने देखा कि एक विशाल काला नाग उनके पास फन झुकाए बैठा हुआ है। एक क्षणका भी विलम्ब

नहीं हुआ कि उस कामरूप इच्छाचारी नागने मनुष्य रूप धारण करके हाथ जोड़कर नम्र निवेदन किया कि इस निर्जन, निर्वृक्ष, प्रदेशमें निदाघ कालमें आपको बड़ा कष्ट होगा इसलिये आप कृपया यहां वृक्षकारोपण कीजिए और यहीं अपना आसन स्थिर करके इस द्वीपको सिन्धुका तीर्थ बनाइए। इसी प्रेरणासे स्वामीजीने वहाँ अपने हाथसे तीन वटवृक्ष लगाए और उनका नाम ब्रह्मा, विष्णु और महेश रक्खा। गद्दीसाहबके दाहिनेवाला ब्रह्मा, बाईं ओर वाला विष्णु और सामनेवाला महेश्वर है।

श्रीचन्द्राचार्यजीका सन्देश

स्वामीजी तो वहाँ तीर्थ प्रकट करनेके लिये आए थे अतः उन्होंने तपस्या करनेका विचार निश्चय किया। उस द्वीपपर उन दिनों खब्बड़की बहुतसी झाड़ियाँ उगी हुई थीं। उन्हींमेंसे एक झाड़ीके बीचमें ब्रह्मालणा स्थानपर बैठकर स्वामीजीने जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्राचार्यजीकी आराधनाके लिये तपस्या प्रारम्भ कर दी। स्वामी बनखण्डीजी महाराजके हाथमें सब सिद्धियाँ तो पहलेसे ही विराजमान थीं और योगकी प्रक्रियाएँ भी उन्हें सिद्ध ही थीं, इसलिये उन्हें अपनी इष्ट-सिद्धिमें तनिक भी विलम्ब नहीं हुआ। उनकी तीव्र निष्ठा और संयत एकाग्रताके कारण थोड़े ही दिनोंमें जगद्गुरु श्रीचन्द्राचार्यजी महाराज साक्षात् प्रकट होकर उनके सम्मुख आ खड़े हुए और अनेक प्रकारके अयाचित वरदान देने लगे। सब अभिलषित वरदान दे चुकनेपर उन्होंने यह आज्ञा की—

"वत्स! यदि इस पुण्य स्थलको तीर्थ रूपमें प्रतिष्ठित करना है तो यहांकी अधिष्ठात्री देवी माता अन्नपूर्णाकी स्थापना करो और पूर्ण मनोयोगसे उनकी उपासना भी करो। उन्हींकी कृपा और करुणासे तुम्हारा संकल्प सिद्ध होगा।"

यह कहते कहते जगद्गुरु श्रीचन्द्राचार्यजी महाराज अन्तर्धान हो गए।

२१

माता अन्नपूर्णाका वरदान

यत्सर्वकामानि सदा फलेयुः !

अपने परम जगद्गुरु श्री श्रीचन्द्राचार्यजी महाराजका यह दिव्य तथा अलौकिक सन्देश सुनकर स्वामीजीके हृदयमें नवीन आशा और अपरिमित स्फूर्ति उद्बुद्ध हुई। स्वामीजीने अविलम्ब विश्वकी परम-पोषिका शक्ति माता अन्नपूर्णाकी उपासना प्रारम्भ कर दी। उन्होंने इस शक्तिको सिद्ध करनेके लिये जो अनुष्ठान प्रारम्भ किया वह भी इतना असाधारण था कि नौ दिन पूर्ण होते ही 'वरं ब्रूहि', 'वरं ब्रूहि' का स्नेहपूर्ण आदेश देती हुई माता अन्नपूर्णा प्रकट हो गईं।

माता अन्नपूर्णाके दर्शन

स्वामी वनखण्डीजी महाराजने माता अन्नपूर्णाका जो ध्यान किया था, ठीक वही मूर्ति उनके नेत्रोंके सामने साक्षात् खड़ी

थी। मनोहर रक्त वर्णवाली, रंग-बिरंगे दिव्य वस्त्र धारण किए हुए, ललाटपर अपनी लहराती हुई कुन्तल राशिके आगे द्वितीयाका चन्द्र धारण किए हुए, अपने हाथोंमें अन्नका अक्षय भाण्डार लिए हुए भव-दुःखहारिणी भगवती अन्नपूर्णा इस प्रकार हर्षमुख स्मितवदना होकर खड़ी थीं मानो नृत्य-मग्न तथा नवचन्द्रकी कलासे विभूषित महेश्वरको देखकर प्रसन्न होती हुई अभी चली आ रही हों। उन्होंने फिर एक बार उस मूर्तिका मानस आराधन किया—

'रक्तां विचित्रवसनां नवचन्द्र-चूडा-
मन्न प्रदाननिरतां स्तन-भारनम्राम्।
नृत्यन्तमिन्दुशकलाभरणं विलोक्य
हृष्टां भजे भगवतीं भवदुःखहन्त्रीम्।'

हर्षविह्वल होकर उन्होंने जब माता अन्नपूर्णाका पुनः यह मानस स्मरण किया तो उनके नेत्रोंसे आँसू छलछला आए, गला रुँध गया और कुछ देरतक वे उस मूर्तिकी मानसिक आराधना करते रहे। उसके पश्चात् उन्होंने आँखें खोलीं तो पुनः उनका दर्शन पाते ही स्वामीजीकी सिद्ध वाणी मुखरित हो उठी और वे भावपूर्ण तन्मयताके साथ स्तुति करने लगे—

त्वमेव सृष्टि-स्थिति संल्लयाकरी
त्वमेव विश्वं परिपालिनीशा।
त्वमेव माया सचराचरे स्थिता
त्वमेव विश्वात्मक्रियात्मिका सदा॥
त्वमेव शश्वत्स्थिर-भूति-दायिनी
त्वमेव नित्यं भवसंपदात्मिका।
त्वमेव कल्याणकरा सुदुःखिनां
त्वमेव वात्सल्यमयी च भूतले॥
त्वमन्नपूर्णे! जगदेकमूर्ते!
सुपूर्ण-भांडारभरा हि सर्वदा।
इह स्थिता देवि! तनोतु पुण्यं
यतसर्वकामानि सदा फलेयुः॥

याचना

सब स्तुति कर चुकनेपर उन्होंने इसी वरकी याचना की—

"हे जगज्जननी! यदि आप वास्तवमें मुझसे सन्तुष्ट हैं तो यही वरदान दीजिए कि इस तीर्थपर अन्नका निरन्तर अक्षय दान होता रहे। जो भी साधु, सन्त, महात्मा, छात्र तथा अभ्यागत यात्री यहाँ आवें, उन्हें किसी प्रकारका भोजन-कष्ट न हो, वे सदा अपनी कामनाएँ पूर्ण करके आपकी जयजयकार मनावें और आपकी मङ्गल-कीर्ति गाकर अपना कल्याण करें।"

तत्काल सर्वशक्तिमती माता अन्नपूर्णाने बड़ी हरीतकी (हड़)-का बना हुआ एक कमण्डलु स्वामीजीको देते हुए कहा—

"वत्स! जबतक लोगोंकी श्रद्धा-भक्ति सजीव रहेगी तबतक इस कमण्डलुके प्रभावसे कभी किसी समय आश्रममें अन्नकी कोई कमी नहीं होगी। जब भी जितने भी अतिथि यहाँ आयेंगे, किसीको भोजनका कष्ट न होगा।"

यह मङ्गलमूल आशीर्वाद देती हुई भगवती जगदम्बा अन्नपूर्णाजी अदृश्य हो गईं और गुप्त रूपसे उसी तीर्थमें निवास करने लगीं।

कन्याभोज

उसी दिन स्वामीजीने आस-पासके सक्खर, भक्खर, रोहिड़ी आदि सब नगरोंकी कन्याओंको निमन्त्रण दिया। कमण्डलुका दर्शन करनेके लिये विशाल जन-समूह एकत्र होने लगा। रंग-बिरंगे वस्त्रोंसे सज्जित नर-नारियोंसे लदी असंख्य नावें इस उपेक्षित निर्जन शैल-द्वीपकी ओर बढने लगी और थोड़े ही समयमें इतने लोग वहाँ एकत्र हो गए कि द्वीपपर तिल रखनेको स्थान न रहा। माता अन्नपूर्णाकी कृपासे वहाँ अब कमी किस बातकी रह गई थी। उस समय न

तो अन्न की कमी थी और न-आज-कल जैसा अश्रद्धालु बुभुक्षा-पीड़ित युग था, इसलिये जितने श्रद्धालु गृहस्थ उस कमंडलु-दर्शन तथा कन्या-भोजके समारोहमें आए थे, वे सभी अपनी ओरसे जितना अन्न लाए उससे उस द्वीपमें एक अन्नकूट ही खड़ा हो गया। बड़ी श्रद्धा और अत्यन्त स्नेहसे स्वामीजी महाराजने उन कन्याओंको भोजन कराया और फिर यथा-विधि सबका पूजन करके सबको विदा किया। यह कन्या-भोजकी प्रथा आजतक भी आश्रममें होती चली आती है। आश्विन तथा चैत्रके नवरात्रमें अष्टमीके दिन भगवती दुर्गा अन्नपूर्णाकी आराधनाके उपलक्ष्यमें प्रतिवर्ष यह कन्या-भोज होता रहता है।

देव-स्थापन

इस घटनाके पश्चात् तो आसपासके सभी प्रदेशोंके नरनारी इस पुण्य-स्थलको तीर्थ मानकर निरन्तर दर्शनके लिये आते रहे। स्वामीजीने भी धीरे-धीरे इस द्वीपको वास्तविक तीर्थ बनानेके पवित्र उद्देश्यसे यहाँ क्रमशः आदिदेव गणेशजी, हनुमानजी, सत्यनारायण भगवान्, पिप्पलेश्वर तथा वटेश्वर आदि देवताओंकी प्राण-प्रतिष्ठा की और इस तीर्थका नाम उन्होंने रख दिया श्रीसाधुबेला, क्योंकि स्वामीजीकी प्रेरणासे अनेक साधु यहाँ आकर रहने भी लगे और निरन्तर आते-जाते भी रहे।

घाट-निर्माण

साधुओंके अतिरिक्त अनेक गृहस्थ भी विभिन्न नगरोंसे नावोंपर आते ही रहते थे, किन्तु घाट न होने से उन्हें बड़ी असुविधा होती रहती थी। इसलिये स्वामीजीने उस द्वीपके चारों ओर बीस घाट बनवाए और उनका नाम रक्खा—राजघाट, वरुणघाट, गौघाट, हरिद्वारघाट, गणेशघाट,

देवीघाट, कृष्णघाट, रामघाट, कुशावर्तघाट, सरस्वतीघाट, सूर्यघाट, विष्णुघाट, शिवघाट, ब्रह्माघाट, दुःखभंजनघाट, त्रिवेणीघाट, यमुनाघाट, भैरवघाट, यमघाट तथा कुबेरघाट।

इस द्वीपपर निवास करते हुए स्वामीजीको एक वर्ष हो गया था और इस थोड़ी अवधिके भीतर ही इस निर्जन तथा नीरस द्वीपको उन्होंने सुन्दर तीर्थमें परिणत कर दिया था। इस अल्प कालमें ही उन्होंने इस तीर्थके आध्यात्मिक वातावरणको और भी अधिक सुन्दर, प्रशस्त और भावमय बना दिया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि मुसलिम प्रभावसे भावित परम नास्तिक लोगोंके मनमें भी धर्मके प्रति आस्था जाग उठी और सैकड़ों वर्षों की मुसलमानी चाल-ढालमें पले हुए लोग भी इस तीर्थसे आध्यात्मिक प्रेरणा तथा मानसिक तुष्टि प्राप्त करनेके लिये आने लगे।

पुनः तीर्थयात्रा

एक वर्षमें उस द्वीपका कायापलट करके सं० १८८१ में ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशीको वे गोदावरी-कुम्भपर स्नान करनेके लिये नासिकको चल दिए। उनके साथ इस यात्रामें शिकारपुरकी लटवाली धर्मशालाके महन्त श्यामदास भी थे। वहाँसे ये उज्जैन-कुम्भसे होते हुए ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी सं० १८८३को पुनः साधुवेला लौट आए। नासिक और उज्जैनमें गुरुवर स्वामी मेलारामजीसे भी इनकी भेंट हुई थी और जब उन्होंने यह सुना कि हमारे शिष्यने साधुवेला-तीर्थका प्रवर्तन किया है तब तो उनके आनन्दकी सीमा न रही। उन्होंने हृदयसे आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे संकल्प परिपूर्ण हों, तुम्हारी कामनाएँ फलवती हों, तुम्हारी सिद्धियाँ अचल रहें और तुम्हारे कार्यो और प्रयत्नोंसे लोक-मंगल हो।

❋ ❋ ❋

२२

अमरनाथकी यात्रा

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा।

लगभग तीन वर्षतक साधुबेलामें निवास करनेपर श्रीवनखण्डीजी महाराजके मनमें यह संकल्प उदय हुआ कि एक बार पुनः तीर्थदर्शन कर आया जाय। फलतः सं० १८८६ की वैशाखी पूर्णिमाका स्नान करके वे दूसरे दिन अपने साथ बंबईवाले गुरुभाई गुरुमुखदासजीको साथ लेकर अमरनाथके लिये चल दिए।

स्वयंभू तुषारलिङ्ग

कश्मीरके पूर्वकी ओर समुद्रतलसे लगभग सोलह सहस्र फुट ऊँचेपर अमरनाथ नामक प्रसिद्ध तीर्थ अपना भव्य वन्य वैभव लेकर अवस्थित है, जहाँ महादेवजीका स्वयंभू तुषार-लिंग अमरनाथ या अमरेश्वरके नामसे प्रतिष्ठित है। यहाँ प्रतिवर्ष

श्रावण मासकी पूर्णिमा (रक्षाबंधन) के दिन असंख्य धर्मनिष्ठ हिन्दू यात्री हरिद्वारसे देवधुनी भागीरथीका पुण्यजल लेकर अमरनाथका अभिषेक करने जाते हैं। ग्रीष्मके दिनोंमें भी जब गंगा-सिन्धुके विस्तृत कछारोंकी समथल भूमिमें निवास करनेवाले लोग खसकी रावटीको जलसिक्त करके ग्रीष्मका ताप शान्त करनेका कृत्रिम उपाय करते हैं, जब उन प्रदेशोंमें जलती हुई गर्म लू अपने प्रचंड उष्ण थपेड़ोंसे मनुष्य, पशु-पक्षी तथा वनस्पतियोंका जीवन सोखती हरहराती हुई चलती है, उस समय भी इस पर्वतके शैल-शिखर हिमकी मोटी चादरसे ढँके खड़े रहते हैं। चारों ओरके इस हिम-धवल, एकरस, शून्य सौंदर्यके आतंकसे न घास उगती है, न वृक्ष ही पनपते, हैं, न अन्य जीव ही यहाँ रह पाते हैं।

दुर्गम पथ

पैरमें चुभनेवाली कँटीली, नुकीली, पथरीली चट्टानोंसे वहाँका दुर्गम पथ, और भी अधिक कष्टकर हो गया है। सहस्रों प्रस्तर-खण्ड और हिम-शिलाएँ इस प्रकार संधिस्खलित होकर स्थान-स्थानपर बाहर निकली हुई हैं कि यदि कोई यात्री ठठाकर हँस दे, उच्च-स्वरसे पुकार दे अथवा झटकेसे पैर पटक दे तो सारी शिलाएँ खड़खड़ाकर उसके सिरपर आ गिरें। भाद्रपद मासमें तो रात-दिन इतनी भयंकर वृष्टि होती रहती है और कभी-कभी हिम-प्रभंजनके साथ इतनी हिम-वर्षा भी होने लगती है कि बड़ेसे बड़े साहसीका धैर्य भी विचलित हो जाता है। फिर भी सब विघ्न-बाधाओंसे युद्ध करते हुए, अवर्णनीय कष्ट झेलते हुए, लगभग दो सहस्र यात्री, कश्मीर राज्यकी सहायतासे अमरनाथके स्वयंभू-लिंगका दर्शन कर ही आते हैं।

अमरनाथका दर्शन

इस अमरनाथके पथमें जो इक्कीस तीर्थ पड़ते हैं

उनमेंसे अन्तिम है पचतरगिणी, जहाँ एक पार्वत्य स्रोतकी पाँच धाराएँ, ऊपर पर्वतसे पाँच झरने बनाती हुई नीचे गिरती है। इस तीर्थमें स्नान करके सब यात्री अपने सब वस्त्र तथा अन्य सब खाद्य सामग्री वहीं छोडकर, या तो भूर्जपत्रके वस्त्र पहनकर या पूर्णत. नगे नगे ही आनन्दोल्लाससे हर-हर महादेव करते हुए वहाँसे लगभग एक कोस दूरीपर अवस्थित अमरेश्वरकी गुफापर जा पहुँचते हैं। इस गुफाका मुख लगभग बत्तीस हाथ चौडा है, जिसमेंसे चलकर भीतर पचास हाथतक सीधा मार्ग है और फिर दाहिने घूमकर लगभग सोलह हाथ आगे ऊपरसे टपकती हुई जलधाराओसे युक्त इस शीतमय गुफामें निर्मल स्फटिकके समान धवल महादेवजीका विशाल स्वयभू तुषार-लिंग चमकता है। यह स्वयभू-लिंग चन्द्रमाकी कलाके साथ-साथ घटता-बढता भी रहता है। पूर्णिमाके दिन इस स्वयभूलिंगके पूर्ण दर्शन हो जाते हैं। उसके पश्चात् क्रमश प्रतिपदसे उसकी एक-एक कला घटने लगती है, यहाँतक कि अमावस्याके दिन वह तुषार-लिंग पूर्णत लुप्त हो जाता है। योगसिद्ध स्वामी वनखण्डीजी महाराजके लिये उन कष्टोका कोई महत्व न था। जिन दुर्गम मार्गोंको पार करनेमें यात्रियोको कई दिन लग जाते थे उन्हें वे इच्छा मात्रसे पार कर जाते थे। अमरनाथकी यात्रा पूर्ण करके पौष कृष्णा द्वादशी स० १८८६ को वे साधुबेला लौट आए।

इस प्रकार श्री वनखण्डीजी महाराज निरन्तर समय-समयपर तीर्थाटन करते रहे और स० १६२० तक साधुबेलामें लोक कल्याण करते हुए निवास करते रहे।

※ ※ ※

२३

साधुबेलामें चमत्कार

गुणाः पूजास्थानम् ।

पूज्य स्वामी वनखण्डीजी महाराजके चमत्कारके विषयमें इतनी कथाएँ प्रसिद्ध हैं कि उन सबको एक स्थानपर संग्रह कर देने मात्रसे एक विशाल ग्रंथका निर्माण हो सकता है। सबसे अधिक चमत्कारकी बात तो यह थी कि साधुबेला तीर्थमें जो भी कोई साधु, सिद्ध, संन्यासी, फ़कीर आते और जो कुछ उनकी भोजनकी इच्छा होती वह सब बड़े अपूर्व ढंगसे उपस्थित हो जाता। कभी तो वे अपने शिष्यों-को आदेश देकर जलपर तैरती हुई हाँडियाँ मँगवाकर श्रद्धालु भक्तोंमें बँटवा देते थे जिनमें सबको अपनी-अपनी इच्छाकेअनुसार वस्तुएँ मिल जाती थीं; कभी एक ही पात्रमेंसे हाथ डालकर सबकी इच्छानुसार अलग-अलग प्रसाद दे देते थे। कभी कोई

साधु खीरके लिये मचला तो झट अन्नपूर्णाजीके मदिरसे उसे खीर मिल जाती थी।

चमत्कार

कभी ऐसी भी घटना हुई कि भडारी श्रीमद्भागवत सुनने चला गया और दाल-भाजीमें पानी डालना ही भूल गया तो वह दाल-भाजी जल-सहित तैयार हो गई। एक बार जब सिन्धुका पानी साधुबेलापर अधिक चढने लगा तो उन्होने अपनी धूनीसे चिमटा उठाकर पहाड़ीके चारो ओर जहांतक घुमाया, उस सीमासे ऊपर यह नद आजतक कभी नहीं बढा, यहांतक कि एक बार तो तीव्रगामी नदके प्रवाहसे भयभीत भक्तोके लिये उन्होने साधुबेलाके दोनो ओरके जलको आदेश दे दिया कि यहां धीरे बहा करो और आजतक भी सिन्धु-नद उनका यह आदेश मानता चला आ रहा है। आज भी मुसलमान मल्लाह जब अन्नसे भरी नौका लेकर सक्खर आते है तो वे दो-तीन मुट्ठी अन्न धारामें डालकर कहते है कि वनखण्डी साहबजी! हमारा बेडा शान्तिसे पार लगाओ। और सचमुच उनकी नौका तटपर लग जाती है।

लोक-मगल

उनके पास एक छोटीसी पतीली थी। उसीमें वे चावल चढा देते थे और पक जानेपर उसपर चादर डालकर जितने लोग आते थे सबको उसी एक पतीलीसे भोजन करा देते थे। पुराणोंमें कथा है कि द्रौपदीके पास भी कोई एक ऐसी पतीली थी, जिसमें कभी अन्न कम नहीं होता था और जितने अतिथि आते थे, सभी तृप्त हो जाते थे। वही चमत्कार इनकी पतीलीमें भी विद्यमान था। इसी प्रकार अनेक ऐसे व्यवसायी मोदी, जिनका साधुबेला तीर्थसे लेनदेन चलता रहता था, यदि पैसा मिलनेमें सदेह करते तो झट

स्वामीजी कभी अपनी धूनीमें और कभी अपनी गुदड़ीके नीचे इतनी अपार स्वर्ण-संपत्ति दिखला देते थे कि वे सब लज्जित होकर अपना सा मुँह लिए रह जाते थे। इतना ही नहीं, न जाने कितने गृहस्थ अपनी व्यथा, रोग, दरिद्रता आदिकी कथा लेकर वहाँ आते थे और स्वामीजीका प्रसाद पाकर अपनी इच्छाएँ तृप्त करके चले जाते थे। उनके आशीर्वादसे न जाने कितनी अपुत्रा देवियोंको मातृत्वका सौभाग्य प्राप्त हुआ, न जाने कितने पुराने रोगियोंको नव-जीवनका सुख प्राप्त हुआ, न जाने कितने निरर्थक बैठे हुए लोगोंको ऊँचे पद मिले और न जाने कितने दरिद्रोंको अपार धनराशि प्राप्त हुई। केवल मनुष्य ही नहीं, उनसे संपर्क रखनेवाले, उनके आस-पासतक पहुँचनेवाले न जाने कितने जीव भी उनकी कृपा पाकर तर गए। सिन्धुकी प्रचण्ड धारामें बहते हुए, प्राण-संकटमें पड़े हुए, न जाने कितने सिंहों, मृगों, श्वानों तथा अन्य जीवोंको स्वामीजीने अपने योगबलसे निकालकर उन्हें जीवन प्रदान किया था। भारत-वर्षके विभिन्न प्रदेशोंसे सहस्रों साधु, सिद्ध, महात्मा, फकीर और गृहस्थ उनके दर्शनके लिये, उनके मधुर उपदेश सुननेके लिये, उनसे योगकी क्रिया सीखनेके लिये समय-समयपर आते रहते थे और पूर्णतः संतुष्ट होकर वहाँसे जाते थे।

परीक्षाके इच्छुक साधु

कभी-कभी ऐसे साधु, फकीर और तान्त्रिक लोग भी वहाँ आ जाते थे जो स्वामीजीके चमत्कारोंका या तो प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहते थे अथवा उनकी परीक्षा लेना चाहते थे। किन्तु उनमेंसे कोई भी ऐसा न निकला जो स्वामीजीकी सिद्धिसे परास्त न हुआ हो, लज्जित न हुआ हो और उनसे क्षमा माँगकर न गया हो। उनके विषयमें यह प्रसिद्धि है कि जिन्दापीरके अधिष्ठाता देवता वरुणदेवके साथ (जिन्हें ख्वाजा

खिज्र या उडेरेलाल कहते हैं), वे पैरोंमें खड़ाऊँ पहनकर सिन्धु-नदीको धारापर इस प्रकार चलते थे मानो सड़क-पर चल रहे हों। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रसिद्ध सिद्ध न जाने कहाँ-कहाँसे आकर उनके साथ बैठकर नित्य सत्संग करते थे। उनका सत्त्विक निश्छल विश्व-प्रेम संपूर्ण ब्रह्माण्ड भरमें व्याप्त हो गया था इसीलिये असंख्य हिन्दू-मुसलमान उनके अनन्य शिष्य और भक्त होकर सदा उनका गुणगान किया करते थे, जिसका परिणाम यह था कि वे, जिधर भी निकलते उधर ही उनके उपकारसे दबे, उनकी कृपासे पले श्रद्धालु गृहस्थ उनकी सेवाके लिये उपस्थित हो जाते।

दिनचर्या

वे नियमसे नित्य प्रात.काल ब्राह्म-मुहूर्तसे भी पूर्व छः घड़ी रात रहते लगभग तीन बजे ही जाग जाते थे या बाबा हरिनारायणदासजी उन्हें जगा देते थे। अँधेरे मुँह सिंधु-गंगामें अवगाहन करके जल-पात्र भरकर पहले वे पगतवाले महादेवजीको अभिषिक्त करते थे। उसके पश्चात् शीतकालमें अन्नपूर्णाजीके मंदिरमें तथा गर्मीके दिनोंमें ब्रह्मालणामें बैठकर भजन करते थे। भजन करनेके उपरान्त तुलसीस्थलके आलवालमें जल देकर उदयोन्मुख सहस्ररश्मि भगवान् भास्कर-देवको अर्घ्य देकर और प्रणाम करके वे दस बजे गद्दीपर आकर बैठ जाते थे। प्रेमियोंको दर्शन देने तथा अभ्यागतोंसे स्नेह-पूर्वक कुशल-मंगल पूछ चुकनेके उपरान्त वे छात्रोंको अध्यापन करते थे। वे बड़े .मधुर वक्ता दार्शनिक और विवेचक भी थे। पंगतसे पूर्व तो वे नित्य श्रीमद्भागवतकी कथा करते थे और संध्याको छः बजे योग-वाशिष्ठकी कथा कहकर रातको गोपाल-गप्फे (सायंकालका भोजन) के पूर्व पारस-भाग तथा स्वामीजीके श्लोकोंकी विवेचना करते थे। प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी और अमावास्याको वे रामायणकी भी कथा कहते थे

क्योंकि उन दिनों पाठका अनध्याय रहता था। इस नियमित जीवनका यह परिणाम था कि उनकी योगक्रियाएँ ज्योंकी त्यों बनी रहीं और उनका शरीर भी अन्ततक अत्यन्त तेजस्वी, दिव्य और स्वस्थ बना रहा।

× × ×

२४

जैसेको तैसा

कृते प्रति कृतं कुर्याद्धिंसने प्रति हिंसनम् ।

जबसे स्वामी वनखण्डीजी महाराज उस द्वीपपर पहुँचे तभीसे आसपासके मुसलमान फ़कीर उनकी वृद्धिगत प्रतिष्ठाके कारण ईर्ष्या करने लगे थे। उन दिनों सक्खरके दुर्गमें एक मुसलमान फ़कीर रहता था जिसे सिन्धके मीर लोग अपना पूज्य मानते थे। जब उसने देखा कि साधुबेलाके निर्जन द्वीपपर एक साधु आकर धूनी जगा रहा है और हिन्दू-मुसलमान सभीपर प्रभाव जमाता चला जा रहा है तब तो उसकी रही-सही शान्ति भी विह्वल हो उठी और वह फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी सं० १८८०-को साधुबेलामें आकर स्वामीजी महाराजसे कहने लगा कि आप यहांसे डेरा-डंडा लेकर कहीं दूसरी ठौर जाकर धूनी रमाइए, यहां हम आपको नहीं रहने देंगे। स्वामीजीने उसकी बात सुनी और हँस दिए।

अभेद्य दुर्ग

अपनी यह उपेक्षा, अपमान और उपहास देखकर वह और भी अधिक चिढ़ गया और उसने निश्चय किया कि रातको जब यह साधु सो जायगा उस समय इसकी कुटिया उजाड़ दी जायगी। रात हो जानेपर वह मुसलमान फ़कीर अपने साथ सात-आठ गुण्डे लेकर ज्यों ही साधुबेलाके द्वीपपर उतरा त्यों ही देखता क्या कि है उस द्वीपके चारों ओर एक विशाल लोहेका प्रचण्ड दुर्भेद्य दुर्ग बना खड़ा है जिसके सिंह-द्वारपर अनेक प्रहरी जागरूक होकर पहरा दे रहे हैं। पहले तो वह फकीर दो-तीन बार परिक्रमा लगाकर कहींसे भीतर घुसनेका उपक्रम करता रहा किन्तु अन्तमें जब पूर्व क्षितिजपर उषाने झाँकना प्रारम्भ किया उस समय उस फकीर और उसके साथियोंकी आँखोंसे ज्योति लुप्त होने लगी। वे बन्दी कर लिए गए और स्वामीजीके सम्मुख पहुँचाए गए। श्रीवनखण्डीजी महाराजके सम्मुख पहुँचकर और उनका स्वर सुनकर वे सब अत्यन्त आर्त्त स्वरमें स्वामीजी-को पुकार-पुकारकर उनकी दोहाई देने लगे और अपने दुष्कृत्योंके लिये क्षमा माँगने लगे। उदार-हृदय स्वामीजी महाराजने उनके नेत्रोंमें अपनी धूनीकी विभूति लगाकर उन्हें ज्योति प्रदान की और इस आदेशके साथ उन्हें विदा किया कि फिर कभी इस प्रकारकी धृष्टता न करना। भीगी बिल्लीके समान वे सब पूँछ दबाकर भाग निकले और उन्होंने अपने कान पकड़े कि फिर कभी इस साधुसे छेड़-छाड़ नहीं करेंगे।

दूसरा कुचक्र

इसी प्रकार फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी सं० १८८० को पुराने सक्खरके एक मुसलमानने रोहिड़ीके मुसलमानोंके साथ मिलकर यह षड्यंत्र किया कि किसी न किसी प्रकार वनखंडीजी महाराजको साधुबेला तीर्थसे हटाकर उसपर अपना अधिकार

कर लिया जाय। पुराने सक्खरवाले मुसलमान इस कुचक्रसे सहमत नहीं थे। उन्होने स्पष्ट कह दिया कि यह हिन्दू उदासीन साधु है, उसे नहीं सताना चाहिए। फिर भी रोहिडीके यवन ही बलपूर्वक उन सक्खरवाले सज्जन मुसलमानोको साथ लेकर नौका-रूढ होकर साधुबेलाकी ओर बढ चले। ज्यों ही वे लोग आगे बढ़े त्यो ही सक्खरवाले मुसलमानोको छोड़कर शेष सबकी नेत्र ज्योति लुप्त होने लगी और वे सब अन्धे हो गए। तब सक्खरवाले मुसलमानोने कहा कि साधुओका बुरा चाहनेका फल यही होता है, अब जाकर उसके पैरों पडकर क्षमा माँगो तभी तुम्हें आँखें मिलेंगी। वे सब तो आँखो-बिना बेचैन हो चले थे इसलिये वे सब साधुबेला पहुँचकर स्वामीजी-के चरणोमें गिर पडे और रो रोकर अपनी करनीपर पछताने लगे। उन्हें तभी नेत्र-ज्योति मिली जब उन्होंने स्वामीजीके सामने सच्चे हृदयसे अपना अपराध स्वीकार किया और क्षमा माँगी।

काजीजी

ऐसी ही घटना वैशाख शुक्ल द्वितीया स० १८८५ को भी हुई। मौसमशाह मुनारेके पासके एक काजीने अपने साथके मुन्शियोको यह आदेश दिया कि जाकर वनखण्डी बाबाको साधुबेलासे हटा दो। ज्यो ही उसके मुँहसे ये वचन निकले त्यो ही उसकी आँखें जाती रहीं और वह अन्धा हो गया। उसके साथके मुन्शियोने कहा कि ये सिद्ध पुरुष हैं, मीरोकी ओरसे उन्हें साधुबेलाका अधिकार-पत्र मिला हुआ है, उन्हें छेड़ना और हटाना सरासर अन्याय है। उन्हींके क्रोधसे आपकी आँखें जाती रही हैं। यह सुनकर वह झट स्वामीजीके पास गया, उनसे क्षमा माँगी और फिरसे नेत्र-ज्योति प्राप्त की।

सम्मिलित षड्यन्त्र

एक बार स्वामीजीको वर्द्धमान प्रतिष्ठासे कुढ़कर रोहिडीवं

पीर, फ़कीर तथा मुसलमान भूपतियोंने निश्चय किया कि सामने तो इस पहुँचे हुए उदासीन साधुका कुछ बिगाड़ा नहीं जा सकता इसलिये जब यह रातको समाधि लगाकर बैठे तब इसे उठाकर नदीमें फेंक दिया जाय और सदाके लिये समाप्त कर दिया जाय।

दुष्टोंको दंड

वैशाख कृष्णा दशमी सं० १८६८ की बात है कि ज्यों ही दुर्विनीत मुसलमान पाप-कर्मका संकल्प लेकर साधुबेला पहुँचे त्यों ही स्वामीजीने समाधि तोड़कर आँखें खोल दीं। अब तो उन दुष्टोंके पास कोई चारा रह नहीं गया था इसीलिये वे लोग धुआँधार उनपर पत्थर बरसाने लगे। किन्तु विचित्र बात यह हो रही थी कि स्वामीजीके शरीरके जिस स्थानपर पत्थर लगता था वहाँसे रक्तके बदले दूधकी धारा बह निकलती थी। इतना ही नहीं, जिन हाथोंसे आततायियोंने पत्थर फेंके वे ऊपर उठेके उठे ही रह गए और इस प्रकार सूख गए जैसे लूसे झुलसे हुए वृक्षकी निष्पत्र शाखा हों। स्वामीजीने उन्हें शाप दिया कि तुम साधुओंको कष्ट देते हो इसलिये अब तीन वर्षके भीतर ही विदेशी फिरंगी गोरे आकर तुम्हारा मदबल विचूर्ण करके अपना राज्य स्थापित करेंगे और तुम श्वानोंकी भाँति उनके सामने पूँछ हिलाओगे। यह सुनकर और अपनी दुर्दशाका अनुभव करके वे लोग आर्त होकर रोने लगे और क्षमा माँगने लगे। तब स्वामीजीने उन्हें उस समय क्षमा कर दिया पर उनकी सूखी हुई बाहें कहीं एक मासमें जाकर सीधी हुईं। इसी प्रकार अनेक बार अनेक गुण्डोंने साधुबेलामें उपद्रव करनेका प्रयत्न किया किन्तु जिन्होंने भी छेड़छाड़ की अथवा स्वामीजीके सम्मुख आकर अहंकार दिखलाया, अथवा उन्हें अपमानित करनेका प्रयत्न किया, उन सबने मुँहकी खाई और इस प्रकार पराजित तथा लज्जित हुए कि कहीं मुँह दिखाने योग्य भी न रहे।

२५

साधुबेलाके नाग

सन्तनकी सेवा करत रूप धारि बहु देव।

साधुबेलामें जिस स्थानपर स्वामीजी तपस्या करते थे उस योगपीठ या ब्रह्मालणेके चतुर्दिक अत्यन्त सघन खब्बरकी वन्य झाड़ियाँ थीं, जिनमें पूर्ववर्णित इच्छाचारी नागके अतिरिक्त एक मणिधर नाग भी निवास करता था। यह मणिधर नाग निरन्तर स्वामीजीकी सेवामें निरत रहता था और इच्छाचारी नाग प्रहरीके समान द्वार-रक्षक बनकर स्वामीजीकी कुटियाके द्वारपर कुण्डली मारे समासीन रहता था। इस नागकी विशेषता यह थी कि केवल स्वामीजीके शिष्य बाबा विष्णुदासजीको छोड़कर अन्य सबको अपने भयंकर फूत्कारसे भयभीत करके भगा देता था। यह इच्छाचारी नाग प्रतिदिन बालकका रूप धारण करके सिन्धुके प्रवाहमें बहती हुई सिद्धान्नकी हाँड़ियाँ लाकर

स्वामीजीको देता रहता था, जिसमेंसे स्वामीजी साधुबेलाके सब साधुओं तथा अतिथियोंको भोजन करा लेनेपर अन्तमें उन दो नागोंको भी प्रसाद देकर तृप्त करते थे।

पालेहुए नाग

इन दो नागोंके कारण शनैः शनैः साधुबेलामें नागोंके प्रति इतनी सद्भावना व्याप्त हो गई कि कोई आश्रमवासी कभी किसी नागको छेड़ता नहीं था और यदि कोठारमें अथवा किसी अन्य स्थानपर कोई नाग बैठा भी दिखाई दे जाता, तो बनखण्डीजीका नाम लेते ही वह नाग वहाँसे हटकर चला जाता था। ये दोनों नाग स्वामीजीसे इतने हिलमिल गए थे कि जिस समय वे अवकाश पाकर तुलसीस्थलपर आकर बैठते थे, उस समय ये दोनों नाग भी उनके पास आकर अनेक प्रकारसे क्रीड़ा करने लगते थे। कभी तो ये स्वामीजीके गलेमें माला बनकर लटक जाते थे, कभी बाहुमें कुण्डली मारकर अंगद (भुजबंध) बन जाते थे, और कभी कानोंमें कुण्डल बनकर लटक जाते थे। नागोंकी इस स्नेह-लीलाके कारण उस समय वे साक्षात् पशुपति महादेवके समान प्रतीत होने लगते थे। उस समय जो भक्तगण दर्शनार्थ आते भी थे तो वे इन नागोंसे संत्रस्त होकर दूरसे ही प्रणाम करके बैठ जाते थे।

भक्त नाग

पहले तो इन दोनों नागोंका यह क्रम था कि तीनों समय-की कथाके समय अपने बिलोंमेंसे निकल-निकलकर व्यास-गद्दीके नीचे चुपचाप कथा सुनते थे किन्तु जब श्रोताओंकी संख्या बढ़ चली और बहुतसे भक्त लोग इन नागोंसे त्रस्त होने लगे तब भाद्रपद शुक्ला दशमी सं० १८८३ को स्वामीजीने उन दोनों-को आज्ञा दी कि तुम गद्दीके नीचे वाले वट वृक्षके नीचे जाकर अलग-अलग बिलोंमें निवास करो, क्योंकि तुम्हारे कारण हमारे

भक्तोंको बड़ा कष्ट होता है। इसपर इच्छाचारी नागने तत्काल मनुष्य-रूप धारण करके हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की—

"हे जगद्गुरु! राजाधिराज! यदि आप आज्ञा दें तो मैं मनुष्यका रूप धारण करके आपकी कथा श्रवण किया करूँ। उस रूपमें किसीको मुझसे भय भी नहीं होगा।"

स्वामीजीने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और वह उस दिनसे मानव-रूप धारण करके ही कथा सुनता रहा।

विष्णुदासजीपर नागका आक्रमण

श्रावण कृष्णा अष्टमी सं० १८६४ की बात है। रातको गोपाल-गफ्फा हो चुकनेके पश्चात्, श्रीवनखण्डीजी महाराज आश्रममें साधुओं और भक्तोंको विष्णुपुराणकी कथा सुना रहे थे। संयोगसे उनके शिष्य विष्णुदासजीको झपकी आने लगी। उस दिन तो स्वामीजीने उन्हें जगाकर सावधान कर दिया। किन्तु जब वे दूसरे दिन भी कथाके बीचमें झपकी लेने लगे, तब स्वामीजीके आदेशानुसार काष्ठ-सिंहासनके नीचेवाले बिलमेंसे एक काला नाग निकला और झट बाबा विष्णुदासकी टांगोंमें कसकर लिपट गया। विष्णुदासजीकी आँखें खुलीं। काले नागको कसकर लिपटे देखकर पीड़ासे वे चिल्लाने लगे। तब स्वामीजीने उन्हें डाँटा कि तुम ध्यान देकर कथा क्यों नहीं श्रवण करते हो। यह कहकर उन्होंने सर्पको आदेश दिया कि और भी वेगसे दंशन करो। अब तो वह सर्प और भी अधिक कठोरतासे कसकर विष्णुदासके शरीरमें लिपटकर उन्हें काटने लगा। विष्णुदासजी और भी अधिक व्याकुल होकर आर्तनाद करने लगे। इस विषधरका विष शरीरमें व्याप्त होनेसे वे मूर्च्छित हो गए, उनके मुखसे झाग आने लगी और वे काष्ठवत् होकर गिर गए। अन्य जितने साधु-सन्त वहाँ उपस्थित थे, वे सब भी करुणासे हाहाकार करने लगे। अन्तमें जब स्वामीजीने देखा कि

पर्याप्त दण्ड हो चुका है, तब उन्होंने नागको चले जानेकी आज्ञा दी। तत्काल नाग अन्तर्धान हो गया और फिर स्वामीजीने अपने योगबलसे क्षण भरमें श्री विष्णुदासजीको प्रकृतिस्थ करके आदेश दिया कि कथा ध्यान देकर सुननी चाहिए। कथाके समय निद्रा लेना घोरतम पाप है।

नागोंका लोप

ये दोनों नाग स्वामीजीके ब्रह्मनिर्वाणके पश्चात् तबतक आश्रममें रहे, जबतक स्वामी हरिनारायणदासजी गद्दीपर बने रहे। ये दोनों गुप्त रूपसे अपने बिलोंमें बैठकर नित्य चुपचाप कथा सुनते रहे और प्रतिदिन दूध पीकर चले जाते रहे, किन्तु हरिनारायणदासजीके ब्रह्मनिर्वाणके पश्चात् स० १९४० से वे दोनों नाग लुप्त हो गए, फिर कभी उनके दर्शन नहीं हो सके।

२६

दाल-भातमें मूसरचन्द

पराधीन सपनेहु सुखनाहीं ।

स्वामीजी महाराजका जिस वर्ष (सं० १८२०) जन्म हुआ था, उसी वर्ष भारतका पूर्वी और मध्य-भाग भारतीय तथा विदेशी राजनीतिक कुचक्रों तथा विप्लवोंसे अत्यन्त त्रस्त और ध्वस्त हो चुका था। पाँच ही वर्ष पूर्व अफगानके शासक अहमदशाह अबदालीने भारत-पर आक्रमण करके दिल्लीको लूटा था और नादिरशाहके दुष्काण्डों तथा अत्याचारोंकी पुनरावृत्ति करके उस नगरके बड़े-बड़े धनी और मानी नागरिकोंको अत्यन्त क्षुद्र अपराधियोंकी यातनाएँ दे देकर उनका धन और मान अपहृत किया था लगभग उसी समय अँगरेजों और फ्रांसीसियोंमें भारतके दक्षिण भूभागको अपने अधीन करनेका तुमुल संघर्ष

चल रहा था। अँगरेजोंने अपनी कूटनीतिसे मद्रासका दुर्ग और कलकत्ता अपने वशमें कर लिया और धीरे-धीरे अपना पग बढ़ाने लगे।

अंग्रेजोंका कुचक्र

बंगालके शासक मीर जाफरने अपनी अयोग्यतासे अपना राज्य खोकर जब अपने दामाद मीर कासिमको अँगरेजोंके हाथसे प्रतिष्ठित करा दिया तब बंगाल और बिहारमें भयंकर अराजकता उत्पन्न हो गई। उस दुराजमें अत्यन्त वेग और निर्दयताके साथ प्रजाका शोषण होने लगा, प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी किन्तु उनकी पुकार सुननेवाला कोई नहीं था। अँगरेजोंके दलाल, कम्पनीके प्रमाणपत्र (दस्तक) से-लेकर बलपूर्वक विलायती सामग्रीका निर्बाध व्यापार करके मुंह-मांगा दाम ले रहे थे। उसमें जो तनिक भी बाधा देता उसके हाथ-पैर बंधवाकर कोड़ोंकी मारसे उसकी पीठ छील दी जाती थी। भारतीय बुनकरोंको बलपूर्वक बुलवाकर उनसे काम कराया जाता था और यदि कोई अस्वीकार करता तो चमड़ेके कोड़ोंसे उनकी भी खाल खींच ली जाती। इन भयंकर अत्याचारोंसे ग्रस्त होकर अनेक सम्मानी नागोड़ों (रेशमके कारीगरों) ने अपने अँगूठे काट लिए और अपनी औद्योगिक आत्म-हत्या कर डाली। मीर कासिमने इसका प्रतिकार करनेके लिये सभी व्यावसायिक सामग्रीपरसे कर हटा दिया इससे वह अँगरेजोंका इतना कोप-भाजन बना कि उसके पश्चात् जो युद्ध हुआ उसमें बंगाल और बिहारकी सेना और कोष पूर्ण रूपसे अँगरेजोंके हाथमें आ गया, नवाब केवल उनके हाथकी कठ-पुतली मात्र बना पड़ा रहा। उधर दक्षिणमें आंध्र-तट और तमिलनाड भी अँगरेजोंकी सत्ताके तले आ गए।

दोनों हाथोंसे लूट

इस सम्पूर्ण अँगरेजी शासनसे आक्रान्त प्रदेशके प्रत्येक जनपदमें एक अँगरेज मुखिया और कौन्सिलकी नियुक्ति हो गई। अँगरेजोंके दलालोंकी इसमें बन आई और उन्होंने दोनों हाथोंसे प्रजाको इतना लूटा कि भारतीय उद्योग-धन्धे समाप्त हो गए और संवत् १८२७ (सन् १७७० ईसवी) में बिहार-बंगालमें इतना भीषण दुर्भिक्ष पड़ा कि बिहार-बंगालकी तीन करोड़ जनतामेंसे एक करोड़ व्यक्ति अन्नके दानेके लिये तरसकर छटपटा-छटपटाकर उन दुष्ट अँगरेज अधिकारियोंको शाप देते हुए समाप्त हो गए जिन्होंने अन्नके व्यापारपर एकाधिकार करके जनताके लिये अन्न दुष्प्राप्य कर दिया था।

अँगरेजी राज

ईस्ट इण्डिया कम्पनीके द्वारा जीते हुए देशपर इंग्लैण्डकी पार्लियामेण्टने अपना अधिकार करके एक नियमन-धारा (रेगुलेटिंग एक्ट) बनाकर बंगाल-बिहारके शासनके लिये कलकत्तेमें चार सदस्योंकी परिषद्के साथ प्रधान-शासक (गवर्नर जरनल) नियुक्त कर दिया और तदनुसार भारतीय इतिहासमें बदनाम वारेन हेस्टिंग्स पहला गवर्नर जनरल हुआ भारतमें अँगरेजोंका झण्डा खड़ा हो गया। दुराज तो मिट गया किन्तु अँगरेजोंके दलालोंका दुष्कांड इतने भयंकर रूपसे व्याप्त हुआ कि प्रजामें हाहाकार मच गया और किसान खेत छोड़-छोड़कर भागने लगे, जिन्हें अभद्र अँगरेज सैनिकोंने अत्यन्त निर्दयताके साथ पुनः खेतोंपर लौटनेके लिये विवश किया।

भारतका दुर्भाग्य

अँगरेजोंसे चिढ़कर और उनके आतंकसे त्रस्त होकर रुहेलखण्डके एक सरदार और अवधके नवाब आसफुद्दौलाने

अहमदशाह अबदालीके पौत्र काबुलके शासक जमानशाहको निमन्त्रण दिया कि भारतपर आक्रमण करके अँगरेजोंसे मुक्ति दिलावें। उधर महादजी शिन्दे भी जमानशाहसे इसी सम्बन्धमें दूतव्यवहार कर रहे थे। उधर फ्रांसमें नेपोलियन बोनापार्त, योरोपके देशोंको रौंदता हुआ मिस्रतक बढ़ आया था। दक्षिणमें महादजी शिन्दे और टीपू सुल्तान भी फ्रांसीसी सैन्य-शास्त्रियोंके द्वारा अपनी सेनाओंको योरोपीय युद्ध-विद्या सिखानेका उपक्रम कर रहे थे। इसी बीच तत्कालीन अँगरेज गवर्नर-जनरल वेल्जलीने अत्यन्त छलकौशलसे हैदराबाद (दक्षिण) भी वशमें कर लिया। और वहाँ ब्रिटिश सेना रख दी। धीरे-धीरे टीपू भी हार गया और भारतके दुर्भाग्यसे अँगरेज बढ़ते चले गए।

पारस्परिक कलह

वारेन हेस्टिंग्सने अपने शासन-कालमें अवधकी बेगमों, बनारसके महाराज तथा अन्य भारतीय राजाओं और नवाबोंके साथ जो घृणित और निंद्य व्यवहार किए थे, उन्हें सुन-सुनकर स्वयं इंगलिस्तानवाले ही उसे भरपेट गालियाँ दे रहे थे और यद्यपि तत्कालीन पार्लियामेण्टने उसपर आरोपित किए हुए निन्दाके प्रस्तावको स्वीकृत नहीं किया किन्तु इंग्लैण्डका बच्चा-बच्चा यह समझ गया कि वारेन हेस्टिंग्स कितना भयंकर नर-पशु और हिंसक प्राणी है। उसे स्वयं अपने ऊपर इतनी ग्लानि हुई कि उसने ऊबकर आत्म-हत्या कर ली। किन्तु उसने अवधको वशमें करनेकी जो नीति निर्धारित की थी वह उसके अनुगामी शासकोंने चलाए रक्खी और रुहेलखण्डतक अँगरेजी शासनकी सीमा बढ़ गई। मराठे राजाओंमें अँगरेजोंकी कूटनीतिसे इतना पारस्परिक संघर्ष छिड़ गया कि वे

आपसमें लड़कर समाप्त हो गए और उनके पारस्परिक कलहका लाभ उठाकर अँगरेजोंने उन्हें भी मुट्ठीमें कर लिया । सन् १८०७ में नेपोलियनने रूस-सम्राट्के साथ सन्धि करके तुरकी और ईरानके सहयोगसे कन्दहार, गजनी और गोमलके मार्गसे भारतपर आक्रमण करनेकी विशाल योजना बनाई । यह सुनकर अँगरेजोंके कान खड़े हुए और उन्होंने ईरान, अफगानिस्तान, सिन्ध और पंजाबमें दूत भेजकर उन देशोंसे आक्रमण होनेकी दशामें सहायता करने और देनेका निमन्त्रण भेजा ।

महाराजा रणजीतसिंह

उन दिनों पंजाबमें महाराजा रणजीतसिंहने सिक्ख-शक्तिके प्रबल प्रतीक बनकर पूरे पंजाबको अपने हाथमें कर लिया था, किन्तु अँगरेजोंकी कूट दुर्नीतिका आखेट होकर महाराजा रणजीतसिंहको भी अँगरेजोंसे सन्धि करनी पड़ी और तीसरे युद्धमें जीते हुए प्रदेश लौटा देने पड़े । अन्तमें यह दिन भी आया कि सिक्ख-राज्य भी समाप्त हो गया और लालसिंहके देशद्रोहके फलस्वरूप सिक्ख-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया पंजाबमें पहले तो रेजीडेण्ट रहा और फिर १८४६ ईसवीमें पंजाब भी पूर्ण रूपसे अँगरेजोंके हाथमें आ गया। इस प्रकार अँगरेजोंने अपनी कूटनीति और रण-कौशलसे कम किन्तु हमारी पारस्परिक फूट देशद्रोहिता, लोभ और मूर्खतासे अधिक शक्ति पाकर यह देश पूर्णतः अपने अधिकारमें कर लिया ।

देश-द्रोही

इस सम्पूर्ण राजनीतिक संघर्षमें जहाँ एक ओर मनस्वी तथा देशप्रेमी भारतीय जी-जानसे विदेशी फिरंगियोंको

मार भगाने और और उन्हें भारतकी सीमासे बाहर निष्कासित करनेकी योजनाएँ बना रहे थे वहाँ हमारे ही देशमें अपने क्षुद्र स्वार्थोंसे प्रेरित होकर अँगरेजोंकी दासतामें स्थान-शुल्क पाने वाले क्षुद्र देश-द्रोहियोंने अपने देशके व्यवसाय और धन्धोंको विदेशियोंके चरणोंमें समर्पित करनेकी चिन्ता ही नहीं की वरन् उन्होंने निर्भीक और निःशंक होकर लोभी अँगरेजोंके संकेतपर अपने ही देश-बन्धुओंके साथ इतना जघन्य व्यवहार आरम्भ किया कि उसकी कथा सुन सुनकर आज भी रोमांच हो उठता है। भारतके विभिन्न राजाओंने सम्राट हर्षवर्धनकी मृत्युके पश्चात् जिस अनेकताका परिचय देकर भारतके उत्तर पश्चिमी सीमा पर्योंसे आततायी आक्रमणकारियोंको भारतीय सीमामें प्रविष्ट होनेका प्रलोभन दिया था वह परिपाटी अँगरेजोंके आगमन-कालतक भी ज्योंकी त्यों चलती रही और उसी दुर्नीतिका यह भयंकर और कष्टकर परिणाम हुआ कि जिस समय भारतको सम्पूर्ण शक्तियोंको एकत्र होकर विदेशी शक्तियोंको बाहर निकाल फेंकना चाहिए था वे अपनी अपनी अलग अलग स्वार्थ-लिप्साको तुष्ट और तृप्त करनेके लिये इनका चरण-चुम्बन करने लगे और जिस प्रकार एक रोटीके लिये दो बिल्लियोंके कलहका निर्णय करनेमें वानरने पूरी रोटी हड़प ली थी उसी प्रकार सहायता देनेके बहाने विदेशी व्यापारियोंने हमारा सर्वस्व हर लिया था और हमें नैतिक, धार्मिक तथा व्यावसायिक दृष्टिसे इतना पंगु बना दिया कि आज स्वतन्त्र होनेपर भी हम अपनी विकलांगता और अशक्तता दूर नहीं कर पाए।

अँगरेजोंके कालचरण

अँगरेजोंने अपनी इस कुनीतिमें यदि केवल प्रदेश-विजय ही,

की होती और मुगलशासकोंके समान यहाँ बसकर यहींके होकर यहींके कल्याण और सुखके लिये यहाँकी सम्पत्ति यहीं लगाकर शासन करते रहते तो संभवतः उनका राज्य और भी कुछ दिन चलता और वे अपने राज्य-शासनके द्वारा जिस ईसाई-धर्मका प्रवर्तन करना चाहते थे वह भी अधिक बल पकड़ता किन्तु अँगरेजोंने जिस प्रदेशपर अपने कालचरण प्रतिष्ठित किए उस प्रदेशके लिये वे महामारीसे भी अधिक त्रासक और भूकंपसे भी अधिक भयंकर सिद्ध हुए। आज तैमूरलंग और नादिरशाहके जिन अचिर-स्थायी आक्रमणों और अत्याचारोंका वर्णन करके आज भी इतिहास दहल उठता है उन नृशंस और दारुण अनाचारोंका अनवरत प्रवाह ही अँगरेजी-शासनका काला इतिहास है, जिस क्रूरतासे अँगरेजोंने बंगाल और बिहार लिया दक्षिणको हथियाया, अवध और पंजाबको पदाक्रान्त किया, मराठोंकी शक्ति छिन्न-भिन्न करके उन्हें अधीन किया उसीकी आवृत्ति उन्होंने सिन्ध-विजयमें भी की।

※ ※ ※

२७

राजमद

अहङ्कारो न तिष्ठति।

त्रिसप्त-सिन्धुमें आर्योंने जिस अभूतपूर्व निष्ठाके साथ लौकिक तथा पारलौकिक पूर्णताकी साधना की थी, उसका स्वर्ण-इतिहास विश्वकी मानवताके विकासका सर्वाधिक गौरवपूर्ण अध्याय है। इस त्रिसप्त-सिन्धुके दक्षिण भाग अर्थात् वर्त्तमान सिन्धका कोई क्रमागत इतिहास यद्यपि प्राप्त नहीं है, किन्तु ऋग्वेदके प्रथम मण्डलके एक सौ छब्बीसवें सूक्तमें सिन्धुवासी राजा भावयव्यका भव्य वर्णन मिलता है जो अत्यन्त कीर्तिशाली, दयावान, सत्यनिष्ठ और सोमयाजी थे। अथर्ववेदमें भी (१४।१।४३ मन्त्र), सिन्धुके साम्राज्यका अत्यन्त विशद तथा प्रशंसापूर्ण वर्णन मिलता है। राजकवि कल्हण और कालिदासने भी सिन्धु देशके राजाओं और योद्धाओंका अत्यन्त

विस्तृत वर्णन किया है। ऐतिहासिक विवरणसे यह ज्ञात होता है कि ईसासे १६० वर्ष पूर्व वहाँ यूनानी राजा अपोलोदोतस राज्य करता था। इसके पूर्व अशोकने इस प्रदेशको अपने राज्यके अन्तर्गत ले ही रक्खा था। यूनानियोंके शासनके पश्चात् शकराज तोरमाणके पुत्र मिहिरकुलने सिन्धुपर आक्रमण किया और वहाँ अपना शासन चलाया। ४६५ ईसवीसे लेकर ६३१ ई० तक एक हिन्दू राय-परिवारके राजा सिन्धुपर शासन करते रहे जिनके अन्तिम राजा राय साहसीको हटाकर उनके राजपुराध्यक्ष ब्राह्मण चाचने सिन्धुका राज्य अपने हाथमें ले लिया। इन्हींके परिवारमें तीसरे राजा डाहिर हुए, जिन्हें ७१३ ई० में मुहम्मद-बिन-कासिमने परास्त करके सिन्धमें मुसलिम साम्राज्यका श्रीगणेश किया।

सिंधके मुसलिम शासक

यह मुसलिम राज्य १७८३ ई० तक कन्दहार और काबुल आदिके साथ सम्बद्ध रहा किन्तु १७८३ में मीर फतेहअली सिन्धु प्रदेशके राजा प्रतिष्ठित हुए। यही तालपुरवाले, मीरवंशके प्रथम राजा थे। इन मीरोंका परिवार बहुत बड़ा था और इन्होंने सिन्धु-प्रदेशको विभिन्न भागोंमें बाँटकर हैदराबाद, मीरपुर और खैरपुरमें शासन करना प्रारम्भ कर दिया था। सन् १८०८ ईसवीमें मीरोंका अंग्रेजोंसे सम्पर्क हुआ। धीरे-धीरे अंग्रेजोंने अपनी चालाकीसे सिन्धको ऐसा मुट्ठीमें किया कि मीरोंको सिन्ध छोड़कर बम्बई, पूने और कलकत्तेमें अंग्रेजोंका आश्रित होकर दृष्टिबद्ध (नजरबन्द) रहना पड़ा और यह प्रदेश सन् १८४३ में पूर्णतः अंग्रेजोंके अधिकारमें आ गया।

सिन्धका भौगोलिक महत्त्व

राजनीतिक दृष्टिसे भारतकी भौगोलिक सीमाओंका पर्यवेक्षण करनेपर यह समझनेमें तनिक भी असुविधा न होगी कि

भारतको उत्तर-पश्चिमी सीमाकी रक्षाके लिये सिन्धपर भारतका ऐसा अधिकार आवश्यक है कि यह उत्तर-पश्चिमकी पर्वत-मालाओंसे पार रहनेवाले देशोंकी आक्रमण-वृत्तिको निष्फल करनेके लिये सफल दुर्ग-बन्ध कर सके। इसलिये पंजाबके महाराजा रणजीतसिहने मुलतान-डेराजातकी विजयके पश्चात् यह निश्चय किया कि सिन्धको भी अपने हाथमें ले लिया जाय, विशेषतः शिकारपुरको ये किसी प्रकार भी छोड़नेको तैयार नहीं थे। उधर अंग्रेजोंके भी दांत सिन्धपर गड़े हुए थे और वे चाहते थे कि महाराजा रणजीतसिहको घेरनेके लिये सिन्धको अपनी मुट्ठीमें कर लेना आवश्यक है।

अग्रेजोकी दाम-नीति

उन्होंने एक नई युक्ति सोची जिससे सिन्धु नदकी गतिका पूरा विवरण उन्हें प्राप्त हो जाय।

तत्कालीन इंगलैण्डके राजाकी ओरसे एक गाड़ी और कुछ घोड़े महाराज रणजीतसिहको भेंटमें देनेके लिये बम्बई भेजे गए। अंग्रेजोंने यह निश्चय किया कि यह सामग्री बम्बईसे करांचीतक जहाजमें भेजी जाय और वहांसे सिन्धु और रावी नदियोंके द्वारा नावोंपर लाहौर भेजी जाय। सन् १८३१ ई० में जब यह बेड़ा सिन्धमें घुसा, उसी समय सिन्धु-तटपर खड़े हुए एक सैयदने हाथ उठाकर कहा—

"या खुदा! सिन्ध अब गया। अंग्रेजोंने सिन्धका रास्ता भी देख लिया।"

महाराजा रणजीतसिहने भी अंग्रेजोंकी चाल ताड़ ली और वे सिन्धकी सीमा दृढ करनेका प्रयत्न करने लगे।

अंग्रेजोकी राजनीतिक चाल

कूटनीतिज्ञ अंग्रेजोंने महाराजा रणजीतसिहकी और उनके कौशलको भली भांति समझ लिया था। पहले तो उन्होंने

सिन्धके अमीरोंको यह सन्धि करने के लिये बाध्य कियाकि सिन्धु नदमें अंग्रेजोंके जहाज आने-जानेकी कोई रोक-टोक न रहे, फिर उन्होंने महाराज रणजीतसिंहसे कहा कि सतलजका मार्ग आप भी अंग्रेजी नावोंके लिये खोल दीजिए। यद्यपि महाराजा रणजीतसिंह इसके पक्षमें नहीं थे, फिर भी न जाने क्यों उन्होंने यह स्वीकार कर लिया और अंग्रेजोंका मार्ग खुल गया।

विश्वासघात

सिन्धके अमीरोंने विदेशी अंग्रेजोंको जिस दिन अपने प्रदेशमें प्रविष्ट होनेकी आज्ञा दी और उनकी सेनाको खुला मार्ग देकर उसका व्यय-भार अपने सिरपर लेकर अपने पड़ोसियोंके विरुद्ध युद्धका केन्द्र बननेकी सुविधा प्रदान की, उसी दिनसे उनका प्रताप अस्त होने लगा और इस विश्वासघात-पूर्ण देश-द्रोहका फल भी उन्हें शीघ्र ही मिल गया।

लार्ड एलेनबेराका आदेशपत्र लेकर सर चार्ल्स नेपियर अपनी आंग्ल वाहिनी लेकर सहसा सिन्धमें आ धमका और उसने वहाँके अमीरोंसे कहा कि सेनाकी रक्षाके लिये रुपया देनेके बदले आप भूमि दे दीजिए और व्यवसाय-व्यवहारके लिये अंग्रेजी मुद्रा स्वीकार कर लीजिए। अभी अमीरोंने इस सन्धि-पत्रपर हस्ताक्षर भी नहीं किए थे कि नैपियरने सिन्ध-प्रदेशमें इस प्रकार शासन, करना प्रारम्भ कर दिया मानो सिन्ध-प्रदेश उसके पूर्वजोंकी सम्पत्ति हो। इस अत्याचारको असह्य समझकर जनताने विद्रोह करके अंग्रेजोंके केन्द्रावास (रेजीडेन्सी) को घेर लिया। सिन्धके अमीरोंने देखा कि अंग्रेजोंकी सेना बिगड़ गई है तो उन्होंने भी अपनी तीस सहस्र सेना अंग्रेजोंके विरुद्ध ला खड़ी की, किन्तु उनके लोभी, नीच तोपचियों और रिसालेदारोंने कृतघ्नतापूर्ण देशद्रोहिता करके विदेशी अंग्रेजोंको सहायता दी और अमीर हार गए।

लूटपाट

विजयोन्मादी अंग्रेजोंने हैदराबाद नगर घेरकर सिन्धके उस वैभवशाली नगरको खुलकर लूटा, यहांतक कि उनके साथकी अंग्रेज स्त्रियोंने अमीरोंके अन्तःपुरमें प्रविष्ट होकर अमीरोंकी महिलाओंके नाक और कानसे मूल्यवान् आभूषण नोच-नोचकर झटक लिए, उन्हें अपमानित किया और उनका सर्वस्व लूटकर उन्हें अनाथ और अकिंचन बनाकर छोड दिया। देशद्रोहका जो फल होना चाहिए था वह उन्हें मिल गया और स्वामी बनखण्डीजीने जो शाप दिया था वह भी सत्य हो गया। वि० स० १९०० में सिन्धपर अंग्रेजोंकी विजय-पताका फहराने लगी।

फ्रैंक विल्स

सिन्ध-विजयके पश्चात् शिकारपुरमें जो सबसे पहला राज्य कर्मचारी कलक्टरका अधिकार लेकर नियुक्त किया गया उसका नाम था—कैप्टेन फ्रैंक विल्स। यथास्वभाव एक दिन वह उद्धत अंग्रेज अपने पदके मदमें नौका-विहार करता हुआ सिन्धुपर घूमते घामते साधुबेला-तीर्थके पास आ निकला। वहांकी सुन्दरता, स्वच्छता, एकान्तता तथा दृश्य-रमणीयता देखकर वह विचार करने लगा कि यह तो अत्यन्त रमणीक स्थल है, मुझे इसी द्वीपपर अपना बंगला बनवाना चाहिए। उसे तो कच्चे घडेकी चढी थी। उसने आव देखा न ताव, अगले दिन वह सचमुच बहुतसे राज-मजदूर लेकर वहाँ जा पहुँचा और लगा बंगला उठवाने। दिनभर काम करनेके पश्चात् सब राज-मजदूरोंने तमोटी लगाकर वहीं रातभर विश्राम किया। प्रातःकाल उठते ही वे देखते क्या हैं कि कल जितना कार्य हुआ था वह सब इस प्रकार टूटा और बिखरा पडा है मानो वह सब किसीने जान-बूझकर छितरा दिया हो।

यह समाचार जैसे ही विल्स साहबके कानोंमें पड़ा, वैसे ही उसने सोचा कि हो न हो, यह सब उत्पात साधुबेलाके साधुका है, जिसने द्वेषवश इस प्रकारकी बाधा खड़ी कर दी है और जिसने हिन्दू कारीगरोंको भी अपनी ओर मिला लिया है।

बँगलेका निर्माण

दूसरे दिन उसने हिन्दू कारीगरोंके साथ मुसलमान कारीगर भेजकर फिरसे बँगला उठानेका काम और भी अधिक वेगसे प्रारम्भ करा दिया। इतना होनेपर भी अगले दिन कारीगरोंने आँखें खोलीं तो देखते क्या हैं कि पुनः यथापूर्व ईंटें बिखरी पड़ी हैं और जितनी दीवार उठी थी, वह सब पूरीकी पूरी ढह गई है। फ्रैंक विल्सको जब यह समाचार मिला तो वह आग-बबूला हो उठा। उसने सोचा कि हिन्दू-मुसलमान दोनों कारीगर इस साधुसे जा मिले हैं और ये सब चाहते हैं कि यहाँ मेरा बँगला न बन पावे। इसलिये उसने कुछ अंग्रेज सिपाहियोंको रातमें उस स्थानपर पहरा देनेके लिये नियुक्त कर दिया। वे गोरे प्रहरी भी वहाँ पहुँचकर रातको देखते क्या हैं कि उनपर पत्थर तो बरस रहे हैं पर पत्थर मारनेवालोंका कोई चिह्न नहीं है। वे भी डरके मारे रातभर झाड़ियों-में छिपे बैठे रहे। जब तड़का हुआ और ये बँगलेके स्थानपर पहुँचे तो उन्होंने अचरजसे देखा कि और दिन तो केवल दीवारें ही गिरती थीं, आज ईंट और चूना भी लुप्त हो गया है और ऐसा जान पड़ने लगा मानो किसीने झाड़ू लेकर उस स्थानको बुहार दिया हो।

अन्तर्धान

जब इन गोरे सिपाहियोंने फ्रैंक विल्सको यह आश्चर्यजनक समाचार सुनाया कि रातको ईंट चूना भी लुप्त हो गया और हमपर भी पत्थरोंकी इतनी वर्षा हुई कि हमें खब्बड़ों-की झाड़ोंमें छिपकर प्राण बचाने पड़े तब तो विल्स साहबके

रही-सही सहिष्णुता भी जाती रही । उसने तत्काल आदेश दिया कि वनखण्डी साधुको इस द्वीपसे अविलम्ब निकाल दिया जाय। स्वामीजीने यह आदेश सुना और तत्काल अन्तर्धान हो गए ।

भयंकर शूल

उसी रातको जब फ्रैंक विल्स अपने सक्खरवाले बंगलेमें अपने बच्चोंके साथ सो रहा था, ठीक आधी रातको उसके और उसकी पत्नीके उदरमें इतना भयंकर शूल उत्पन्न हुआ कि दोनों असह्य पीड़ाके मारे आर्त्तनाद करने लगे। उन्होंने जो कुछ उपचार किया उससे वह पीड़ा घटनेके बदले प्रतिक्षण असह्य रूपसे बढ़ती ही चली गई । दोनोंने चिल्ला-चिल्लाकर आकाश सिरपर उठा लिया । नौकर भी जाग उठे किन्तु उतनी रातको डाक्टर या वैद्य वहाँ कहाँ मिल सकता था। सहसा उसकी पत्नीको रह-रहकर यह ध्यान आया कि इस पीड़ाका कोई भौतिक कारण नहीं हो सकता क्योंकि हम लोगोंने कोई ऐसा अनियमित भोजन भी नहीं किया है जिससे इस प्रकारकी पीड़ा सम्भव हो सके। निश्चय ही यह साधुबेलाके साधुको कष्ट देनेका ही परिणाम है। फ्रैंक विल्सको भी अब विश्वास होने लगा कि अवश्य उस साधुको कष्ट देनेके कारण ही यह पीड़ा सम्भव हो सकती है। यह समझकर उसने तत्काल मानसिक क्षमा-याचना करते हुए यह संकल्प किया कि कल प्रातःकाल होते ही मैं उस महापुरुषको खोजकर उनसे अपने दुष्कृत्यके लिये क्षमा माँगूंगा और आगे कभी उनके स्थानके साथ किसी प्रकारकी छेड़छाड़ नहीं करूँगा। यह संकल्प मनमें आते ही दोनोंका उदर-शूल सहसा कम होने लगा ।

स्वामीजीकी खोज

प्रातःकाल होते ही अपने अनेक सेवकोंको साथ लेकर वह स्वामीजीकी खोजमें निकल पड़ा किन्तु सूर्यके अस्तंगम

होनेतक भी स्वामीजीके दर्शन उसे न हो पाए। तत्काल एक युक्ति उसकी स्मृतिमें कौंध गई। उसने संध्याको नगरके मुखियोंको बुलाकर यह आज्ञा और तर्जना दी कि यदि तुम लोग साधुबेलाके साधुको ढूँढ़कर कल संध्यातक हमारे पास नहीं ले आओगे तो तुम सबको कठोर दण्ड दिया जायगा। यह आज्ञा सुनकर सारा नगर वनखण्डीजीकी खोजमें जुट गया। सब लोगोंने जी-जानसे मन लगाकर स्वामीजी महाराजको बहुत ढूँढ़ा पर वे कहीं हों तब तो मिलें। अन्तमें जब किसी प्रकार स्वामीजीके दर्शन न हो पाए, तब वे निराश होकर एक स्थान-पर एकत्र होकर स्वामीजीका स्मरण करके भगवद्-भजन करने लगे। तीसरे पहरके लगभग सब देखते क्या हैं कि भक्तोंकी रक्षाके लिये दिव्यमूर्ति स्वामी वनखण्डीजी महाराज स्वयं वहाँ धीरे-धीरे टहलते चले आ रहे हैं। हर्षोल्लाससे जय-जयकार करते हुए सब उपस्थित भक्तोंने स्वामीजीका कृतज्ञतापूर्ण स्वागत किया और अनेक प्रकारसे पूजा-अर्चना करके उनकी हार्दिक स्तुति की।

पश्चात्ताप

इधर अभी यह सब स्वागत-सत्कार हो ही रहा था कि उसी समय किसीने फ्रेंक विल्स साहबको समाचार दिया कि स्वामीजी नगरमें आ पहुँचे हैं। फ्रेंक विल्स तत्काल अपना सब काम-काज छोड़कर अपनी पत्नीको साथ लेकर स्वामीजीके दर्शनार्थ दौड़ पड़ा और जहाँ सब नागरिक उनका अभिनन्दन कर रहे थे वहाँ पहुँचकर दोनों पति-पत्नी अपने-अपने टोप उतारकर आर्त्त होकर उनके पैरोंपर गिर पड़े और अत्यन्त पश्चात्तापके साथ क्षमा माँगने लगे। स्वामीजीने उनके सिरपर अपना वरद हस्त रक्खा और अपनी झोलीसे विभूति निकालकर उन्हें आशीर्वाद दिया। फ्रेंक विल्सको इतनेसे ही सन्तोष न हुआ। उसने स्वयं बाजा मँगाकर बड़ी धूमधामसे जनसमूहको साथ लेकर

श्रीवनखण्डीजी महाराजको साधुबेला-तीर्थमें पहुँचाया और २३ जनवरी १८४४ को यह प्रमाण लिखकर दिया कि स्वामी श्रीवनखण्डीजी महाराज उदासीन हो प्रारम्भसे साधुबेलाके स्वामी हैं और आगे भी इनकी शिष्य-परम्परा यहांका स्वामित्व ग्रहण करती रहेगी।

अभिमान-हरण

फ्रैंक विल्सके समान ही एक और भी अंगरेज अधिकारी था जिसका नाम था डौन सरे, जो वहांके जुडिशल डिपुटी मजिस्ट्रेटके पदपर नियुक्त होकर आया था। सं० १६०६ की पौष कृष्णा पंचमीको वह भी सैर-सपाटेके लिये साधुबेलाकी ओर आ निकला और जहाँ स्वामीजी विराजमान थे वहाँ अत्यन्त अविनीत भावसे पहुँचकर न तो उसने प्रणाम-दंडवतका शिष्टाचार प्रदर्शित किया न स्वामीजीसे किसी प्रकारका वार्तालाप ही किया। स्वामीजीने उस उद्धत युवक अंग्रेजकी उपेक्षा भी की और उससे बात भी नहीं की। वह चुपचाप मन ही मन कुढ़ता हुआ वहांसे लौट गया। अगले दिन अपने कार्यालयमें पहुँचकर उसने अपने सरिश्तेदार लाला हासानन्द तथा हेड मुन्शी मोतीरामको बुलाकर उपालंभ दिया कि कल जब हम साधुबेला पहुँचे तो तुम्हारे साधुबेलाके महन्तने न हमारा अभिनन्दन किया, न हमारा स्वागत-सत्कार किया और न मुंहसे एक शब्द कहा। तुम जाकर अपने महन्तसे कहना। संध्याको ये दोनों स्वामीजीके पास पहुँचे तो सही, किन्तु इतना साहस उन्हें नहीं हो रहा था कि अपने अफसरका दुर्नय-पूर्ण सन्देश स्वामीजीसे कहनेकी धृष्टता करते। किन्तु स्वामीजी तो अन्तर्यामी थे। उन्होंने स्वयं कहना प्रारम्भ किया कि तुम लोग जो सन्देश देने आए हो वह मेरी दिव्य दृष्टिसे ओझल नहीं है। जाकर अपने साहबसे कह देना कि उसने जो उपालम्भ भेजा है उसका उत्तर उसे स्वतः मिल जायगा। उसी रातको वह साहब स्वप्नमें देखता क्या है कि वनखण्डीजो

महाराज सामने खड़े हैं और आदेश दे रहे हैं कि देखो साधुओंके सामने ऐंठ नहीं दिखानी चाहिए, नम्र होकर व्यवहार करना चाहिए। साहबकी नींद खुली तो उसने तत्काल अपने दोनों सहायक कर्मचारियोंको साथ लिया और साधुबेला पहुँचकर स्वामीजीसे अपनी उद्दण्डताके लिये हृदयसे क्षमा माँगी।

इस प्रकार जिन-जिन अधिकारियोंने स्वामीजीके सन्मुख अपना गर्व या औद्धत्य प्रकट किया, उन सबका अभिमान स्वामीजीने हरण किया और सबको सुपन्थपर लगाया। इतना ही नहीं, उनका इतना प्रताप बढ़ा कि अनेक अंग्रेज पादरी, अधिकारी तथा गवर्नर भी उनके दर्शन करने और आशीर्वाद लेने निरन्तर आते रहे।

※ ※ ※

२८

ब्रह्मनिर्वाण और जल-समाधि

नास्ति तेषां यशःकाये जरामरणजं भयम्

श्रीवनखण्डीजी महाराजने अपने पुण्य चरित्रसे आस-पासके देशवासियोंका कल्याण करते हुए भक्तोंको सुख, शान्ति, सन्तोष और वरदान देते हुए तथा वहांके निवासियोंके हृदयमें धर्म-भावना भरते हुए, विचित्र आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करके सौ वर्षकी पूर्णायु भोगकर सं० १६२० की जेष्ठ शुक्ला द्वितीयाको सहसा संकल्प किया कि अब यह शरीररूपी वस्त्र जीर्ण हो चला हैं, इसे बदलना आवश्यक हैं क्योंकि इस अनित्य जगत्‌में साधु-महात्माओंको अधिक स्नेह नहीं बढ़ाना चाहिए, अतः ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीयाको प्रातःकाल ही उन्होंने अपने प्रिय शिष्य श्रीहरिनारायणदासजीको बुलाया और आज्ञा दी कि साधुबेलाके चारों ओरके समस्त घाटोंपर स्नान करके हरिद्वार-घाटसे सिन्धु-गंगाका जल भर लाओ।

ब्रह्मनिर्वाणका संकल्प

श्रीहरिनारायणदासजीको यह आज्ञा कुछ विचित्र-सी लगी क्योंकि इस प्रकारकी आज्ञा उन्होंने पहले कभी नहीं दी थी, वे तत्काल गुरुजीकी आज्ञा शिरोधार्य करके तड़के ही स्नान करने चले गए और आज्ञानुसार क्रमशः सब घाटोंपर स्नान करके हरिद्वारघाटसे जल भरकर स्वामीजीकी सेवामें ले आए। श्रीहरिनारायणदासजी लौटकर आए तो उन्होंने देखा कि श्रीवनखण्डीजी महाराज निश्चल होकर गद्दीपर विराजमान हैं। श्री हरिनारायणदासजीने वहाँ पहुँचकर उनके चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम किया और यथानियम तीन बार परिक्रमा की। परिक्रमा करनेके उपरान्त श्रीहरिनारायणदासजीने अत्यन्त श्रद्धाके साथ स्वामीजीके चरण धोकर चरणामृत लिया और पुनः उनकी परिक्रमा करके उनके चरणोंमें सिर नवाकर बैठ गए। अपने शिष्यकी यह निश्छल भक्ति देखकर स्वामीजीने अत्यन्त प्रसन्न होकर गद्‌गद हृदयसे आशीर्वाद दिया।

उत्तराधिकार

उसी दिन प्रातःकाल ८ बजे उन्होंने साधुबेलाके सब साधुओंको एकत्र किया और उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—

"अपने परम शिष्य और भक्त हरिनारायणदासजीसे हम अत्यन्त प्रसन्न और प्रभावित हुए हैं। हमने यह निश्चय किया है कि साधुबेलाकी यह गद्दी उन्हींको सौंप दें।"

वहाँ उपस्थित साधुओंने उनके इस विचारका हृदयसे स्वागत और समर्थन किया। बाबा हरिनारायणदासजी बड़ी सात्त्विक वृत्तिके अत्यन्त निर्लिप्त साधु थे। उन्होंने स्वामीजीसे आग्रह किया कि महाराज मुझे गद्दीकी तनिक भी लालसा नहीं है। मेरी इच्छा है कि गद्दीका अधिकार गुरुभाई हरिप्रसादजीको सौंपा जाय। स्वामीजीने कहा—

"हम तो गद्दी तुम्हें दे रहे हैं। तुम जिसे चाहना, गद्दी दे देना।"

स्वामीजीके वचन सुनकर हरिनारायणदासजी निरुत्तर हो गए और तदनुसार स्वामीजीने भगवा सिरोपा (अँचला) और भगवा चोला श्रीहरिनारायणदासजीके गलेमें पहनाकर उनके मस्तकपर विभूति लगाकर कहा—

"आजसे तुम इस तीर्थ-स्थानके स्वामी हुए ।"

यह कहकर उन्होंने अपनी ज्योति बाबा हरिनारायणदासजी-को समर्पित करते हुए कहा—

"हमने सौ शरद्तक यह शरीर धारण किया और अब यह संकल्प किया है कि इस शरीरको छोड़कर ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करें ।"

आग्रह स्वीकार

यह सुनकर तो श्रीहरिनारायणदासजी तथा सभी उपस्थित साधु स्तब्ध रह गए । इस आकस्मिक विपत्तिपूर्ण प्रसंगके लिये कोई सन्नद्ध नहीं था । तब बाबा हरिनारायण दासजीने अत्यन्त विनम्र शब्दोंमें प्रार्थना की—

"भगवन् ! आप सर्वशक्तिमान् हैं । आपकी आज्ञा देववाणीके समान है । किन्तु मेरी एक विनीत प्रार्थना है कि आप कृपा करके पन्द्रह दिनोंतक शरीर त्याग करनेका संकल्प स्थगन कर दीजिए, जिससे हरिप्रसादजी भी काशीसे आ जायें ।

स्वामीजीने प्रार्थना स्वीकार कर ली और पन्द्रह दिनके लिये अपना विचार त्याग दिया ।

अन्तिम सन्देश

इस बीच बाबा हरिनारायणदासने अपने छोटे गुरुभाई बाबा हरिप्रसादजीको तार दिया और वे पन्द्रह दिनमें आ भी पहुँचे । आषाढ़ कृष्णा द्वितीया, बुधवार सं० १९२० को स्वामीजीने अपने सब शिष्योंको पुनः एकत्र किया । श्रीहरिनारायण-दासजी, बाबा हरिप्रसादजी, बाबा कर्णदासजी आदि सब साधु-महात्माओंको एकत्र करके स्वामीजीने कहा—

"सूर्य उत्तरायणमें आ गए हैं आज रात्रिको दो बजे मैं अ।
प्राण दशम द्वारमें चढ़ा लूंगा और उसी समय ब्रह्मलीन हो जाऊँगा। उस समय मेरे सिरपर मक्खन रखकर परख लेना। यदि मक्खन पिघल जाय तो समझना प्राण हैं, न पिघले तो समझना प्राण-पखेरू उड़ गए।"

योगावसान

सब साधु संध्यासे ही स्वामीजीके पास उपस्थित रहे। रातको दो बजेके लगभग प्राणोंकी एक ध्वनि हुई, फिर दूसरी ध्वनि हुई। स्वामीजीने श्रीहरिनारायणदासजीसे पूछा—

"इस दूसरी ध्वनिका अर्थ समझे?"

बाबा हरिनारायणदासजीने कहा—

"भगवन्! मैं तो इसके मर्मसे अनभिज्ञ हूँ। कृपया मुझे समझानेका कष्ट कीजिए।"

स्वामीजीने कहा—

"यह अन्तकालमें योग करनेकी ध्वनि है।"

इसके पश्चात् तीसरी ध्वनि हुई और चौथी ध्वनिके साथ वे ब्रह्ममें लीन हो गए। यह सब होनेपर भी उपस्थित साधुओंमेंसे कोई भी निश्चयपूर्वक नहीं बता सका कि प्राण हैं या चले गए। अन्ततः मक्खन मँगाकर सिरपर रक्खा गया और जब वह मक्खन नहीं पिघला तब सबने समझ लिया कि स्वामीजीका ब्रह्म-निर्वाण हो गया। सबको स्पष्ट रूपसे दिखाई दिया कि मक्खनके नीचे तालु-स्थानपर छिद्र अवश्य बना हुआ है। स्वामीजीने योगक्रियासे मस्तक भेदकर अपने प्राणोंका जो परित्याग किया था, उसीका यह ध्रुव चिह्न था।

जल-समाधि

स्वामीजीके ब्रह्म-निर्वाणका समाचार विद्युद्गतिसे चारों ओर फैल गया। भक्तों तथा दर्शनार्थियोंका विशाल जनसमूह फल, बताशा, नारियल लेकर स्वामीजीके पार्थिव अवशेषके दर्शन

करनेके लिये उमड़ पड़ा। सिन्धु-नदमें साधुबेलाके चारों ओर भक्तोंसे लदी नौकाएँ ही नौकाएँ दिखाई पड़ने लगीं। ११ बजे दिनमें उदासीन साधुओंकी रीति-नीतिके अनुसार तथा स्वामीजीकी इच्छा और आज्ञाके अनुसार जयजयकारके बीच उन्हें सिन्धु-गंगामें जल-समाधि दे दी गई। जल-समाधि देनेके आध घण्टे पश्चात् ही ११॥ बजे स्वामी हरिनारायणदासजीने अपने छोटे गुरुभाई बाबा हरिप्रसादजीको अपने हाथसे तिलक और भगवा चादर देकर अपने अधिकारसे गद्दी सौंप दी।

मोतियोंकी माला

उसी दिन एक विचित्र घटना घटी। सायंकालके समय शिकारपुरके सेठ घुरियामल मोदी एक मोतियोंकी माला स्वामीजीको भेंट देनेके लिये बम्बईसे लाए थे। सक्खर पहुँचकर जब उन्होंने सुना कि स्वामीजी ब्रह्मलीन हो गए तो उन्हें अपार मानसिक वेदना हुई। उन्हें पहले ही विश्वास था कि श्रीवनखण्डीजी महाराज पूर्ण योगी और सिद्ध थे। अतः वह संकल्प करके सिन्धु-नदके तटपर बैठ गया कि यदि स्वामीजी वास्तवमें योगीश्वर हैं तो मुझे दर्शन देंगे। बहुत लोगोंने उन्हें समझाया, पर वे अपने हठपर अडिग रहे और यही कहते रहे कि जबतक स्वामीजी प्रकट होकर यह माला नहीं ग्रहण कर लेंगे तबतक न मैं यहाँसे हटूँगा, न अन्न-जल ग्रहण करूँगा। दो दिनतक वह उसी प्रकार सिन्धु-नदके तटपर बैठा रहा। रातको उस सेठको स्वप्नमें श्रीवनखण्डीजी महाराजने कहा कि हम तुम्हारा प्रेम देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं, इसलिये कल सिन्धु-गंगाके तटपर मेरे शरीरके तुम्हें दर्शन मिलेंगे। तुम माला पहनाकर अपनी इच्छा पूर्ण कर लेना।

पुनः दर्शन

अन्तमें हुआ भी यही। सैकड़ो मनुष्य यह कौतुक देखनेके लिये वहाँ आ इकट्ठे हुए। आषाढ कृष्णा चतुर्थी सं० १९२० को

प्रातः १० बजे सहसा स्वामीजीका शरीर जलधारापर उतराता हुआ दिखाई देन लगा। सारा आकाश स्वामीजीके जयघोषसे गूँज उठा। सेठ घुरियामलने अपनी मोतियोंकी माला निकालकर स्वामीजीको पहना दी। इस दृश्यको देखनेके लिये अपार भीड़ जुट गई। स्वामी हरिनारायणदासजी तथा स्वामी हरि प्रसादजी भी यह समाचार सुनकर साधुओंके साथ वहाँ आ पहुँचे। पुनः स्वामीजीके शरीरको ये लोग बाजे-गाजे, कीर्तन-भजनके साथ साधुबेलामें ले गए और पुनः विधिपूर्वक फूल-मालाओंसे समलंकृत करके उस शरीरको जलसमाधि दी गई।

❋ ❋ ❋

१९

स्वामी हरिनारायणदासजी

सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ।

जिन परमसिद्ध योगीश्वर स्वामी वनखण्डीजी महाराजका लोकपावन चरित्र पिछले अध्यायोंमें वर्णित किया जा चुका है उनकी महती कृपादृष्टि यद्यपि सभी प्राणियोंपर समान भावसे व्याप्त थी, तथापि उनके परम कृपा-पात्र बननेका श्रेय यदि किसी भाग्यशालीको प्राप्त हुआ तो वह स्वामी हरिनारायणदासजीको ही।

प्रारम्भिक जीवन

स्वामी हरिनारायणदासजीका जन्म मारवाड़ प्रदेशके जैसलमेर नगरमें एक कुलीन क्षत्रियके घर हुआ था। उनका नाम था दलपतिशाह, दलपतिराय अथवा दलपतिसिंह। प्रारम्भसे ही क्षत्रिय होनेके नाते उन्होंने तत्कालीन युद्ध-विद्या

समस्त कौशल भली भाँति सीख लिए थे। बड़े होनेपर उन्हें नौकरी करनेकी धुन सवार हुई। संयोगसे सक्खरके मीरोंके यहाँ उन्हें अपनी रुचिका काम मिल गया। अपनी स्वामि-भक्ति और सत्य-निष्ठाके कारण इनका उतना सम्मान बढ़ा कि वे शीघ्र ही सक्खर दुर्गके बड़े कोतवाल बना दिए गए। चैत्र शुक्ला द्वितीया सं० १८८० को जब स्वामी वनखण्डीजी महाराज सक्खर दुर्ग देखनेके लिये सहजूमलके उपवनमें आकर ठहरे, उस अवसरपर श्रीदलपतिसिंहने स्वामीजीका जिस श्रद्धा-भक्तिके साथ स्वागत-समाराधन किया उससे प्रसन्न होकर स्वामीजीने उसी समय उन्हें आशीर्वाद दिया कि आप चौदह दिनमें ही प्रधान मंत्री (बड़े वजीर) का पद प्राप्त कर लेंगे। इस आशीर्वादके परिणाम-स्वरूप वैशाख कृष्णा द्वितीया सं० १८७९ को सहसा श्रीदलपतिसिंहको मीरोंका पत्र मिला कि आप दुर्गके प्रधान मन्त्री (बड़े वजीर) बनाए जाते हैं। अत्यन्त योग्यता, सद्वृत्ति तथा कुशलतासे पदका निर्वाह करते हुए, वे तबतक इस पदपर बने रहे जबतक सं० १९०० में मीरोंका राज्य भक्खरमें समाप्त नहीं हो गया। अंग्रेजोंके हाथमें अपने देशकी बागडोर सौंपकर जब मीरोंने विवशतापूर्ण संन्यास लेकर हैदराबादकी ओर प्रस्थान किया तब दलपतिसिंह भी अपनी स्वामि-भक्तिका निर्वाह करते हुए उन्हींके साथ-साथ हैदराबाद चले गए और उस संकटके समय भी दत्तचित्त होकर मीरोंकी सेवा करते रहे।

सर्वस्व अर्पण

इसी बीच आश्विन कृष्णा अष्टमी सं० १९०० को हैदराबादमें महन्त गंगाराम नागाने बड़ा भारी भंडारा किया था जिसमें स्वामी वनखण्डीजी महाराज भी कृपा करके हैदराबाद पधारे थे। स्वामीजीके शुभागमनका समाचार पाकर, दलपतिसिंह भी स्वामीजीके दर्शनके लिये आए और

प्रणाम-दण्डवतके पश्चात् उन्होंने स्वामीजीसे प्रार्थना की—

"भगवन् ! मनुष्यकी सेवा करते-करते अब जी ऊब गया है, जीवनसे भी विरक्ति हो चली है, इसलिये आपसे अत्यन्त विनीत प्रार्थना है कि आप मुझे अपना शिष्य बनाकर शरणमें ले लीजिए। स्वामीजीने मन्द स्मितिके साथ उत्तर दिया—

"आप राजवंशी हैं। साधुके कठोर जीवनका निर्वाह करना आपके लिये सुगम नहीं होगा।"

श्रीदलपतिसिंहजीने अत्यन्त निश्छल तथा भक्ति भावसे निवेदन किया—

"महाराज ! आपकी कृपा होगी तब कौन-सी कठिनाई बच रहेगी।"

कोठारीके पदपर

स्वामी वनखण्डीजी महाराज तो जानते ही थे कि ये दलपतिसिंह मेरे पिछले जन्मके शिष्य जौराके अवतार ही हैं। अत जब उन्होंने श्री दलपतिसिंहजीकी यह निष्ठा देखी तो उन्होंने तत्काल एवमस्तु कहकर अपनी स्वीकृति दे दी और आश्विन शुक्ला पूर्णिमा (शरद्-पूर्णिमा) को हैदराबादमें ही उदासीन साधुकी मर्यादाके अनुसार दलपतिसिंहजीको उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित करके उनका नाम हरिनारायणदास रख दिया। दीक्षित हो चुकनेपर हरिनारायणदासजीने अपनी सब चल-अचल सम्पत्ति, रत्न, स्वर्णकी मूठमें रत्नजटित तलवारें, दो बन्दूकें, रत्न तथा हाथी दाँत-जड़ी मूठोवाली छुरियाँ सिद्धेश्वर बाबा वनखण्डीजी महाराजके चरणोंमें समर्पित कर दी। स्वामीजी महाराजने वह भेंट स्वीकार करते हुए कहा कि इस धनसे साधुबेला-तीर्थमें अनेक स्थानोंका निर्माण होगा तथा पत्थरका पक्का कुआँ बनवाया जायगा। उसी दिनसे श्रीहरिनारायण दासजी स्वामीजीके शिष्य हो गए और उसी वर्ष कार्तिक कृष्णा दशमीको स्वामीजीने उन्हें कोठारी नियत कर दिया।

वैराग्य-वृत्ति

यद्यपि वनखण्डीजी महाराजने अपने ब्रह्मनिर्वाणसे पन्द्रह दिन पूर्व ही श्रीहरिनारायणदासजीको अपनी गद्दीका युवराज बना दिया था, किन्तु अपनी स्वाभाविक विराग-वृत्तिके कारण उन्हें यह सब वैभव आत्म-साधनामें बाधक जान पड़ता था। इसलिये जिस दिन वनखण्डीजी महाराजको जल-समाधि दी गई उसी दिन श्रीहरिनारायणदासजीने अपने छोटे गुरुभाई बाबा हरिप्रसादजीको गद्दीपर प्रतिष्ठित कर दिया।

वपुष्मत्ता

स्वामी हरिनारायणदासजी छः फुट लम्बे, अच्छे डीलडौलके, गौरवर्ण और मल्लके समान दृढ तथा गठीले शरीरवाले थे। उनके विशाल मुखपर क्षत्रियका तेज विराजमान था। उनके गोल मस्तकपर सवा-सवा हाथ लम्बी जटाओंकी लड़ियाँ उनकी वैराग्य-शोभाका वर्धन कर रही थीं। उनके भरे हुए मुखपर विशाल भृकुटिके नीचे बड़े बड़े तेजस्वी नेत्र चमकते थे। शोभनीय मध्याकार उठी हुई नासिका, अत्यन्त सुन्दर कुन्द-कलीके समान दन्तावली, स्वाभाविक अरुणिमासे रंगे हुए ओठ और कम्बुको भी विनिन्दित करनेवाली सुदृढ़ ग्रीवा, विशाल दृढ लम्बी भुजाएँ, विस्तृत वक्षस्थल, कुछ उभरा हुआ उदर और शुक्ताके समान नखोंसे युक्त उँगलियोंवाले सोलह-सोलह अंगुल लम्बे पैर और धवल उज्वल स्वाभाविक रक्तिमासे रंजित लाल चरण-तल उनके गौरवशाली शरीरकी शोभा बढ़ाते थे। उनका स्वर यद्यपि कुछ भारी और गम्भीर था किन्तु उसमें इतनी ऊर्जस्वित कड़क थी कि एक बार ललकार दें तो पर्वत काँप उठें। उनकी वाणीमें साक्षात् सरस्वती विराजमान थीं। एक बार मुंहसे जो वचन कह देते थे वह कभी मिथ्या नहीं होता था। उनके हृदयमें लक्ष्मीका वास था और उनके हाथोंमें अन्नपूर्णाका वैभव था, इसलिये उनकी व्यापक तथा निःसीम कृपा और उदारतासे कोई वंचित नहीं रह पाता था।

गरीब-नेवाज

स्वामी बनखण्डीजी महाराजकी कृपा और उनके आशीर्वादसे उनके हाथमें अनेक सिद्धियाँ आ बसी थीं और इसीलिये जब जयपुर, जोधपुर, काबुल और कन्दहारके दुष्काल-पीड़ित लोग अपने देश छोड़कर सं० १९२२ और १९२७ में साधुबेला आए तब सबके भोजनका प्रबन्ध स्वामीजीने आश्रमकी ओरसे किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि तबसे सब लोग स्वामीजी-को 'गरीब-नेवाज' कहकर पुकारने लगे।

सिद्धिकी कथाएँ

उनकी सिद्धिके सम्बन्धमें भी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। एक बार वे अपने साथ कुछ मल्लाहों तथा साधुओंको लेकर लकड़ी कटवाकर लाए तो देखा कि अत्यन्त विलम्ब हो जानेके कारण सब लोग बुभुक्षासे पीड़ित हो रहे हैं, भण्डारमें भी थोड़ा-सा आटा मात्र शेष है। उन्होंने झट भण्डारीको बुलाकर कहा कि इस आटेका रोट बनाकर इसके ऊपर स्वामी बनखण्डीजी महाराजकी चादर डाल दो। इसके पश्चात् उन्होंने स्वामी बनखण्डी साहबकी जय कहकर स्वयं उस चादरपर जलका छींटा देकर भण्डारीजीको आज्ञा दी कि इसके नीचेसे पके हुए रोट निकाल-निकालकर सबको देते जाओ और जबतक सब तृप्त न हो जायँ तबतक चादर न उठाना। इस चमत्कारसे उस चादरके नीचे इतनी खाद्य-सामग्री प्रस्तुत हो गई कि जितने साधु थे उन सबने जी भरकर भोजन भी किया और साथ आनेवाले हिन्दू भाखरू और मल्लाहोंको भी उठाकर दे दिया।

चमत्कार

इसके अतिरिक्त उनकी सिद्धिके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी ऐसी चमत्कारपूर्ण कथाएँ भी सिन्धमें प्रचलित हैं कि कभी उन्होंने किसी डूबतेको बचाया, किसीको स्मृति प्रदान की,

किसीको स्वामीजीके पंजेका दर्शन कराया और इस प्रकार वे भी स्वामी वनखण्डीजी महाराजके समान लोक-कल्याण करते हुए अस्सी वर्षकी अवस्थामें भाद्रपद कृष्णा सप्तमी सं० १९२६ को अपराह्‌ण दो बजे इस लोकसे चल बसे।

※ ※ ※

—

३०

साधुबेलाका श्रृङ्गार

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ।

यद्यपि स्वामी हरिनारायणदासजीने अपने छोटे गुरुभाई स्वामी हरिप्रसादजीको साधुबेलाकी गद्दीपर प्रतिष्ठित कर दिया था, किन्तु स्वामी हरिप्रसादजीका एकान्तप्रिय चित्त बहुत दिनोंतक उन्हें वहां नहीं रख पाया। स्वामी हरिप्रसादजी महाराज नेपालवाले बनखण्डीजीके शिष्य भौराके अवतार थे। इनका जन्म वि० सं० १८६५ में हैदराबाद सिन्धुके एक सम्पन्न वैश्य परिवारमें हुआ था।

स्वामी हरिप्रसादजी

पैंतालीस वर्षकी अवस्थामें उन्हें सहसा वैराग्य हुआ और ये कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा १६१० को अन्नकूटके दिन स्वामी बनखण्डीजी महाराजकी सेवामें पहुँचकर उनसे दीक्षा लेकर शिष्य

बन गए और स० १६२० में स्वामी बनखण्डीजी महाराजके ब्रह्म-निर्वाणके दिन ही गद्दीपर आए। वे स्वभावसे ही कुछ विरक्त थे। उन्हें आश्रमका जीवन कुछ प्रतिबन्धपूर्ण प्रतीत हुआ। वे मुक्त और स्वच्छन्द होकर अपनी तपस्या चलाना चाहते थे। यहाँ उन्हें अपनी इस एकान्त तपश्चर्यामें बाधा जान पड़ी। लगभग एक वर्ष साढे तीन मासतक साधुबेलाकी गद्दीपर रहनेके पश्चात् उन्होने विचार किया कि बैठे रहनेकी अपेक्षा परिभ्रमण करके लोक-कल्याण करना अधिक श्रेयस्कर है, अत शिकारपुरके बाबा कर्णदासजीको अपना कोठारी बनाकर उन्होने अपने साथ ले लिया, और बहुत दिनोतक सिन्धुके अनेक ग्रामोमें उपदेश करते हुए निरन्तर भ्रमण करते रहे। स० १६२४ वि० में जब हरिद्वारका कुम्भ पडा, उस समय बहुतसे साधुओको साथ लेकर वे हरिद्वार गए जहाँ कुम्भ करके वे काश्मीर और अमरनाथकी यात्राके लिये चले गए। वहाँसे लौटकर उन्होंने मथुरा वृन्दावनमें होली बिताई और तदनन्तर चैत्रमें जाकर अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। स० १६२६ में वे प्रयागका कुम्भ करते हुए अनेक तीर्थोंका दर्शनाटन करके लगभग छ वर्ष पश्चात् साधुबेला लौटे।

पुन गद्दीपर

इन छ वर्षोंमें उस गद्दीपर श्री स्वामी मोहनदासजी उदासीन तथा श्री स्वामी सन्तदासजी उदासीन बैठाए गए। इसी बीच छ वर्ष तीर्थाटन करनेके पश्चात् जब श्री हरिप्रसादजी महाराज यहाँ लौटकर आए तो स्वामी सन्तदासजीने और श्रीहरिनारायणदासजीने अत्यन्त आग्रहके साथ उन्हें स० १६२६ की आश्विन कृष्णा चतुर्थीके दिन पुन गद्दीपर प्रतिष्ठित कर दिया।

आश्रमका सस्कार

उस समय तक साधुबेलामें जितने स्थान बने थे वे सबके सब कच्ची झोपडियों या कुटियोंके रूपमें थे। अत सर्वप्रथम कार्य तो उन्होंने यह किया कि अपने समयमें साधुबेलाका कायाकल्प

कर दिया। आम, बट, ताल, खजूर तथा पीपलके वृक्षोंके बीच नए नए श्वेत भवन सिर उठाने लगे। उन्हींके समयमें पक्का चन्द्रकूप, वना, गुम्बजका निर्माण हुआ, सद्गुरु श्रीवनखण्डीजी महाराजका भव्य मन्दिर निर्मित हुआ, कोठार बनाया गया और साधुबेलाके चारों ओर पक्के पुश्तेके साथ घाट बाँध दिए गए। इस प्रकार सुन्दर मन्दिरों और भवनोंसे सुसज्जित होकर नई शोभा और नये सौन्दर्यके साथ साधुबेला-तीर्थ उस द्वीपकी महत्ताका संवर्द्धन करने लगा और ऐसा ज्ञात होने लगा मानो एक साथ हौलेण्डके डाइक (बाँध), वेनिसकी नहर, पैरिसके सुघर भवनोंका सौन्दर्य स्वयं सिमटकर वहाँ आ पहुँचा हो। मार्गशीर्ष कृष्णा नवमी सं० १९४० को पचहत्तर वर्षकी अवस्थामें अपने कृपापात्र अचलप्रसादजीको गद्दी देकर स्वामी हरिप्रसादजी ब्रह्मलीन हो गए।

स्वामी अचलप्रसादजी

स्वामी अचलप्रसादजी उदासीनका जन्म वि० सं० १८८४ में खैरपुर रियासतके निहालखान-टंडा नगरके एक प्रतिष्ठित वैश्य-कुलमें हुआ था। उनका घरका नाम था लखीसरदास। छप्पन वर्षकी अवस्थामें उन्हें वैराग्य हुआ और माघ कृष्ण नवमी सं० १९४० को उदासीन सम्प्रदायके अनुसार वे स्वामी हरिप्रसादजीके शिष्य हुए और दूसरे ही दिन संध्याको ४ बजे बाबा कर्णदासजीने उन्हें गद्दीपर प्रतिष्ठित कर दिया। साढ़े तीन वर्षतक उस गद्दीपर रहकर और उस बन्धनसे ऊबकर ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी सं० १९४३ के दिन श्री जयरामदासजीको गद्दी सौंपकर वे तीर्थाटनके लिये उत्तर-काशी चले गए जहाँ उन्होंने ज्ञानसू मुहल्लेमें साधुबेला-आश्रम स्थापित किया। पचासी वर्षकी अवस्थामें वे सिन्ध तो लौटे किन्तु साधुबेलातीर्थमें नहीं आए। उन्होंने रोहिड़ीकी ओर श्रीसाधुबेला-तीर्थके सामने अपनी धूनी जगाई और उस वनका
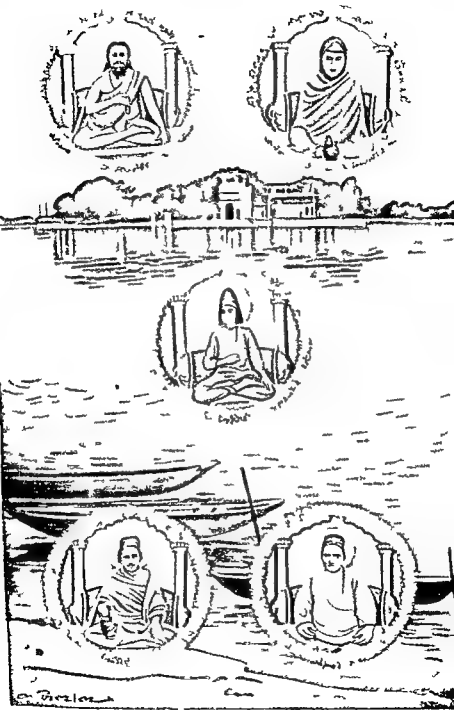
श्रीसाधुबेला तीर्थ के संस्थापक और महन्त ।

नाम तपोवन रक्खा। वहीं माघ शुक्ला द्वादशी मंगलवार सं० १६६६ को वे ब्रह्मलोक पधारे। उनके समयमें वनखण्डीजी महाराजके मन्दिरके भीतर संगमरमरका फर्श लगा, बंगलेके भीतरका तख्त (सिंहासन) संगमरमरका बना, बंगला बना, लाँढ़ी बनी और साधुबेला-तीर्थका नवीन रूपसे शृङ्गार प्रारम्भ हुआ। सिंहासनका इतिहास भी बड़ा रोचक है। पहला लकड़ीका सिंहासन मीरोंकी राजसी नौकाका बंगला था जो किसी कारणवश नावसे अलग होकर बहता हुआ साधुबेलासे आ लगा था। उसीपर श्रीवनखण्डीजी महाराजने अपनी गद्दी लगा ली थी और उसीपर स्वामी श्रीजयरामदासजीके समयतक सब महन्तोंका अभिषेक होता रहा।

स्वामी जयरामदासजी

स्वामी श्रीजयरामदासजीका जन्म चैत्र शुक्ला द्वितीया सं० १८६० को जोधपुर रियासतके बालोतरा ग्रामके कुलीन क्षत्रिय वंशमें हुआ था। इनका नाम जोधासिंह था और चौंतीस वर्षकी आयुमें ही वे सम्पूर्ण लौकिक माया-ममता छोड़कर सिद्ध गुरुकी खोजमें निकल पड़े थे। घूमते-घामते सं० १६२४ में श्रीसाधुबेलामें आकर वे स्वामी हरिनारायणदासजीके शिष्य बने और वि० सं० १६२५ की विजयादशमीको उदासीन सम्प्रदायमें दीक्षित हो गए। साधुबेला-तीर्थमें जो भवन-निर्माण और भवन-संस्कारका क्रम चल रहा था, वह उनके समयमें यथापूर्व होता रहा। उनके समयमें सभामण्डपमें संगमरमरका सिंहासन बना। उन्होंने भी अनेक तीर्थोंकी यात्रा की और प्रथम आषाढ़ कृष्णा अष्टमी सं० १६५० को प्रातः चार बजे उन्होंने कोठारी बाबा कर्णदासजी उदासीनको यह अधिकार दिया कि हमारे पीछे हमारे शिष्य श्रीहरिनारायण-दासजीको गद्दीपर प्रतिष्ठित कर दिया जाय। उसी दिन सायं चार बजे उन्होंने इस लोकसे प्रस्थान किया।

३१

स्वामी श्रीहरिनामदासजी उदासीन

—मनसि वचसि काये पुण्य-पीयूष-पूर्णा ।

स्वामी श्रीजयरामदासजीके निर्देशानुसार बाबा कर्णदासजीने प्रथम आषाढ कृष्णा अष्टमी सं० १९५० को सायंकाल साढ़े पाँच बजे साधुबेलाकी गद्दीपर श्रीहरिनामदासजीको प्रतिष्ठित किया। इनका जन्म पौष कृष्णा दशमी रविवार सं० १९३७ को सक्खरके धर्मनिष्ठ सेठ आवतमलजी वैश्यके घर श्रीमती कृष्णाबाईकी कोखसे हुआ था। सेठ आवतमल श्री सद्गुरु स्वामी बनखण्डीजी महाराजके अनन्य भक्त थे और नियमत प्रतिदिन श्री बनखण्डीजी महाराजकी मूर्तिके दर्शनके लिये साधुबेला जाया करते थे। सब प्रकारका लौकिक सुखविलास होते हुए भी इन्हें कोई सन्तान न थी। इसलिये वे बनखण्डीजी महाराजकी मूर्तिके आगे नित्य यही प्रार्थना करते थे कि हमें संततिका सुख प्राप्त हो, हमें बाल-लीलाका आनन्द मिले।

महन्त श्री स्वामी हरिनामदासजी उदासीन

गुरुका प्रसाद

स्वामी जयरामदासजीने सेठ आवतमलकी यह निष्ठा देखी तो उन्होने सद्गुरु श्रीबनखण्डीजी महाराजका प्रसाद देते हुए उनसे कहा कि तुम दोनो पति-पत्नी इस प्रसादको ग्रहण कर लोगे तो गुरु-कृपासे तुम्हें अवश्य सन्तति-लाभ होगा। सेठ आवतमलने स्वामीजीका वचन शिरोधार्य करके यह मानसिक सकल्प किया कि यदि मुझे कई सन्तानें होगीं तो मैं एक पुत्र साधुबेला तीर्थको अर्पित कर दूंगा। दैव कृपासे सेठ आवतमलजीके चार पुत्र हुए जिनमेंसे नारायणदासजी उनके द्वितीय पुत्र थे। सेठ आवतमलने नारायणदासके सब सस्कार कराकर यज्ञोपवीतके पश्चात् उस बालकको ले जाकर स्वामी जयरामदासजीके चरणोमें अर्पित कर दिया।

श्री हरिनामदासजी

स्वामी जयरामदासजीने देखा कि बालक अत्यन्त मेधावी तथा प्रतिभा-सम्पन्न है इसलिये तत्काल आश्विन शुक्ला पूर्णिमा स० १९४४ को स्वामीजीने उसे उदासीन-सम्प्रदायमें दीक्षित करके अपना शिष्य बना लिया और उसका नाम हरिनामदास रखकर उसे विद्याध्ययनमें प्रवृत्त कर दिया। अपनी प्रतिभा और प्रखर बुद्धिके कारण उन्होने अत्यन्त तीव्र गतिसे सम्पूर्ण विद्याओका तत्त्व ग्रहण कर लिया तथा भारतीय कर्मकाण्ड, सदाचार और नीतिके सभी पक्ष भली भाँति समझ लिए। साधुबेलाकी गद्दीपर प्रतिष्ठित होनेके पश्चात् जहाँ एक ओर स्वामीजी महाराजने अपनी विचक्षण विद्वत्ताके प्रभावसे श्रीसिन्धु-सप्तनद-गगा माहात्म्य, विचार माला, प्राचीन मुनियोका पुरुषार्थ, गुरु-साखी, सूर्योदय चरितामृत, सद्गुरु बनखण्डी-चरितामृत, जगद्गुरु श्री चन्द्रोदय-महाकाव्य तथा गायत्री-ग्रन्थ लिखे और लिखवाए, वहाँ उन्होंने साधुबेला-तीर्थको सुन्दरतम बनानेमें भी मनोयोग-पूर्वक कौशल दिखलाया।

साधुबेलाका श्रृङ्गार

आज जो साधुबेला-तीर्थ, अनेक भव्य भवनों, घाटों तथा उद्यानोंसे सुशोभित दिखाई पड़ता है इसका अधिकांश श्रेय श्रीहरिनामदासजीके व्यवस्था-कौशल, तथा सुरुचि-सम्पन्नताको ही है। साधुबेला-तीर्थके समस्त स्थलोंको संगमरमरसे सुशोभित करके बिजली, नल आदिकी व्यवस्था करके, चारों ओर पत्थरके घाट बनाकर उन्होंने पाठशाला, वाचनालय, औषधालय, वेदभवन, गीताभवन, सद्गुरु वनखण्डीजीका मन्दिर तथा सत्यनारायणजी, अन्नपूर्णाजी, हनुमानजी, गणेशजी तथा शंकरजी आदि देवी-देवताओंके अलग-अलग संगमरमरके मन्दिर बनवाए। इनके अतिरिक्त तुलसीथला, कोठार, साधुओंके वासस्थान, भाण्डारगृह, पंगतका स्थल, सभा मण्डप तथा ऋषीकेश धर्मशालाका भी भव्य निर्माण कराया।

भारत-भ्रमण

वे अनेक संस्थाओंके सभापति भी थे और उन्होंने अनेक साधुओं, गृहस्थों और प्रचारकोंको विभिन्न स्थानोंपर भेजकर भारतीय धर्म और संस्कृतिके प्रसारमें भरपूर योग भी दिया तथा अनेक विद्वानों, मण्डलेश्वरों और साधुओंको भी पदक तथा उपाधि देकर पूर्ण प्रोत्साहन दिया। अपने प्रतिष्ठित पूर्वगत महन्तोंकी उदात्त परिपाटीके अनुसार उन्होंने भारतके अनेक तीर्थोंका दर्शन किया और विभिन्न नगरोंके विद्वानोंसे सम्पर्क स्थापित करके, तीर्थ-पुरोहितोंसे विचार-विमर्श करके, उन्हें कर्त्तव्य समझानेके लिये हिन्दू धर्मकी व्यापकता एवं आवश्यकतापर प्रवचन देने, बालकोंकी शिक्षाका वास्तविक स्वरूप समझाने तथा अनेक धर्माध्यक्षोंको कर्मठताकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये भारतका भ्रमण भी किया।

02577

No. D.L.R.-51 of 1921.
Sukkur dated, 24 September 1921.

Read application dated 9-7-1921 from Swami Harnamdas, Proprietor and Mahant of "Sadhbello" Sukkur requesting that the name "Dinbello" be removed from the Government Records and that both of the two islands now no more separate should be called under one name "Sadhbello".

Read also Superintendent Land Records in Sind's No. 1530 dated 29-7-1921 stating that there is no objection to the change of the name.

Order of the Collector of Sukkur

The Mahant's request is granted and the whole island is ordered to be entered in the Government Records as "Sadhbello".

[signature]

For Collector of Sukkur.

To,

The Mahant, Sadhbello Sukkur
The Superintendent Land Records in Sind.
The Assistant Collector Shikarpur.
The Mukhtyarkar of Sukkur in continuation of this office No. D.L.R.-51 dated 7-10-1920.

कुम्भपर छावनी

प्रत्येक कुम्भके अवसरपर सदलबल तीर्थके लिये जाना तो इस गद्दीकी परम्परा रही किन्तु स्वामी श्रीहरिनामदासजीने एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि वे हरिद्वार तथा प्रयागके कुम्भके अवसरपर श्रीसाधुबेला सिन्धी छावनी लगाते रहे जहाँ गृहस्थों तथा साधुओंके लिये अलग-अलग वासस्थान बने रहते थे और जहाँ भजन, कीर्त्तन, प्रवचन, धर्मप्रचार आदिके निरन्तर समारोहके कारण भव्य मेला लगा रहता था। यहाँ अन्न-क्षेत्रोंके द्वारा प्रत्येक समागत अतिथिका स्वागत-सत्कार होता था और पंगतमें सहस्रों व्यक्ति नित्य प्रसाद पाते थे।

लोक-सेवा

जिस समय सन् १९२५ में सिन्धको बम्बई प्रान्तसे अलग करनेका प्रस्ताव ब्रिटिश-सरकारने उपस्थित किया और सिन्धके लोग भी उस प्रस्तावका समर्थन करने लगे, उस समय स्वामीजीने उसके विरुद्ध घोर आन्दोलन किया और समझाया कि यह प्रस्ताव सिन्धके हिन्दुओंका सर्वनाश करनेवाला है और सदाके लिये उन्हें पद-दलित करके पाकिस्तान बनानेके षड्यन्त्रकी प्रारम्भिक भूमिका है। किन्तु भावी प्रबल होती है। उस समय स्वामीजीकी बात किसीके गले नहीं उतरी। इसके अतिरिक्त उन्होंने सिन्ध प्रान्तमें हिन्दुओंके जागरणके लिये, उदासीन साधुओंके संघटनके लिये, तथा विद्यालय-प्रसारके लिये अनेक आयोजन, सम्मेलन, यज्ञ तथा विद्यालयोंकी व्यवस्था की। उनके हृदयमें लोक-सेवाकी भावना इतनी प्रबल रूपसे उद्दीप्त थी कि देशमें कहीं दुर्भिक्ष या महामारीका समाचार मिलता तो वे तत्काल अपने आश्रमकी ओरसे अपने भक्तोंके द्वारा वहाँ सहायता पहुँचाते।

उदारता

उनकी उदारता इतनी बहुमुखी थी कि उसका विस्तृत वर्णन करना सरल नहीं है। जिस समय भयानक भूकम्पने जनाकीर्ण क्वेटा नगरको विध्वस्त किया, और वहांके तीन चौथाई नगरवासी अपने-अपने भवनोंमें दबकर समाप्त हो गए, उस समय निराधार, निराश्रित तथा निरीह प्राणियोंके आर्तनादने सारे संसारको द्रवित कर दिया। यद्यपि सरकारकी ओरसे सहायताका कार्य हो रहा था किन्तु वह अपर्याप्त था। उस समय स्वामीजीने जो अभूतपूर्व सेवा पहुँचाई वह सर्वथा प्रशंसनीय और स्मरणीय है। इसी प्रकार जब मुसलमानोंकी निन्द्य बर्बरताने नोआखालीमें हिन्दू परिवारोंको त्रस्त करना प्रारम्भ किया, उस समय भी स्वामीजीने अन्न, वस्त्र तथा धनसे सहायता पहुँचाई थी। शिक्षासे उन्हें विशेष अनुराग था। उन्होंने सद्गुरु बनखण्डी-महाविद्यालय, श्रीगुरु-श्रीचन्द्र-उदासीन-उपदेशक-सभा, निःशुल्क वाचनालय तथा एक विद्यालय सक्खरमें खोला जिसमें हिन्दी, सिन्धी, अंग्रेजी तथा संस्कृत पढ़ाई जाती थी। यही कारण था कि सन् १९४६ में कराँची कोर्पोरेशनने उनकी सेवाओंका आदर करते हुए उन्हें मानपत्र दिया था।

व्यापक सम्पर्क

भारतके समस्त धर्म-प्राण विद्वानों, महापुरुषों तथा महात्माओंसे उनका अत्यन्त निकट सम्पर्क बना हुआ था। अमृतसर कांग्रेसके समय लोकमान्य तिलक वहां आए। भारतीय धर्म तथा राजनीतिके कर्मठ नेता महामना मालवीयजी भी सन् १९१५ में हिन्दू विश्वविद्यालयके लिये द्रव्य एकत्र करनेके समय वहां आए थे और उनके स्वागतमें वहांके पार्कका नाम ही मालवीय-पार्क पड़ गया। महात्मा गांधी और पण्डित जवाहरलाल नेहरू भी कराँची कांग्रेसके समय वहां पधारे

नगरी संपादगन-द्वारा स्वामी हरिनामदासजीको मानपत्र

और अन्त समयतक स्वामीजीका उनसे घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा।

दिनचर्या

स्वामीजीका दैनिक कार्यक्रम अत्यन्त सात्त्विक तथा नियमित था। वे नित्य प्रातःकाल ब्राह्म-मूहूर्तमें उठकर स्नानादिके पश्चात् पाठ-पूजा-करके दो घण्टे साहित्य-विमर्श तथा लेखनका कार्य करते थे। इसके पश्चात् सब देव-मन्दिरोंमें प्रणाम करके वे अपने सिंहासनपर बैठकर भक्तोंको उपदेश देते और कथा कहते थे। कथाके उपरान्त मध्याह्नमें वे सभी अभ्यागत साधु, गृहस्थ और यात्रियोंके साथ पंक्तिमें बैठकर प्रसाद पाते, इसके पश्चात् कुछ देर विश्राम करके वे समाचार-पत्र पढ़ते और सायंकाल चार बजे पुनः सिंहासनपर बैठकर स्वयं धर्मोपदेश देते या विद्वानों-द्वारा उपदेश दिलानेकी व्यवस्था करते थे। सायंकालकी आरती और पूजन हो चुकनेपर स्वामीजी महाराजको सभी आश्रमवासी साधु-महात्मा आकर प्रणाम करते थे और तत्पश्चात् आप भोजन करके सो जाते थे।

मृदु स्वभाव

स्वामीजी अत्यन्त वपुष्मान् और तेजस्वी पुरुष थे। उनका वेष अत्यन्त साधारण, उनका स्वभाव अत्यन्त मृदु, उनका ज्ञान अत्यन्त विस्तृत, उनकी मुद्रा अत्यन्त प्रसन्न तथा उनकी वृत्ति लोक-कल्याणसे ओत-प्रोत थी। वे बड़े कुशल वक्ता, विवेकशील, विचारक, अत्यन्त व्यवहार-कुशल, उदार, निरभिमानी निरालस, दयालु तथा समदर्शी थे। उनके सम्पर्कमें जो आता वही उन्हें आत्मीय समझता और उनसे प्रभावित होता। इस प्रकार अपने उदार स्वभाव और मंगलकारी भावनाके कारण वे अत्यन्त अल्पकालमें ही सिन्धवासियोंके हृदय-सम्राट् बन गए।

ж ж ж

३२

पाकिस्तानकी लहर

सर्पदुर्जनयोर्मध्ये वर सर्पो न दुर्जन ।

यो तो जबसे सिन्धको बम्बई प्रान्तसे अलग करनेकी चर्चा होने लगी, तभीसे प्रत्येक बुद्धिमानको आभास मिलने लगा कि यह किसी भावी कुचक्रकी कूट भूमिका है। इससे पूर्व भी धीरे-धीरे और कभी-कभी उच्च स्वरसे कुछ मुसलिम नेता, अंग्रेजोकी प्रेरणा और समर्थन पाकर कहते ही जा रहे थे कि हिन्दू और मुसलमान दो भिन्न-भिन्न जातियां हैं अत उनको भिन्न-भिन्न देशोमें रहना ही चाहिए। सन् १९१५ के लगभग अलीबन्धु अर्थात् मुहम्मदअली और शौकतअलीने विस्तृत एकचक्र मुसलिम राज्य (पैनइस्लामिक एम्पायर) की व्यापक योजना ही बना ली थी। किन्तु जब उनके मूल

धर्म-स्थानका प्रश्न ही संकटमें पड़ गया और हिन्दुओंकी सहायता लेना उन्होंने अनिवार्य समझा, तब उतने समयके लिये यह विचार राजनीतिक दृष्टिसे स्थगन कर दिया गया।

हिन्दू-मुस्लिम दंगे

किन्तु खिलाफतका प्रश्न सिद्ध होते ही देशमें स्थान-स्थान-पर भयंकर रूपसे दंगे होने प्रारम्भ हो गए। रामलीला और मुहर्रम, बाजे तथा गौ—इन बर्बरतापूर्ण उपद्रवोंके आधार बनाए गए। बम्बई, कलकत्ता, सहारनपुर, लाहौर, मुलतान, मेरठ, प्रयाग और काशी जैसे बड़े नगर इन उपद्रवोंके केन्द्र बने और इन नगरोंके मुसलमान धनपतियोंने धर्मान्ध मुल्लाओंसे प्रेरणा और उत्तेजना पाकर प्रत्येक उद्धत मुसलिम युवकको रुपए और शस्त्र देकर हिन्दुओंका विनाश करनेके लिये उत्तेजित किया। होली, दीवाली, मुहर्रम और ईदके दिन सबको यह आशंका होने लगती थी कि कहीं उपद्रव न हो जाय। पिछले तीस वर्षके समाचार-पत्र इस बातके साक्षी हैं कि हिन्दू और मुसलमानोंका एक भी पर्व हिन्दुओंका रक्त पिए बिना और हिन्दू देवियोंका सतीत्व नष्ट किए बिना पूर्ण नहीं हुआ। इन सब धार्मिक कहलाने-वाले राजनीतिक विप्लवोंके पीछे ब्रिटिश सरकार और उनके पोषित सरकारी मुसलमान कर्मचारियोंकी भी पूरी सहायता रहती थी क्योंकि भारतके असहयोग तथा स्वतन्त्रता-आन्दोलनको विफल करने तथा स्वराज्यकी वर्द्धमान आशाको निरर्थक और अकल्प्य सिद्ध करनेके लिये ब्रिटिश सरकार यह प्रदर्शित करना चाहती थी कि हिन्दू और मुसलमान दो भिन्न जाति, भिन्न धर्म और भिन्न संस्कारसे युक्त हैं जो ब्रिटिश सरकारके हटते ही परस्पर लड़-भिड़कर देशको नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे और अपना तथा अपने देशका जीवन सदा अशान्त बनाए रहेंगे।

ब्रिटिश कूट-नीति

अपने इस दुःसंकल्पको पूरा करनेके लिय जहाँ ब्रिटिश

शासकोंने हिन्दू-मुसलिम दंगोंको प्रोत्साहन दिया वहीं उन्होंने इस प्रकारके विधान भी बनाए कि स्वायत्त शासन-संस्थाओंमें हिन्दू और मुसलमानोंका प्रतिनिधित्व अलग-अलग हो। यद्यपि इस विधानके विरुद्ध बड़ा आन्दोलन किया गया और इस प्रवृत्तिको देशके लिये विघातक भी सिद्ध किया गया, किन्तु अंग्रेजी सरकारके कानोंपर जूँ तक न रेंगी। उनका हित भी इसीमें था, इसलिये यह विभेद-नीति और भी उग्रताके साथ प्रयुक्त की जाने लगी।

मुसलिम-लीग

इस विभेद-नीतिको स्थिर रूप देनेके लिये एक संस्था बनाई गई मुसलिम-लीग, जिसके कर्णधार बने बम्बईके बैरिस्टर मुहम्मद-अली जिन्ना। वे केवल नाम भरके मुसलमान थे। उनका सम्पूर्ण आचार-विचार और व्यवहार अंग्रेजी था। एक वह भी युग था जब यही मुहम्मदअली जिन्ना हिन्दू-मुसलिम एकताका राग अलापते थे, स्वराज्य (होमरूल) के लिये श्रीमती एनी बेसेंटके साथ मिलकर आन्दोलन छेड़ रहे थे और एक वह भी दिन आया कि वही मुहम्मदअली जिन्ना द्विराष्ट्र-सिद्धान्त (टू-नेशन-थ्योरी) का आधार पकड़कर मुसलिम-लीगके नेता बनकर देशके खंड-खंड करनेको प्रस्तुत हो गए।

पाकिस्तानकी रूपरेखा

पहले तो इन लोगोंने एक-चक्र-इस्लामी-राज्य बनानेका संकल्प किया और यह चाहा कि मिस्र, अरब, फारस, तुर्की और अफगानिस्तानके साथ बलोचिस्तान, सिन्ध, उत्तर-पश्चिम सीमान्त-प्रदेश, पंजाब और कश्मीरको मिलाकर एकचक्र मुसलिम-साम्राज्य अथवा मुसलिम-राज्यसंघ स्थापित कर लिया जाय। किन्तु इस बार जो नई योजना बनी उसमें ब्रिटिश कूट-नीतिका भी कुटिल सहयोग प्राप्त

हुआ और मुसलिम लीगने अब यह पुकार मचाई, कि भारतके पूर्वी प्रान्तोंमें और पश्चिमी प्रान्तोंमें जहाँ मुसलिम-बहुमत है, उधर दोनों ओर पाकिस्तान बनाया जाय और पाकिस्तानके इन दोनों सुदूर प्रदेशोंको एक सूत्रमें बाँधे रखनेके लिये इन दोनोंको मिलानेवाला एक गलियारा भी छोड़ दिया जाय। इसके अतिरिक्त भारतके जिन प्रदेशोंमें मुसलिम राज्य हैं वे पाकिस्तानकी जेबें समझी जायें। मुसलिम-लीगकी इन अन्याय-पूर्ण माँगोंका समर्थन भारतके देश-द्रोही मुसलमानोंने स्थान-स्थानपर दंगोंद्वारा किया।

दैव-संयोग

इसी बीच संसारकी राजनीतिक गतिमें सहसा ऐसे परिवर्तन हुए कि विवश होकर अंग्रेजोंको भारत छोड़नेका संकल्प करना पड़ा। तीन सितम्बर सन् १९३९ को दूसरे महायुद्धमें भारतको इच्छाके विरुद्ध उसे भी घसीट लिया गया। भारतने इसका घोर विरोध किया कि हमारी इच्छाके विरुद्ध हमें युद्धका भागी न बनाया जाय, किन्तु ब्रिटिश सरकार कुछ सुननेके लिये तैयार नहीं थी। फलतः कांग्रेसके सब मन्त्रि-मण्डलोंको त्यागपत्र दे देना पड़ा।

भारत छोड़ो

सन् १९४० ई० को राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की कार्यसमितिने यह निर्णय किया कि तत्काल भारतको पूर्ण स्वराज्य दिया जाय और तबतकके लिये अस्थायी अन्तरिम सरकारकी स्थापना कर दी जाय। ब्रिटेनने और वहांके समाचार-पत्रोंने यह कहना प्रारम्भ किया कि दस करोड़ मुसलमान इस संघके विरोधी हैं। मुसलिम-लीगको भी इससे सहारा मिल गया और उन्होंने सन् १९४० ई० के मार्चमें उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्वके मुसलिम बहुमतवाले प्रान्तोंमें पाकिस्तान बनानेकी माँग की। उसके पश्चात् पाकिस्तान-संघ, स्वतन्त्रता और युद्धका एक नया वात्याचक्र ही बन गया। सन् १९४० ई० में व्यक्तिगत

सत्याग्रह प्रारम्भ करना पड़ा और सन् १६४२ में युद्ध और युद्धोद्योगोंके विरुद्ध सामूहिक सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया गया। फलस्वरूप ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डलने स्टेफर्ड क्रिप्स को यहां भेजा जिन्होंने संघ-विधानका प्रस्ताव करते हुए यह सुझाव रक्खा कि जो प्रान्त न चाहे वह संघमें सम्मिलित न हो। देशी राज्योंके लिये भी उसमें कोई स्थान नहीं था। यह भी सम्भवतः स्वीकृत हो जाता किन्तु इसके पश्चात् रक्षा-विभागके हस्तान्तरित करनेके प्रश्नपर समझौता टूट गया। १० अप्रैल सन् १६४२ ई० को राष्ट्रीय महासभाने क्रिप्स-प्रस्ताव अस्वीकार किया और गांधीजीने अपने 'भारत छोड़ो' आन्दोलनकी पुकार ऊंची कर दी। ८ अगस्त सन् १६४२ ई० को 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकृत हो गया और उसी दिन भारतके सब राजनीतिक नेता पकड़-पकड़-कर विभिन्न प्रान्तोंके विभिन्न स्थानोंमें भेज दिए गए। इसी बीच २६ जनवरी सन् १६४१ ई० को ब्रिटिश सरकार और गुप्तचर-विभागको पराजित करते हुए श्रीसुभाषचन्द्र बसु भारत छोड़कर बाहर शक्ति संघटित करनेके लिये निकल गए और ब्रिटिश सरकार मुंह ताकती रह गई। 'भारत छोड़ो'का समाचार देश-विदेशमें फैला तो जापानियोंके शिविरोंमें बन्दी भारतीय सैनिकोंने ५ सितम्बर सन् १६४२ ई० को जनरल मोहनसिंहके नेतृत्वमें 'आजाद-हिन्द-फौज' की स्थापना की। गांधीजीके जन्मदिवस २ अक्तूबर सन् १६४२ को सिंगापुरके मैदानमें आजाद-हिन्द-फौजका विराट् प्रदर्शन हुआ और २ जुलाई सन् १६४२ ई० को जर्मन और जापानी पनडुब्बियोंसे संकट-पूर्ण यात्रा करके नेताजी सुभाषचन्द्र बोस बर्लिनसे सिंगापुर पहुँचे और २५ अगस्त सन् १६४३ ई० को वे आजाद-हिन्द-फौजके प्रधान सेनापति हो गए। उनकी अध्यक्षतामें भारतीय नेताओंके नामपर अलग-अलग सेनाओंका संघटन हुआ और महारानी झांसीके नामपर महिलाओंकी भी एक सेना संघटित की गई।

चलो दिल्ली

'चलो दिल्ली' का नारा ही इनको युद्ध-ध्वनि हुई। किन्तु इम्फालमें पहुँचकर यह स्थिति हो गई कि नेताजीको सैनिकोंकी इच्छाके विरुद्ध रुक जानेका आदेश देना पड़ा और मौलमीन लौटनेका निश्चय कर लिया गया। रंगूनके पतनके साथ नेताजी-को अप्रैल सन् १९४५ ई० में रंगून छोड़ देना पड़ा। सहसा हिरोशिमा और नागासाकीपर जब ६ और ९ अगस्तको परमाणु बम-वर्षा हुई तो १५ अगस्त सं० १९४५ ई० को जापानने आत्म-समर्पण कर दिया और नेताजी वायुयान-द्वारा सिंगापुरसे टोकियोके लिये उड़ चले। कहा जाता है कि १८ अगस्त सन् १९४५ ई० को तैहोकू विमान-केन्द्रसे उड़ते हुए २ बजे दिनमें यह विमान गिर गया और नेताजी चल बसे। यह कथा यद्यपि पूर्ण रूपसे प्रमाणित नहीं हुई तथापि शरीरसे भले ही वे जीवित न हों, किन्तु भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्रामके वे सबसे बड़े सेनानी रहे हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

ब्रिटिश दमन-चक्र और मालवीयजी महाराज

सन् १९४२ ई० में सरकारने जो दमन-चक्र चलाया, वह किसी भी सभ्य सरकारके लिये अत्यन्त लज्जाकी बात थी। किन्तु फिर भी ब्रिटिश सरकारने अत्यन्त मनोयोगसे, अपने सभी सैनिक शस्त्रास्त्रोंसे हत्या करते हुए, आग लगाते हुए इस आन्दोलनको दबा दिया। कुछ दिनों पीछे समाचार-पत्रों, व्यापारियों और नरम दलके नेताओंने यह आन्दोलन छेड़ा कि सभी नेताओंको छोड़ दिया जाय, किन्तु सरकार टससे मस नहीं हो रही थी। उस समय अपनी वृद्धता और अशक्तताकी तनिक भी चिन्ता न करते हुए, महामना मालवीयजीने ब्रिटिश सरकार-को चुनौती दी और कहा कि गांधीजीने सरकार-द्वारा प्रेषित अपराध-सूचीका जो उत्तर दिया है, उसका या तो सरकार प्रत्युत्तर दे या तत्काल गांधीजीको छोड़ दे। इस घटनाका उल्लेख

करते हुए कांग्रेसके इतिहासमें श्रीपट्टाभि सीतारमैयाने लिखा है—"तब बीचमें पड़े भारतके वृद्ध महापुरुष पंडित मदनमोहन मालवीय, जो वय और बुद्धि, दोनोंमें परिपक्व थे। उन्होंने गांधीजी तथा उनके साथियोंके छुटकारेकी मांग की और उन्होंने अपनी मांगका दाँव गान्धीजीके उस उत्तरपर लगा दिया जो उन्होंने सरकार-द्वारा प्रेषित अपराध-सूचीपर दिया था।"

समझौता

इसीके पश्चात् पूज्य पण्डित मालवीयजीने मार्चमें सर्वदल-सम्मेलन करनेका निश्चय किया किन्तु जब उन्होंने सुना कि ७ या ८ अप्रैलको लखनऊमें सर तेजबहादुर सप्रूके नेतृत्वमें निर्दल नेता-सम्मेलन हो रहा है तो उन्होंने अपना विचार छोड़ दिया। इन आन्दोलनोंके फलस्वरूप ६ मई सन् १६४४ ई० को गांधीजी छोड़ दिए गए और १५ जून सं० १६४५ ई० को जब लार्ड वावेल इंगलैण्ड लौटे तो कार्यसमितिके सभी सदस्य छोड़ दिए गए। शिमलेमें २६ जूनसे १४ जुलाईतक सब प्रान्तोंके प्राचीन और नवीन प्रधान मन्त्रियोंकी सभा हुई, जिसमें कांग्रेस, लीग, सिक्खदल और ऐंग्लो-इण्डियन दलके लोग भी सम्मिलित हुए थे किन्तु १४ जुलाईको लार्ड वावेलने घोषित कर दिया कि समझौता नहीं हो सकता।

भारतका भयंकर विभाजन

इसके पश्चात् पार्लियामेंटमें नव-मजदूर-दल शक्तिशाली हुआ और १६ सितम्बरको यह घोषणा की गई कि भारतमें प्रान्तीय और केन्द्रीय चुनाव किए जायेंगे, विधान-परिषद्की स्थापना होगी और भारतके प्रधान दलों-द्वारा घोषित अन्तरिम सरकारकी स्थापना होगी। इस विधान-परिषद्में देशी राज्योंके प्रतिनिधियों तथा अन्य अल्पमत जातियोंके प्रतिनिधियोंके सम्मिलित होनेकी भी योजना थी। इस घोषणाके साथ वाइसरायने अपना

नकाराधिकार भी शिथिल कर दिया था और इस प्रकार राष्ट्रीय स्वतन्त्रताके लिये ६० वर्षका जो महायुद्ध हुआ उसकी पूर्णता अकल्पित, अकल्याणकर तथा अनिष्टकारी सिद्ध हुई, क्योंकि स० २००४ वि० (सन् १९४७ ई०) में कलकत्ते और बम्बईमें मुसलमानोंके भीषण दगे हुए और नोआखालीमें हिन्दुओं-की जो दुर्गति हुई वह इतनी करुण और हृदय-द्रावक है कि लेखनी उसका वर्णन करते हुए रो देती है। किस प्रकार अन्तरिम सरकार बनी और किस प्रकार वह निरर्थक सिद्ध हुई, इसका प्रमाण यही है कि पूर्व बगालके मुसलमानोके सुसघटित दलोंने, मुसलिम नेताओके विष-भरे व्याख्यानो, मुसलिम सस्थाओं-द्वारा प्रचारित गुप्त लेखो, मुसलिम-लीगके नेताओकी तर्जनाभरी प्रवृत्तियोसे प्रेरित होकर नि शस्त्र, निरीह हिन्दुओपर आक्रमण करके अनेक हिन्दू और सिक्खोंको चोटी और दाढी मुंडवानेके लिये विवश किया, अनेक जीवित बच्चे अग्निमें झोक दिए गए, भालोकी नोकपर टाँग दिए गए, असख्य नारियोको अपना सतीत्व बचानेके लिये कुँओंमें कूदकर प्राण त्याग करनेको विवश होना पडा और जो बच रहीं उनकी दुर्गति सुनकर कौन ऐसा सहृदय है जिसे रोमाच न हो आवे, जो क्रोधसे दाँत न पीसने लगे और रो न पडे।

हिंदुओंकी दुर्दशा

यह नृशस व्यवहार सुनकर कौन हिन्दू धैर्यकी रक्षा कर सकता है कि उनकी स्त्रियोको नग्न करके उनका जलूस निकाला गया, उनके सम्बन्धियोंके सम्मुख उनपर बलात्कार किया गया उनके देखते-देखते उनका अग-भग कर डाला गया और उनका बलपूर्वक अपहरण किया गया यहाँतक कि आजतक भी पैंतोस सहस्र हिन्दू स्त्रियाँ, पाकिस्तानकी सीमामें रक्तके आँसू बहा रही हैं, पाकिस्तानी गुण्डोसे मुक्त नहीं की जा सकीं। इसके अतिरिक्त जो अनेक देव-स्थान भ्रष्ट किए गए और हिन्दुओंकी

जो सम्पत्ति लूटी गई, उसका कोई ठिकाना नहीं। जो लोग एक दिन पहले लक्षाधिपति थे, वे दूसरे दिन राहके भिखारी बना दिए गए। महात्मा गाँधी नोआखाली गए हिन्दुओंके आँसू पोंछने, उधर पंजाबमें भी नोआखालीकी आवृत्ति हुई। हमारे नेताओंने देशसे सम्मति लिए बिना जिन्नाकी माँग स्वीकार कर ली। देशको खण्ड-खण्ड कर डाला गया। पाकिस्तानकी नई सीमामें बसे हुए हिन्दुओंपर विपत्तिके बादल आ घहराए, यहाँतक कि जब १५ अगस्त सं० १९४७ को भारतमें कुरूप स्वतन्त्रताके उल्लास-स्वागतपर हम महोत्सव मना रहे थे, उस समय पाकिस्तानके मुसलमान वहाँके हिन्दू पुरुषों और स्त्रियोंके रक्तसे होली खेल रहे थे। खण्डित स्वतन्त्रताके अभिनन्दनोत्सवके उन्मत्त उल्लासमें पंजाबके आर्त्त, पदाक्रान्त, पीड़ित और त्रस्त हिन्दुओंकी वाणी अधिकारियोंके कानतक न पहुँची, उनके हृदयसे निकलती हुई रक्तकी धारा किसीकी दृष्टिको आकृष्ट न कर सकी, उनका करुण विलाप किसीको विचलित न कर सका। वे निरीह हिन्दू अपना घरबार छोड़कर यहाँतक कि अपना परिवार छोड़कर भाग निकलनेको विवश हुए। पाकिस्तानी लहरोंके थपेड़ोंमें कोई हिन्दू न बच सका, न बच सका।

✗ ✗ ✗

३३

नमस्कार ! साधुबेला ! नमस्कार !

कुराज्य सत्यजेद्धीमान् ।

यद्यपि प्रारम्भमें पाकिस्तानी गुण्डोका आतंक सिंधमें नहीं था किन्तु जब पंजाबमें मारकाट मचने लगी और वहांके हिन्दू घर छोडकर चले जानेके लिये विवश हो गए, उस समय सिन्ध भी विचलित हो उठा। जहां अनेक हिंदू भाग-भागकर पाकिस्तानसे बाहर जा रहे थे और पंजाबसे हटकर सिंधको सुरक्षित समझकर यहाँ बस रहे थे वहीं अनेक मुसलमान भी भारतकी सीमासे पाकिस्तानमें निरन्तर प्रवेश करते जा रहे थे।

काले बादल

१५ अगस्त सं० १९४७ को पाकिस्तान निर्माणकी घोषणा हो चुकनेके पश्चात सिंधके जनपदोका वातावरण भी क्षुब्ध हो चला था। वहाँके मुसलमान भी धर्मांधताके मदमें उन्मत्त होकर

अपने पड़ोसी हिन्दुओंको तर्जना देने लगे थे। मुसलमानी साम्राज्यके दिनोंमें मुसलिम जनताकी जो राजसी, स्वामित्व-पूर्ण मनोवृत्ति थी, वही इन मुसलमानोंमें भी आ समाई और उन्होंने अपने निकटतम हिन्दू मित्रोंके साथ भी उसी प्रकारका रूखा और कुटिल व्यवहार प्रारम्भ कर दिया जैसा पंजाबमें होने लगा था। प्रतिदिन छोटी-छोटी बातोंपर मुसलमान गुण्डे हिन्दुओंको धमकी देने लगे और देवस्थानोंपर जाकर उपद्रव करके गालियाँ बकने लगे। सरकारी अधिकारियोंसे उनके विरुद्ध कुछ कहा जाता था तो वे भी सुनी-अनसुनी कर देते थे। हिन्दुओंने देखा कि अब इन अत्याचारों और अनाचारोंके साथ निर्वाह करना असम्भव है तो वे लोग भी धीरे-धीरे सिन्ध छोड़कर भारतकी सीमामें समुद्रके रास्ते बम्बई या राजस्थानमें पहुँचकर जहाँ शरण मिली वहीं निराश्रितकी भाँति बसने लगे।

आँखका कष्ट

उन दिनों श्री स्वामी हरिनामदासजी अपनी आँख बनवानेके लिये बाहर जाना चाहते थे। जनताकी विपत्तिने उनका हृदय मथ डाला था और वे निरन्तर यही चिन्ता करते थे कि जब हिन्दू नहीं रहेंगे तो इस तीर्थमें रहकर क्या होगा। उन दिनों स्वामीजीके प्रधान शिष्य श्रीगणेशदासजी काशीके उदासीन संस्कृत-महाविद्यालयमें विद्याध्ययन कर रहे थे और कोठारी श्रीगुरुचरणदासजी स्वास्थ्य-लाभ करने हरिद्वार गए थे। स्वामीजीने तार देकर दोनोंको बुलवाया और नवम्बर सन् १९४७ को एक संकल्प-पत्र (वसीयतनामा) लिखकर अपने शिष्य कोठारी बाबा गुरुचरणदासजी तथा महन्त श्रीगणेशदासजीको वहाँका सब कार्य-भार सौंपकर और उनका साथ देनेके लिये श्रीहरिभजनदासजी, श्रीब्रजमोहनदासजी पुजारी,

श्रीजीवन्मुक्तदासजी तथा श्रीबनवारीदासजीको वहाँ छोड़कर वे करांची जानेको तैयार हो गए।

साधुबेलासे प्रस्थान

कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी सं०, २००४ साधुबेला-तीर्थकी सबसे अधिक हृदय-द्रावक तिथि थी। श्रीवनखण्डीजी महाराजके स्थापित किए हुए उस तीर्थको, अपने तन्मयतापूर्ण कौशलसे अलंकृत किए हुए उस दिव्य स्थलको सदाके लिये त्याग करते समय स्वामीजीका गला भर आया, उनकी आँखोंमें अश्रुबिन्दु आ छाए कि जहाँ आजतक यज्ञ, पूजन, हवन, जप-तप होता था, वहाँ भविष्यमें यवन-राज्यमें क्या-क्या कुकृत्य होंगे! यही सोचकर वे अत्यन्त भावुक हो उठे। उन्होंने अत्यन्त भावमग्न होकर क्रमशः सब देवताओंको प्रणाम किया, वनखण्डीजी महाराजकी मूर्तिके आगे मस्तक नवाया, विभूति माथेपर चढ़ाई और फिर वे अपनी उस मातृभूमि सिन्धको, तीर्थ-सलिला सिन्धु-गंगाको और साधुबेला-तीर्थको अन्तिम प्रणाम करके, अपने साथ श्रीहरिशरणदासजी, श्रीअतरदासजी, पण्डित श्रीसुतीक्ष्ण-मुनिजी, सेठ गोविन्दराम चयनारामाणी तथा डाक्टर सुगनामलको लेकर सक्खरसे चल दिए।

साधुबेलाकी व्यवस्था

२७ नवम्बरको करांची पहुँचकर वे सेठ टी० मोटनदासजीके आवासपर ही विश्राम के लिये तीन दिनोंतक ठहरे रहे। इन तीन दिनोंमें उन्होंने पाकिस्तानमें भारतके राजदूत श्री श्रीप्रकाशजीसे मिलकर उन्हें सिन्धवासियोंकी विपत्ति-कथा विस्तारसे सुनाई और फिर वे ३० नवम्बर सन् १९४७ को अपने साथियोंको लेकर विमानसे बम्बई पहुँच गए। स्वामीजीके अनेक भक्त और शिष्योंने बड़ी धूमधामसे उनका स्वागत किया और उन्हें ऑपेरोमें सेठ हासानन्द-रूपचन्दके

आवासपर ठहराया। वहाँ अपने नेत्र बनवाकर वे कुछ दिनोंके पश्चात् २२ जनवरी संन् १९४८ को पूने पहुँचे और वहां चार दिन रहकर २६ जनवरीको महाबलेश्वर चले गए। वहाँ लगभग दो मासतक धर्मोपदेश करके २७ मार्च सन् १९४८ को फिर बम्बई लौट आए और वहाँ बहुत दिनोंतक प्रचार-कार्य, उपदेश तथा कथाप्रवचन करते रहे। जिन दिनों स्वामीजी बम्बईमें थे, उन्हीं दिनों कोठारी श्रीगुरुचरणदासजीने श्रीगणेशदासजीको तथा सहायक कोठारी श्रीहरभजनदासजीको और पुजारीजीको आदेश दिया कि आप लोग घूम आइए। फलतः ये लोग बम्बई चले आए। इसी बीच जब कोठारीजी भी स्वास्थ्य-लाभके लिये बम्बई चले आए तब स्वामीजीने श्रीगणेशदासजी तथा श्रीहरभजनदासजीको साधुबेला भेज दिया। इन्हीं दिनों जब पूर्ण रूपसे पाकिस्तान बन गया तब स्वामीजीने कोठारी बाबा गुरुचरणदासजी तथा पुजारी जीवन्मुक्तजीको बम्बईके महालक्ष्मी-स्थित साधुबेला-आश्रमकी देखभालके लिये नियुक्त कर दिया, जहाँ आजतक नियमानुसार प्रतिदिन कथा, कीर्तन, सत्संग आदि होता रहता है। इस अवसरपर उन्होंने अनेक शरणार्थि-शिविरोंका निरीक्षण करके सरकारको तथा अपने कोठारी श्रीगुरुचरणदासजीको लिखकर शरणार्थियोंके भोजन-वस्त्रका प्रबन्ध किया। जब उन्होंने देखा कि बम्बईकी भयंकर वर्षासे शरणार्थि-शिविर जल-मग्न हो गए हैं, स्त्रियाँ शीतसे काँप रही हैं, बच्चे भूखसे बिलबिला रहे हैं तो उनका सदय हृदय करुणासे रो उठा। जितना उनसे बना पड़ा, उन्होंने सहायता की और भगवानसे पुकार की कि इन दुखियोंका कल्याण करो और देशके कर्णधारोंको सद्बुद्धि प्रदान करो। इन मर्मभेदी घटनाओंसे स्वामीजी इतने विचलित हुए कि वैशाख शुक्ला चतुर्थी सं० २००५ (१२ मई सन् १९४८) को अपने साथ कुछ भक्तोंको लेकर वे बम्बईसे काशी चले आए।

बीचमें कुछ दिनोंके लिये वे प्रयागमें भक्त केसूरामजीके यहाँ रुक गए और वहाँसे २६ मई सन् १९४८ ई० को चलकर काशीमें अपने भदैनीवाले स्थानमें आकर उन्होंने श्रीसाधुबेला-आश्रम स्थापित किया जिसे उन्होंने पुनः बनवाकर, विद्युद्दीप आदिसे आलोकित करके उस स्थानको रमणीक बनाया और वहाँ नित्य कथा-प्रवचन आदिकी व्यवस्था की।

ॐ ॐ ॐ

३४

साधुवेलाका परित्याग

खलानां कण्टकानाञ्च दूरतो हि विसर्जनम् ।

स्वामी श्रीहरिनामदासजीको साधुबेला-तीर्थसे गए लगभग एक वर्ष हो चुका था। इस बीच मुसलमानोंकी दुष्टता और नीचता पराकाष्ठा-तक पहुँच चुकी थी। प्रति दूसरे-तीसरे दिन मुसलमान युवकोंकी टोलियाँ नावोंमें चढ़कर वहाँ आतीं, खाना-पीना करतीं और साधुओंको गालियाँ देतीं। सिन्धमें ऐसा भी कोई नहीं बचा रह गया जिसे इन अनाचारोंके विरुद्ध प्रेरित करके उनका निराकरण किया जाता।

साधुबेलापर राजकोप

१६ नवम्बर सन्० १९४८ ई० को श्री सराई, डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस, कोतवाल, नगरके सब पुलिस-दारोगा तथा शस्त्रधारी पुलिसका एक दल यन्त्र-नौकाओंपर बैठकर साधुबेला

आया और उसके चारों ओरके घाटोंपर नाव बाँधकर उन्होंने इस प्रकार द्वीपको घेर लिया मानो साधुबेला-तीर्थ बम बनानेका कारखाना बना हुआ हो। इस दलके पास न तो जिला-अधिकारियोंका आदेशपत्र था, न केन्द्रीय पाकिस्तानी सरकारका कोई अधिकार-पत्र ही था और न किसी प्रतिष्ठित हिन्दू नागरिकको ही वे साक्षी बनाकर लाए थे। पुलिस-अधिकारियोंने भीतर आते ही यह आदेश दिया कि साधुबेला-तीर्थकी सीमामें जितने लोग हों सब गीता-भवनमें आकर एकत्र हो जायँ और जिन-जिन मन्दिरों, भवनों और प्रकोष्ठों-में ताले लगे हों, वे सब खोल दिए जायँ। यद्यपि पुलिसने कोई आदेशपत्र प्रस्तुत नहीं किया, फिर भी उनसे ठायँ-ठायँ मोल लेना नीतितः उचित नहीं प्रतीत हुआ। इसलिये उनके आदेशानुसार सब आश्रमवासी गीता-मन्दिरमें एकत्र हो गए और सब भवनों तथा मन्दिरोंके ताले खोल दिए गए। पुलिसने उस पवित्र स्थानकी मर्यादाका बिना विचार किए जूते पहनकर सब मन्दिर, मकान, प्रकोष्ठ, पाठशाला, वाचनालय, उपवन आदि स्थानोंके कण-कणको उलट-पलटकर अत्यन्त क्षुद्रताके साथ पूरी जाँच की, यहाँतक कि कई स्थानोंपर तो उन्होंने संगमरमरका फर्श भी उखाड़ दिया।

यह अन्धेर !

यद्यपि पुलिस अपने साथ प्रतिष्ठित हिन्दू साक्षीके बदले मुसलमान साक्षी लाई थी किन्तु जब इसपर आपत्ति की गई तब उन्होंने सक्खरसे सेठ माधोदास गोविन्दरामाणीको सन्देश भेजकर बुला लिया। उस दिन जिलाधीश श्री जी० एम्० रे तथा एस्० एस्० पी० (सीनियर पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट) चक नामक गाँवमें दौरेपर गए हुए थे और सम्भवतः इसीलिये इन लोगोंने साधुबेलापर आक्रमण करनेका ऐसा दिन निश्चय किया कि प्रधान अधिकारियोंतक प्रार्थना भी न पहुँचाई जा सके।

पाकिस्तानियोंकी नीचता

लगभग मध्याह्नतक उनका यह आयोजन चलता रहा और उसके पश्चात् पुलिस-अधिकारियोंने अपनी क्षुद्र पाकिस्तानी-मनोवृत्तिका परिचय देते हुए सक्खरसे मांस-मदिरा मँगाकर वहीं साधुबेलाके पवित्र तीर्थमें बैठकर अट्टहास तथा कुत्सित प्रलापके साथ भोजन-पानी किया और उसके पश्चात् तलाशीका-कार्य पुनः प्रारम्भ कर दिया। जब दिन-भर परिश्रम करनेपर भी कुछ हाथ न लगा और कोई विरुद्ध प्रमाण न मिला, तब उन्होंने बड़े कौशलसे दीवारमें जड़ी ठाकुरजीकी वस्त्रोंवाली आलमारीमें बारूदके गोले छिपाकर रख दिए। तलाशीके नियमानुसार पुलिसका कर्तव्य है कि वह साक्षियोंके साथ गृहस्वामीको भी साथ ले चले और सबके समक्ष साक्ष्य-पत्र भरावे, किन्तु उस पाकिस्तानी पुलिसने न साक्षियोंको साथ लिया और न साधुओंको, अपने मनसे तलाशी लेकर बारूदके गोले निकालकर साधुओंपर यह मिथ्या आरोप लगाया कि आप लोगोंके आश्रमसे बारूदके गोले मिले हैं। साधुओंने इस आरोपका तत्काल प्रतिवाद किया और यह भी बताया कि पुलिसने जिस क्रमसे तलाशी ली है, वह अत्यन्त अनियमित है।

साधुओंके साथ दुर्व्यवहार

लगभग पाँच बजेतक साधुओंके साथ बन्दियोंकासा दुर्व्यवहार करके उन्हें एक स्थानपर छः-सात घंटे रोककर संध्याको लगभग पाँच बजे पुलिस वहाँसे चली गई। अगले दिन पुलिसके इस दुर्व्यवहारकी सूचना सभी प्रधान अधिकारियोंको दे दी गई तथा भारतके करांची-स्थित हाई कमिश्नर श्री श्रीप्रकाशजीके पास भी इस आशयकी प्रार्थना भेजी गई कि वे भारत सरकारसे इस सम्बन्धमें लिखा-पढ़ी करें। किन्तु उस अन्धेर-नगरीमें सुनवाई होनेके बदले उसकी ठीक उलटी प्रतिक्रिया हुई। २२ नवम्बर

सन् १६४८ को प्रातःकाल ६ बजे साधुबेलाके घाटसे आनेवाले एक व्यक्तिसे साधुओंको यह सन्देश मिला कि आपको घाटपर पुलिसका एक व्यक्ति बुला रहा है। परस्पर बातचीत करके, आश्रमके सहायक कोठारी श्रीहरभजनदासजी घाटपर गए और वहांसे पुलिसवालेके साथ डिप्टी पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्टके पास जा पहुँचे। पहुँचते ही ये हवालातमें डाल दिए गए और फिर एक दिन हवालातमें रक्खे जाकर, पन्द्रह दिनके लिये सेण्ट्रल जेलमें भेज दिए गए। जब यह पन्द्रह दिनकी अवधि भी समाप्त हो गई तब पुलिसने और भी पन्द्रह दिनका अवकाश मांगा और इस बीच पुलिसने षड्यन्त्र करके सहायक कोठारीजीके विरुद्ध एक झूठा अभियोग गढ़ दिया, जिसके फलस्वरूप बेचारे कोठारीजीको अभियोगकी प्रत्येक तिथिपर हथकड़ियोंमें बँधकर कचहरी आने-जानेकी यातना सहनी पड़ी।

सेठ माधवदासको निर्वासन-दड

तलाशी होनेके पश्चात् मुसलमान युवकोंकी गुण्डई और भी अधिक तीव्र हो चली। अब वे और भी अधिक संख्यामें मण्डली बनाकर आते, फूलपत्ती नोचते, गाली-गलौज करते, और साधुओंको दुर्वचन कहकर सब प्रकारसे अपमानित करते। अभियोगका भी कोई परिणाम नहीं हुआ। छः मास कारावासकी यातना सहकर एडवोकेट दीवान होलाराम, डा० केशवदासजी तथा करांचीवासी सेठ टी० मीटनदासजीके अथक परिश्रम और प्रयत्नसे निरपराध, सुशील, साधु श्रीहरिभजनदासजी कारागारसे छूट आए। फलतः श्रीगणेशदासजी उन्हें काशी ले आए और उन्हें काशीमें छोड़कर साधुबेला लौट गए। वे ही नहीं वरन् सेठ माधवदास भी पुलिसकी इस दुर्नीतिके आखेट हुए। पुलिसने इन्हें अपना साक्षी बनाया था और जान पड़ता है कि उन्होंने पुलिस की हां-में-हां न मिलाई होगी, जिसके पुरस्कार-स्वरूप उन्हें भी दो-तीन महीनेतक बिना अभियोग लगाए कारावासका

पुरस्कार प्राप्त हुआ और छूटनेपर उन्हें आज्ञा दी गई कि आप तत्काल सिन्ध छोड़कर चले जाइए। पाकिस्तानी पुलिसकी इच्छा न माननेवाला व्यक्ति रह भी कैसे सकता था और रहने भी कैसे दिया जा सकता था।

सक्खरमें मुसलमानोंका उपद्रव

सहसा रविवार ३१ जुलाई सन १६४६ को सक्खरके मुसलिम गुण्डोंने हिन्दुओंपर बर्बरता-पूर्ण आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। नगरके त्रस्त हिन्दू प्राण लेकर भागें तो जायें कहाँ। जिससे जहाँ बना वह उधरको भाग निकला और लगभग एक सहस्र स्त्री, पुरुष और बच्चे साधुबेला-तीर्थकी शरणमें आ गए। लगभग दो महीनेतक महाराज गणेशदासजी और साधुबेला-आश्रम-वासी साधुओंने अत्यन्त श्रद्धाके साथ इन विपद्ग्रस्त प्राणियोंकी सेवा की। दो महीनेके पश्चात् जब नगरका वातावरण कुछ शान्त हुआ तब अधिकांश परिवार तो लौट गए किन्तु पाँच-सात परिवार फिर भी वहीं ठहरे रहे।

आश्रम छोड़ दिया गया

सिन्धमें जब इस प्रकारसे तीर्थ-स्थानोंकी दुर्दशा होने लगी और यहाँ धर्म, कर्म, तन, जन और धन सब संकटपूर्ण प्रतीत होने लगे तब स्वामी हरिनामदासजीने गणेशदासजीको पत्र भेजा कि आप लोग आश्रमकी सम्पूर्ण चल और अचल सम्पत्ति मुद्रित कराकर पाकिस्तान-सरकारके हाथ सौंपकर काशी चले आवें। तदनुसार सुसज्जित, समलंकृत साधुबेला-मन्दिर के तीर्थ पाठशाला, वाचनालय, औषधालय, कोठार, गीता-भवन, वेद-भवन, सरस्वती-भवन, आदिसे युक्त लगभग चार करोड़की चल तथा अचल सम्पत्ति सिन्ध सरकारको सौंप दी गई। ३० तथा ३१ अक्तूबर सं० १६४६ को निरन्तर दो दिनोंतक सिन्ध-सरकारकी ओरसे नियुक्त सहायक-सुरक्षाधिकारी (असिस्टेण्ट कस्टोडियन

औफ़िसर) थी रऊफ़ने स्वयं सम्पूर्ण सम्पत्तिकी सूचीका परीक्षण करके सूचीके प्रत्येक पृष्ठपर हस्ताक्षर करके तथा सब मन्दिरों और भवनोंको भली भाँति बन्द करके उसपर राजमुद्रा अंकित कर दी। उसी दिन ३१ अक्तूबर सन् १९४९ को सब साधुओं और सेवकोंको साथ लेकर कराँची होते हुए १० नवम्बर १९४९ को श्रीगणेशदासजी स्टीमरसे बम्बई पहुँचे, जहाँ अनेक उत्कंठित भक्त आपके स्वागतके लिये उपस्थित थे। पाँच दिन बम्बईके साधुबेला-आश्रममें निवास करके १५ नवम्बर १९४९ को महाराज श्रीगणेशदासजी अपने साथ श्रीब्रजमोहनदास तथा श्रीबनवारीदासजीको लेकर १७ नवम्बर सन् १९४९ को काशी पहुँच गए।

स्वामी हरिनामदासजीका ब्रह्मनिर्वाण

अभी इन महात्माओंको आए एक मास भी न व्यतीत हुआ होगा कि एक दिन स्वामीजीने सेवा करनेवाले साधुओंसे और विशेषतः श्रीसुतीक्ष्णमुनिजीसे कहा—

"रातको मुझे स्वप्न दिखाई दिया कि मैं पुष्प-विमानपर चढ़कर स्वर्गकी ओर चला जा रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि अब यह शरीर अधिक दिन नहीं चल सकेगा।"

पौष कृष्णा अष्टमी सं० २००६ को प्रातःकाल पौने तीन बजे शिव-शिव जपते हुए स्वामी श्रीहरिनामदासजी सचमुच ब्रह्मलीन हो गए। अत्यन्त धूमधामसे सुसज्जित विमानमें पधराकर बाजे-गाजेके साथ उन्हें मणिकर्णिका घाट ले जाया गया और सायं लगभग ४॥ बजे उन्हें जलसमाधि दे दी गई।

अन्तिम सत्कार

यह दुःखद समाचार सहसा सम्पूर्ण काशीमें व्याप्त हो गया। थोड़े ही समयमें नगरके समस्त प्रतिष्ठित नागरिक तथा भक्त

अगणित संख्यामें एकत्र होने लगे। स्वामी हरिनामदासजीके त्यागमय पवित्र जीवनका इतना सात्त्विक प्रभाव था कि सभी भक्त परम आर्त्त हो चले थे। उन्होंने अपना उत्तराधिकारी श्रीगणेशदासजीको बनाया था तथा कोठारी-पदपर श्रीगुरुचरण-दासजीको प्रतिष्ठित किया था, इसलिये उदासीन-सम्प्रदायकी मर्यादाके अनुसार स्वामीजीका अन्तिम संस्कार श्रीगणेशदासजीने ही किया।

श्रीगणेशदासजी गद्दीपर

श्रीहरिनामदासजी महाराजके ब्रह्म-निर्वाणके तेरहवें दिन पौष शुक्ला षष्ठी सं० २००६ (ता० २५-१२-४६) को स्वामी श्रीगणेशदासजी गद्दीपर प्रतिष्ठित किए गए। श्री गणेशदासजीका पीठारोहण-महोत्सव जिस उल्लासमय तथा उत्साहमय वातावरणमें सम्पन्न हुआ वह साधुबेलाके इतिहासकी महत्त्वपूर्ण घटना है। इनसे पूर्व श्रीसाधुबेलाकी गद्दीपर जितने महन्तोंका अभिषेक हुआ सबने श्रीसाधुबेला-तीर्थके काष्ठ-सिंहासन या स्फटिक-सिंहासनपर आरोहण किया था किन्तु स्वामी श्रीगणेशदासजीने काशीमें अत्यन्त नवीन रूपसे पीठारोहण किया। उस अवसरपर काशीके समस्त उदासीन धर्मपीठोंके साधु, सन्त, महन्त तथा काशीके बाहरसे अगणित अभ्यागत साधु-सन्त उपस्थित थे। काशीके धनी, मानी, विद्वान्, पण्डित, अधिकारी सब आए हुए थे। ब्रह्मलीन श्रीहरिनामदासजीके निमित्त जो श्रीमद्भागवत-सप्ताह तथा गीता आदिका पाठ हो रहा था उसकी परिसमाप्तिके अनन्तर श्रीगणेशदासजीने प्रसाद ग्रहण किया और तत्पश्चात् नवग्रहादिकका पूजन करके तथा योगिराज सद्गुरु श्रीवनखण्डीजी महाराज तथा गुरुवर श्री स्वामी हरिनामदासजीका स्मरण करके ये गद्दीपर आसीन हुए। सर्वप्रथम उदासीन पञ्चायती बड़े अखाड़ेके मुकामी महाराज निरञ्जनदासजीने तिलक देकर दुशाला उढ़ाया, उसके पश्चात् सिन्धु-प्रान्तीय उदासीन-मण्डलके प्रधान
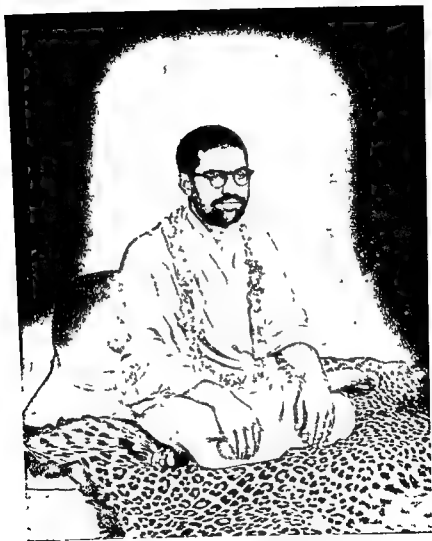
महन्त श्री स्वामी गणेशदासजी महाराज उदासीन

महन्त श्रीसन्तप्रसादजी, कोठारी बाबा गुरुचरणदासजी, महाराज हरिभजन-दासजी, सुतीक्ष्णमुनिजी तथा अन्य गुरुभाई साधु, सन्त, महन्त, गृहस्थ तथा सेवकोंने तिलक देकर चादर उढाई। इस समारोहके उपलक्ष्यमें भजन, कीर्त्तन, उपदेश, व्याख्यान तथा काव्यपाठके अनन्तर सबका स्वागत-सत्कार किया गया, अनेक संस्थाओंको दान दिए गए और बड़े प्रेम, आनन्द तथा उत्साहसे सब सन्तों तथा भक्तोंने इस उत्सवको सफल बनाया।

✲ ✲ ✲

३५

पाकिस्तानकी यात्रा

जा थल कीन्हे विहार अनेकन।

आर्योंकी संस्कृति-भूमि जब हमारे राजनीतिक बुद्धि-दारिद्रयसे पाकिस्तान बनकर भारतकी ही सीमामें एक अपनी स्वतन्त्र रेखा खींचकर अलग हो गई और जिस "द्विराष्ट्र-सिद्धान्त" (टू-नेशन-थियरी) पर वह परम अमंगल घटना घटी वह भी व्यवहारतः सिद्ध न हो पाया तब अपना जीवन, अपनी सम्पत्ति और अपने संस्कार अरक्षित समझकर अनेक गृहस्थों और साधुओं-को विवश होकर अपनी जन्मभूमि और कर्मभूमिका परित्याग करके भारतकी इस सीमामें चला आना पड़ा जो विभाजित होनेपर भी भारत बना रहा। इन्हींमें साधुबेला-तीर्थके महन्त स्वामी श्रीहरिनामदासजी महाराज तथा उनके अन्तेवासी भी थे जो वहांसे आकर यहाँ अपने काशीवाले आश्रममें निवास करने लगे।
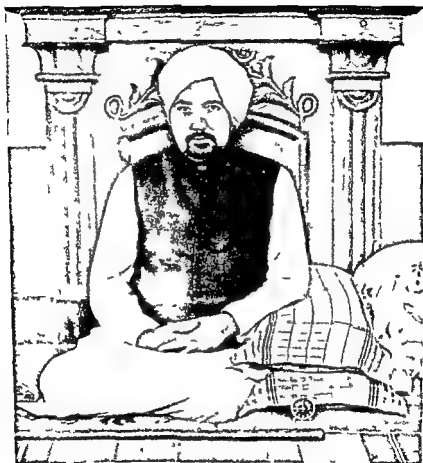
बाबा श्री गुरुचरणदासजी काठारी

तीर्थ-दर्शनका विचार

श्री स्वामी हरिनामदासजीके ब्रह्मनिर्वाणके पश्चात् जब श्री स्वामी गणेशदासजी उदासीन, काशीमें श्रीसाधुबेला-तीर्थ तथा आश्रमके महन्तकी गद्दीपर बैठे तबसे निरन्तर यह समाचार मिलता रहता था कि सिन्धु-स्थित श्रीसाधुबेला तीर्थकी मूर्त्तियाँ तोड़ दी गईं, उसका सामान लोग उठा ले गए और उसकी विद्युत्-शालाके यन्त्र बेच दिए गए आदि आदि। ऐसे समाचार सुनकर महन्तजीने यह विचार किया कि वहाँ चलकर स्वयं इसकी परीक्षा कर ली जाय और इसी प्रसंगमें श्रीबनखण्डीजी महाराजका ब्रह्मनिर्वाण-पर्व भी वहीं सम्पन्न किया जाय। तदनुसार भारत-सरकारके वैदेशिक विभागके द्वारा पाकिस्तान सरकारसे यह प्रार्थना की गई कि हम लोगोंको तीन मासतक श्री साधुबेला-तीर्थमें निवासकी आज्ञा दी जाय। कई मासतक निरन्तर लिखा-पढ़ीके पश्चात् आज्ञा भी मिली तो केवल तीन दिनकी। इस सफलताका भी अधिक श्रेय करांचीके प्रसिद्ध व्यापारी तथा शान्ति-दूत (जस्टिस ऑफ् पीस) श्री टी० मोटन-दासजीको था क्योंकि उन्हींके अनवरत परिश्रम तथा प्रभावके कारण ही केवल तीन दिनकी प्रवासाज्ञा मिल पाई थी। यह भाग्यका फेर ही कहना चाहिए कि हमारा देश, हमारा स्थान, हमारी सम्पत्ति, और उसके दर्शनके लिये भी हमें आज्ञा लेनी पड़े, और वह आज्ञा मिले भी तो केवल तीन दिनके लिये। किन्तु दैव-दुर्विपाकके सम्मुख सिर झुका देनेके अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था!

सप्तर्षि-मडल

ये लोग सप्तर्षि थे—महन्त स्वामी श्रीगणेशदासजी, कोठारी श्रीगुरुचरणदासजी, पुजारी जीवन्मुक्तजी, आशुतोषानन्दजी, श्रीईश्वरानन्दजी, श्रीगोविन्दरामजी और ग्रन्थकार (पंडित सीताराम चतुर्वेदी)। काशीसे दिल्ली तो ये लोग ५ जून १९५१

को ही पहुँच गए, किन्तु दिल्लीके पाकिस्तान-कार्यालयने आज्ञापत्र देनेमें इतनी धींगा-धींगी की कि वह कहीं ७ जूनकी सन्ध्यातक प्राप्त हो पाया। ८ जूनको प्रातःकाल हम लोग आकाश-चारी होकर विमानसे उड़ चले। राम-राम करते करांचीका ड्रिगरोड विमान-घाट आया और हम लोग उस पराश्रित गगनकारासे मुक्त होकर पुनः धरतीपर उतर पड़े। करांचीमें उतरते ही हम लोगोंके सामानकी परीक्षा हुई कि हम सोना, चाँदी, रत्न आदि लेकर तो नहीं आए हैं क्योंकि एक विचित्र नियम दोनों देशोंने यह बना लिया है कि पचास रुपये पाकिस्तानी और पचास रुपये भारतीयसे अधिक आप साथ नहीं रख सकते। विमानका भाड़ा ही दिल्लीसे करांचीतक १६६) है तब १००) में तो लौटना भी संभव नहीं था पर नियम तो नियम ही है, चाहे वह विवेक-पूर्ण हो या अविवेक-पूर्ण। चुङ्गी-वालोंके चंगुलसे मुक्त होते ही हम पाकिस्तान-सरकारके अतिथि हो गए और उस आतिथ्यका लक्षण यही था कि सशस्त्र और गुप्तचर पुलिस-विभागकी एक सेना हमें घेरकर खड़ी हो गई जिससे कोई हमसे छेड़-छाड़ न कर सके। इस दशामें जो भी हो वही कौतूहलका पात्र बन सकता है। हमें भी देखनेवालोंकी भीड़ लग गई। इस राजसी उपचार और धूमधामके साथ हम लोग अपने आतिथेय श्रीसेठ टी० मोटन-दासजीके निवासस्थानपर जा पहुँचे।

करांची तब और अब

करांची नगरकी दुर्दशा देखकर बड़ी वेदना हुई। वहाँ अब वह पहलेकी-सी चहल-पहल नहीं रही। हाँ, गर्दभ-यान (गदहा-गाड़ी) और क्रमेलक-यान (ऊँट-गाड़ी) अपने परम्परागत वैभव और तेजके साथ अब भी अपनी स्वामि-भक्तिका परिचय दे रहे थे। यों तो ऊँट-गाड़ीका प्रयोग केवल बोझ ढोनेके लिये
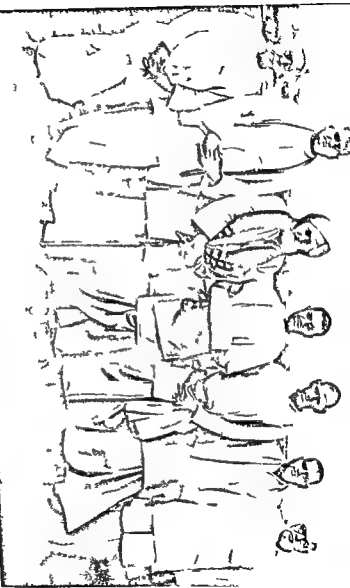
८ जून सन् १९५२ को श्री साधुबेला जानेवाले यात्री

सेठ गोविन्दराम प. सीताराम चतुर्वेदी बाबा गुरुचरणदासजी श्री स्वामी गणेशदासजी महन्त

ही किया जाता है किन्तु जैसे काशीमें लोग गहरेबाज इक्कोंपर चढ़कर वेदव्यासका मेला करने जाते हैं वैसे ही करांचीमें लोग चतुश्चक्री ऊँट-गाड़ीपर बैठकर मलीर घूमने जाते हैं। किन्तु गर्दभ-यानपर बैठनेके आनन्दका सौभाग्य उन्हीं थोड़े लोगोंको मिल पाता है जो सुभूषित खरयुगलकी चर्मवल्गा थामकर, उनके गलेकी टनटनाती हुई घंटिका-ध्वनिके साथ किसी चलचित्रके गीतकी टीप लगाते हुए, करांचीकी प्रशस्त सड़कोंपर, वहाँकी दरिद्र छकड़ा ट्रामगाड़ीके साथ होड़ लगाने और उसमें बैठे हुए यात्रियोंपर फबतियाँ कसते हुए बढ़े चले जाते हैं।

साधुबेलाकी ओर

संध्या होते ही फिर चला-चलीकी बात छिड़ी और हम लोग पाकिस्तान-मेलसे उसी प्रकार सशस्त्र रेलवे-पुलिसकी संरक्षतामें चले जैसे आज स्वतन्त्र हो जानेपर भी हमारे मन्त्री लोग चला करते हैं। 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' वाली गतिसे पाकिस्तान-मेलने अपने दो-दो तैल-इंजनोंसे तीन सौ मीलकी यात्रा पूरी-करके अरुणोदयके समय हमें रोहिड़ी पहुँचा दिया जहाँ रोहिड़ी और सक्खरकी हिन्दू पञ्चायतके सदस्योंने जी खोलकर हमारा स्वागत-सत्कार किया। थोड़ी ही देरमें दूसरी गाड़ीसे सिन्धु-नदके लैन्सडाउन पुल और भक्खरका दुर्ग पार करके सब तीर्थयात्री सक्खर जा पहुँचे, जहाँ कुछ दूर ताँगोंपर चलकर और फिर नावमें चढ़कर सब लोग सिन्धके द्वीपतीर्थ श्रीसाधुबेलामें जा पहुँचे।

मेला

वहाँ स्थानीय म्युनिसिपल बोर्डके शासकने तीर्थकी शुद्धि और उसका मार्जन पहले ही करा दिया था। पाकिस्तान-सरकारने बड़ी चतुरतासे सब लोकतन्त्रात्मक संस्थाएँ (डिस्ट्रिक्ट और म्युनिसिपल बोर्ड) अपने हाथमें कर ली हैं जिससे वहाँ किसी प्रकारकी लोकतन्त्रात्मक भावना सिर ही न उठाने पावे।

महन्तजीके पहुँचते ही आसपासके सब हिन्दू पुरुष और स्त्री झुण्डके झुण्ड दर्शन करने, प्रसाद और पक्खर (कवच) पानेके लिये एकत्र होने लगे। दिनभर यह मेला चलता रहा और सभी अभ्यागत दर्शनार्थी पंगतमें भोजन और रोट-चटनी पाकर लौट गए?

समारोह

दूसरे दिन स्वामी वनखण्डीजी महाराजका निर्वाण-पर्व था। सवेरेसे ही भारी भीड़ जुटने लगी। सरकारी सम्पत्ति-रक्षा-(कस्टोडियन) विभागके एक कर्मचारीने आकर ताला खोला। विधिवत् श्री वनखण्डीजी महाराजकी मूर्तिका षोडशोपचार पूजन हुआ। लगभग तीन सहस्र हिन्दू दर्शनार्थियोंने भोजन और प्रसाद पाया। हमें नहीं विश्वास था कि पाकिस्तानमें अब भी इतने हिन्दू बचे पड़े हैं।

मोर और हरिण क्या हुए ?

यहाँ सब देखकर यह प्रवाद असत्य निकला कि आश्रमकी बहुत-सी सामग्री पाकिस्तान सरकार उठा ले गई है। कोठारकी ताली कर्मचारी नहीं लाए थे इसलिये वह खुल नहीं पाया। उसमें क्या दशा थी यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु शेष सब स्थानोंकी सब सामग्री ज्योंकी त्यों सुरक्षित थी। तीसरे दिन सक्खर और रोहिड़ीके हिन्दू ठिकानों (मठों), गोशाला, धर्मशाला और मन्दिरोंका निरीक्षण करके उसी दिन संध्याको सब लोग लौट चले और उसी समय यह भी ज्ञात हुआ कि यहाँकी रेलगाड़ियाँ कोयलेसे नहीं, तेलसे चलती हैं, क्योंकि वहाँ कोयलेका अभाव है। श्रीसाधुवेला-तीर्थमें लगभग दो-तीन सौ मोर और चालीस-पचास हरिण भी थे किन्तु उनमेंसे तीन मोर रह गए शेष क्या हुए भगवान जाने।

हिन्दुओंका जीवन

इन चार वर्षोंमें ही वहाँके हिन्दुओंके जीवनमें बड़ा परिवर्तन

हो गया है। वहाँके हिन्दुओंने अपनी वेश-भूषा बदल ली है। हिन्दू पुरुष अब तहमद बाँधते या सलवार पहनते हैं और सिरपर जिन्ना-टोपी लगाते हैं जिससे वे मुसलमानोंमें मिलकर हिन्दू न जान पड़ें। वहाँकी देवियाँ जो खुलकर बाहर आती-जाती थीं, वे भी घरोंके भीतर ही रहने लगी हैं। नगरोंमें वह चहल-पहल और चटक नहीं है जो पहले थी। गलियाँ गन्दी हो गई हैं। सड़कोंपर श्मशानकी नीरवता छाई हुई है। कोई हिन्दू बिना किसी मुसलमानको साझी बनाए व्यापार नहीं कर सकता। प्रत्येक हिन्दू अपने मान, प्राण और सम्पत्तिको सदा संकटग्रस्त समझता है।

पकिस्तानकी आन्तरिक दशा

यद्यपि पाकिस्तानकी सीमामें लगभग एक सप्ताह ही ये लोग रह पाए किन्तु इतने ही थोड़े समयमें इन लोगोंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि और सूक्ष्म श्रुतिसे पाकिस्तानके अंतःकरणका भली भाँति मंथन कर लिया क्योंकि साधुबेला-तीर्थमें दर्शन करने और कराँचीमें महन्तजीसे प्रसाद पानेके लिये अनेक गृहस्थ भक्त और दर्शनार्थी आए थे। उनके अतिरिक्त अनेक अधिकारी-मुसलमानों, राज्य-कर्मचारियों तथा अन्य वर्गके लोगोंका भी सम्पर्क प्राप्त हुआ था जिन्होंने स्वाभाविक जिज्ञासाके उत्तरमें अथवा स्वयं अपने कष्ट और विषादको व्यक्त करनेकी आतुरतामें मनके कपाट खोलकर अपनी समस्त अनुभूतियाँ, अभिलाषाएँ और भावनाएँ सामने रख दीं।

पाकिस्तानके हिन्दू

पाकिस्तानमें कितने हिन्दू रह गए हैं इसका ठीक-ठीक विवरण तो कोई नहीं दे सका किन्तु कई वचनोंका अनुपात निकालकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिन्धमें अब भी हिन्दू तो तीस-चालीस हजार बसे पड़े हैं, किन्तु सिक्ख

एक भी नहीं हैं। जिस अनुपातसे हिन्दुओं और सिक्खोंकी संख्या घटी, उसी अनुपातसे उनके धर्म-स्थलोंकी संख्या भी कम हो गई। लोगोंसे ज्ञात हुआ कि गुरुद्वारा तो एक भी शेष नहीं है किन्तु मंदिर कुछ इने-गिने बच रहे हैं, शेषमेंसे मूर्तियां उठाकर फेंक दी गई हैं और उनमें या तो गाय-भैंसके तबेले बन गए हैं या दूकान और होटल खुल गए हैं। सब नगरोंमें हिन्दू प्रायः एकत्र होकर एक बाड़ेमें या मुहल्लेमें छोटे-छोटे दड़बोंमें सिमटकर रहने लगे हैं। उनके सब विद्यालयोंने मुसलिम रूप धारण कर लिया है। हिन्दुओंको सदा यह भय लगा रहता है कि कहीं कोई हमपर आक्रमण न कर बैठे; किन्तु हिन्दू जातिका यह दुर्भाग्य देखिए कि इतनी थोड़ी संख्यामें होते हुए भीउनमें एकता नहीं है, वरन पारस्परिक कलहसे वे व्यस्त हैं।

उत्तर-प्रदेशका आतङ्क

वहांके सर्वसाधारण हिन्दू और मुसलमानोंकी यह विचित्र धारणा है कि उत्तर-प्रदेशवालोंकी बड़ी चांदी है। इन्होंने हिन्दुस्तानको मुट्ठीमें करके जवाहरलालको गद्दीपर बैठा दिया और इधर पाकिस्तानमें लियाकतअलीको ला बैठाया। संभव है कि पश्चिमी पाकिस्तानकी जनताके इन्हीं मनोभावोंने लियाकत-अलीकी हत्याको प्रोत्साहन दिया हो। सुननेमें आया कि पश्चिमी पाकिस्तानमें अधिकांश उच्च अधिकारी उत्तर-प्रदेश या पंजाबके हैं। संयोगसे हम लोगोंको भी गुप्तचर विभागके जो पदाधिकारी मिले वे उत्तर-प्रदेशके ही थे।

व्यापक असन्तोष

व्यापक रूपसे पाकिस्तानके मूल निवासियोंमें तथा भारतसे यहां पहुंचे हुए लोगोंमें भयानक असंतोष व्याप्त है। सभी व्यक्तियोंने अपनी दुःख-गाथा सुनाते हुए यह कामना प्रकट की भारत और पाकिस्तान फिर एक हो जाते तो बहुत अच्छा

होता । पूछनेपर उन्होंने कारण बताया कि चाहे कोई यहाँका मूल निवासी हो अथवा भारतसे भागकर आया हो, सबके अधिकांश सम्बन्धी भारतमें ही हैं, जिनसे न तो हम ही मिल पाते हैं, न वे ही हमसे मिल पाते हैं क्योंकि आज्ञापत्र (परमिट) प्राप्त करनेमें इतना कष्ट, इतनी असुविधा और इतना व्यय होता है कि धनी व्यक्तिको भी आज्ञापत्र प्राप्त करनेसे पहले कई बार सोचना पड़ता है और सैकड़ों रुपए व्यय करनेपर तब कहीं थोड़े दिनोंके लिये आज्ञापत्र मिल पाता है ।

व्यापार

व्यापार भी इतना मन्दा पड़ गया है कि सब हाथपर हाथ धरे बैठे हैं, कोई मालका पूछनेवाला नहीं । उसका कारण यह है कि भारतसे जो मुसलमान भागकर पाकिस्तान गए उनमेंसे अधिकांश ऐसे हैं जिन्होंने वहाँ पहुँचकर बलपूर्वक हिन्दुओंके रिक्त भवनोंको हस्तगत कर लिया, जिसका न वे किराया देते हैं और न जिसकी देखभाल करते हैं; उलटे वे उन भवनोंके पलंग-पीढ़ेतक बेच-खा गए हैं । जो इस प्रकार दिन-रात दूसरोंका माल झटकनेके फेरमें लगे रहते हैं वे मोल लेकर क्या गृहस्थी जोड़ेंगे ! एक मुसलमान सज्जनने बताया कि ये बाहरी उपद्रवी इतने कष्ट-प्रद हो गए हैं कि जो लोग रोजे नहीं रख सकते और रोजेके दिनोंमें कुछ खाते-पीते दिखाई पड़ जाते हैं तो ये उपद्रवी लोग उन्हें मारने-पीटने लगते हैं, यद्यपि ये स्वयं अपने घरोंमें बैठे धुआँधार माल उड़ाते हैं । इस प्रकारकी घटनाओंका विरोध पाकिस्तानके प्रसिद्ध पत्र 'डौन' ने अपने ७, ८, ९ जूनके अग्र-लेखोंमें किया है । उसी पत्रकी प्रतियोंको उलटनेसे यह भी ज्ञात हुआ कि वहाँ प्रतिदिन लूट-खसोट, हत्या, गठकटी इतनी मात्रामें होने लगी है कि वहाँके पुलिस-अधिकारी भी उद्विग्न और क्षुब्ध हो उठे हैं । भारतके हाई

कमिश्नर श्रीमोहनसिंह मेहता तथा अन्य प्रतिष्ठित नागरिकोंसे मिलनेपर यह ज्ञात हुआ कि पाकिस्तान सरकारकी नीति हिन्दुओंके प्रति अधिक सहनशील हो चली है और वे यह भी चाहते हैं कि हिन्दू व्यापारी तथा यहांके हिन्दू पुनः लौटकर आवें, यहां बसें और व्यापार चलावें। इस वृत्तिका एक परिचय तो हमें सक्खरमें मिला जहांके शासक तथा डिप्टी-सुपरिण्टेण्डेण्ट-पुलिसने महन्तजीको आश्वासन दिया कि आप यहां आकर निश्चिन्तताके साथ रहिए और आश्रमको बसाइए।

ये शरणार्थी मुसलमान

भारतसे जो मुसलमान सिन्धके गांवोंमें पहुँचे उन्होंने भी कम गुण्डईका परिचय नहीं दिया। उन्होंने पाकिस्तान सरकारसे खेत जोतनेके लिये जो बैल और बीज पाए उन्हें बेच-बाचकर वे एक गांवसे दूसरे गांवमें यही करते घूमते रहे। इस प्रकार सबकी बातोंसे यही निष्कर्ष निकला कि भारतके विभाजनसे उच्चपद पर पहुँचे हुए नेताओं और बड़ा वेतन पानेवाले अधिकारियोंको छोड़कर कोई सुखी नहीं है। सब लोगोंमें व्यापक असंतोष, क्षोभ और दरिद्रता छाई हुई है। मेरठ और मुजफ्फरनगरके कुछ हिन्दू भंगी पाकिस्तानमें फँस गए हैं, जिनमेंसे किसीकी स्त्री, किसीका पति, किसीके पुत्र और किसीके पिता भारतमें है पर न वे स्वयं भारतमें आ सकते हैं और न उन्हें यहां बुला सकते हैं।

भारतके विरुद्ध प्रचार

पाकिस्तानमें यह भी प्रचार किया जा रहा है और लोगोंके मनमें यह धारणा जमाकर बैठाई जा रही है कि भारतमें मुसलमान बहुत कष्ट पा रहे हैं, विशेष रूपसे जो तीर्थयात्री अजमेरमें उर्स करने जाते हैं, उन्हें बहुत कष्ट दिया जाता है और लूट लिया जाता है।

जिन लोगोंने मुझसे यह शंका व्यक्त की, उन्हें मैंने समझा दिया कि हिन्दुओंकी अपेक्षा भारतमें मुसलमान अधिक सुखी और सुरक्षित हैं क्योंकि हमारे प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलालजी मुसलमानोंका विशेष ध्यान रखते हैं क्योंकि मुसलमान हमारे आश्रित हैं और प्राण देकर भी आश्रितकी रक्षा करना भारतका प्राचीन धर्म है। जो वातावरण हम लोगोंने सिन्धमें पाया उससे एक विचार मनमें अवश्य उत्पन्न हुआ कि आवेशकी परिस्थितिमें भारत और पाकिस्तानका जो अस्वाभाविक विभाजन हो गया है, उसपर क्यों न एक बार पुनः विचार कर लिया जाय और यदि सचमुच जनताको असुविधा और कष्ट है तो क्यों न उसे एक करनेके लिये फिरसे पूर्ण प्रयत्न किया जाय।

प्रत्यावर्त्तन

तीसरे दिन फिर सशस्त्र पुलिसकी सुरक्षामें हम लोग करांची लौट आए और वहाँ नेटी-जेटी, पंचमुखी हनुमान और स्वामीनारायणका मन्दिर देखा। वहाँसे चलकर क्लिफटन समुद्र-तटपर पहुँचे तो ज्ञात हुआ कि रत्नेश्वर महादेवके मन्दिरमें मुसलमानोंने होटल खोल लिया था किन्तु बहुत लिखापढ़ीके पश्चात् वह पुनः हिन्दू-पंचायतको लौटा दिया गया है। महन्त स्वामी श्रीगणेशदासजी करांची लौटकर १५ जून १९५२ तक सेठ टी० मोटनदासके आवासपर रुककर अपने दलबलके साथ विमानसे दिल्ली आए और वहाँसे हरिद्वार तथा उत्तर-काशी होते हुए काशी लौटे। पंडित सीताराम चतुर्वेदी १४ जूनको विमानसे बंबईके साधुबेला-आश्रमके लिये प्रसाद लेकर बम्बई होते हुए वर्धा चले गए।

※   ※   ※

३६

जागो साधुबेला

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

अलौकिक सिद्धि, अद्भुत चमत्कार, उदार सग्रही वृत्ति अद्वितीय तपस्या, तथा अगाध आत्मज्ञानका आध्यात्मिक वैभव लेकर जिन वीतराग श्रीवनखण्डीजी महाराजने इस कलियुगमें अपनी साधना तथा योग-शक्तिके बलपर सिन्धु-गगाकी चिर-उपेक्षित धारामें जिस महातीर्थकी समुद्भूति की थी, वह तीर्थ सम्पूर्ण सिन्धवासियोके हृदयमें सत्य, निष्कपट तथा विशुद्ध आस्तिकताके प्रचारका प्रबल दुर्ग बनकर लगभग दो सौ वर्षोंतक, पास-पडोसके प्रदेशोमें धर्मभावनाका प्रसार और प्रचार करता रहा। साधुबेलाकी गद्दीपर प्रतिष्ठित होनेवाले योगी, सिद्ध तथा तपस्वी महापुरुषोकी एक ऐसी दिव्य परम्परा चली

आई, जिसके कारण साधुबेलाके प्रति जन-मानसका अविचल विश्वास सदा एक-रस होकर बना रहा। इन दो सौ वर्षोंमें अमीरोंके हाथसे देशका शासन-सूत्र अँगरेजोंके हाथमें आया और अँगरेजोंके हाथसे फिर मुसलमानोंके ही हाथमें चला गया। इस दो शताब्दीकी अवधिकी शान्त और अशान्त वेलामें साधुबेला-तीर्थने अपना नाम सार्थक करते हुए यहाँ आनेवाले, इसमें श्रद्धा रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिका पालन-पोषण और संरक्षण किया तथा अन्ततक भक्तों, साधुओं तथा सद्गृहस्थोंको अन्न-वस्त्र देकर तृप्त तथा तुष्ट किया।

अवतार-स्वरूप

यह कम आश्चर्य और गर्वकी बात नहीं है कि दूर थानेश्वरमें उत्पन्न होनेवाला, पंजाब-प्रदेशमें दीक्षा लेनेवाला और घूम-घूमकर सम्पूर्ण भारतके तीर्थोंका दर्शन करनेवाला एक योगी सहसा सिन्धु-नदकी एक द्वीपिकासे प्रभावित होकर उसकी वन्य तथा विषम स्थलीको समस्थल करके, उसके रूखेपनमें सौन्दर्य-श्रीका विधान करके, उस निर्जन, बीहड़, अगम्य तथा उपेक्षित स्थलको इस प्रकार जनप्रिय तथा जनाकीर्ण बना दे और उसमें धर्म-ज्योतिका ऐसा विशद प्रदीप प्रज्वलित कर दे, जिसके अलौकिक प्रकाशसे अन्धतामससे परिपूर्ण लोक-मानस सहसा सुपन्थका साक्षात् दर्शन कर ले और मानसपर छाए हुए कल्मषको क्षण भरमें हरण करके उसके स्थानपर दिव्य प्रकाशका प्रसार कर दे। श्रीवनखण्डीजी महाराज उन्हीं दिव्य विभूतियोंमेंसे थे जिन्होंने धर्मकी ग्लानिका संकेत पाकर साधुओंकी रक्षाके लिये, धर्मकी स्थापनाके लिये, दुष्कृतोंका विनाश करनेके लिये अवतार धारण किया और

अपनी दिव्य परम्पराका अत्यन्त योग्यता तथा तेजस्विताके साथ निर्वाह किया।

साधुवेलाकी महत्ता

साधुबेला-तीर्थने अपने वन्य, ऊबड़-खाबड़, नीरस, निराकर्षक तथा विषमतापूर्ण स्वरूपका परित्याग करके पिछले दो सौ वर्षोंमें जो अभिनव रमणीयता धारण की थी, वह इस तीर्थके अधिकारी महापुरुषोंके अध्यवसाय, सौन्दर्य-बोध तथा लोकप्रियत्वका परिचायक है, जिसके कारण उनकी प्रेरणासे अनेक आस्तिक गृहस्थोंने अत्यन्त श्रद्धा और मनोयोगसे धन-सचय करके, अपने पाससे दान देकर उस वन्य द्वीपको मनोरम राजद्वीप, सागर-भवन, तालप्रासाद बना दिया था, जो इस युगके सम्पूर्ण वैभवोंका उल्लास लेकर भी साधुओं और महात्माओंकी एकान्त-तपस्या और साधनाका ऐसा केन्द्र बना रहा जिसका दर्शन करनेके लिये ही लोग दूर दूरसे आते थे और वहांके दिव्य देवस्थलोंसे विचित्र आध्यात्मिक प्रेरणा पाकर घर लौटते रहे।

भारतका दुर्भाग्य

ऐसा पावन, रमणीक, भावमय रमणीय स्थल, अपने पीछे अनेक सिद्ध महापुरुषोंका स्वर्णमय, गौरवमय इतिहास लिए हुए भी भारतीय राजनीतिक कर्णधारोंकी अदूरदर्शिताका आखेट बनकर उन यवनोंकी राज्यसीमामें चला गया, जिनके हाथोंमें उसकी मर्यादा सुरक्षित नहीं, जिनके हृदयमें उसका मान सुरक्षित नहीं और जिनके मानसमें उसकी महत्ता सुरक्षित नहीं। यवनराज्यकी धर्मद्रोहिणी राज्यसत्ताकी मुद्रासे कीलित उस तीर्थके मन्दिर और भवन शून्य रात्रियोंमें निरन्तर सिन्धुकी लहरोंसे

श्रीमाधुवेला आश्रम काशी
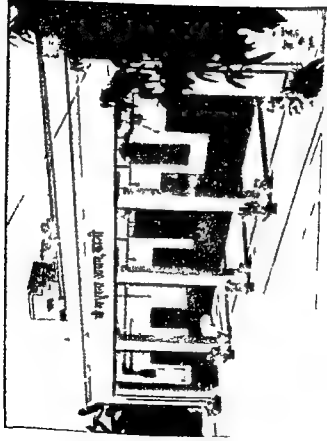
अपने सौभाग्यकी कथा कहते होंगे; रातको टिमटिमाते हुए तारोंको अपने अतीतकी गौरव-गाथा सुनाते होंगे, और जब उधरसे चलता हुआ पूर्वी पवन उन भवनोंको स्पर्श करता होगा, उस समय ये भवन दुर्दैवके अकरुण रोवपर काँपकर, तड़पकर रह जाते होंगे, अपनी शून्यतापर स्तब्ध होकर प्रलय-बेलाके ठूंठ बनकर खड़े रह जाते होंगे, रो भी न पाते होंगे। किन्तु क्या कैलासके क्रोड़से जन्म लेनेवाला, अपनी कछारोंमें सामवेदकी मधुर ध्वनि सुननेवाला सिन्धु-महानद, उन भवनोंकी करुण पुकार नहीं सुनता होगा ? क्या वह हमारी अदूरदर्शिता और मूढताकी कथा उस सागरसे जाकर न कहता होगा जो देश और जातिके विभेदको न माननेवाले उदार पर्जन्य भेजकर सम्पूर्ण सिन्धु और पंचनद प्रदेशको एक साथ अपनी उदार जलधारासे ससिक्त कर देता है ?

सद्‌बुद्धिकी कामना

एक दिन पुनः विभक्त देशके नेताओंमें सद्‌बुद्धि आवेगी, अपनी मूढतापर उन्हें भयंकर पश्चात्ताप होगा और वे अपनी मिथ्या अहंताओंको तिलाजलि देकर पुनः स्वाभाविक सद्भावके साथ एक दूसरेको गलेसे लगायेंगे, सद्‌गुरु श्रीबनखण्डीजी महाराज नर्मदाके किनारे पुनः जन्म लेंगे, उन्हींकी आध्यात्मिक प्रेरणासे पुनः देशके खण्डित भाग एकमें होकर मिल जायेंगे, फिर यह देश चमक उठेगा, जाग उठेगा और पुनः सिन्धु-प्रदेशमें धर्मभाव, सेवा-भावका प्रचार होगा।

काशीका आश्रम

आज साधुबेला-तीर्थ सिन्धु-गंगाके क्रोड़से उठकर भागीरथी गंगाके तटपर आ बसा है। साधुबेलाके समस्त विश्वास, सम्पूर्ण आचार-व्यवहार काशीमें आ विराजे हैं और उसके सदाशय महन्त श्री १०८ स्वामी गणेशदासजी कुशलता तथा सुशीलताके

साथ अपनी पुनीत परम्पराका निर्वाह करते हुए यहाँका पूर्ण वातावरण मंगलमय, आनन्दमय, सेवामय और भावमय बनाए हुए मर्यादाका पालन कर रहे हैं। काशीस्थ भदैनीका श्रीसाधुवेला-आश्रम सुन्दर भवनोंसे सुसज्जित कर दिया गया है। श्रीअन्नपूर्णाजी, हनुमानजी, श्रीराधाकृष्ण तथा पंचायतनके साथ भगवान् श्रीचन्द्राचार्यजी महाराज तथा श्री योगिराज ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ स्वामी हरिनामदासजीकी भी मूर्त्तियाँ अत्यन्त भव्यताके साथ प्रतिष्ठित की गई हैं। नियमतः यहाँ भजन, कीर्तन, प्रवचन, पाठ आदि प्रति-सप्ताह तथा प्रतिपर्वपर होते ही रहते हैं। अनेक साधु, विद्वान्, पण्डित, गुणी, भक्त तथा गृहस्थ इस स्थानपर आते रहते हैं और उनका यथाक्रम आदर-सत्कार होता रहता है।

स्वामी गणेशदासजी महाराज

वर्तमान महन्त स्वामी श्री गणेशदासजी महाराज अत्यन्त सौम्य प्रकृतिके विद्वान् उदासीन साधु हैं। इनका जन्म सक्खरके अत्यन्त धर्मनिष्ठ परिवारमें सेठ गाहोमलजीकी धर्मपत्नी श्रीमती गंगाबाईकी कोखसे हुआ। इनका पहला शुभ नाम ईश्वरदास था। इनके पिताजी जब बहुत दिनोंतक सन्तति-सुखसे वंचित रहे तब उन्होंने श्रीवनखण्डीजी महाराजकी मनौती मानी कि यदि आपकी कृपासे मेरे सन्तान हो जायगी तो पहला पुत्र आपको अर्पित कर दूँगा। श्रीवनखण्डीजीकी ऐसी कृपा हुई कि सेठ गाहोमलजीको पुत्रलाभ हुआ और उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार बालक ईश्वरदासको तत्कालीन महन्त स्वामी श्रीहरिनामदासजीके चरणोंमें ला सौंपा। स्वामीजीने देखा कि बालक अत्यन्त प्रतिभाशाली है। उन्होंने इस बालकको अत्यन्त मनोयोगसे विद्याध्ययनमें नियुक्त कर दिया और श्रावण कृष्णा नवमी रविवार सं० १९९७ को

बारह वर्षके बालक ईश्वरदासको उदासीन-सम्प्रदायकी मर्यादाके अनुसार श्रौत चतुर्थाश्रमी दीक्षा देकर गणेशदास नाम रखकर शिष्य बना लिया।

विद्यार्जन

इनके विद्यागुरु हुए तपस्वीजी, जिनका पूरा नाम था श्रीहरिनामदासजी। उनके पास विद्याध्ययन कर चुकनेपर स्वामी हरिनामदासजी महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीगंगेश्वरानन्दजीके पास इन्हें वृन्दावन भेजा और वहाँसे काशीके उदासीन संस्कृत-महाविद्यालयनेमें शिक्षाके लिये भेज दिया। फिर पाकिस्तान बन जानेपर स्वामी हरिनामदासजी, इनके तथा कोठारी श्रीगुरुचरण-दासजीके नाम साधुबेलाकी सब सम्पत्ति लिखकर काशी चले आए। पाकिस्तानका उपद्रव जब चरम सीमापर पहुँच गया तब स्वामीजीने तार देकर सबको काशी बुला लिया। अन्तमें स्वामी हरिनामदासजीके ब्रह्मलीन होनेपर स्वामी गणेशदासजी गद्दीपर प्रतिष्ठित किए गए और इनके साथ कोठारी महाराज गुरुचरण-दासजी आश्रमकी सब व्यवस्था संचालित करने लगे।

जागो !

सिन्धुगंगाका यह पुनीत तीर्थ आज काशीमें स्वाभाविक रूपमें चला आया है क्योंकि काशीमें सब तीर्थोंका नैसर्गिक वास है, किन्तु वह समय दूर नहीं है जब पारस्परिक मनोमालिन्य दूर होगा, सद्बुद्धिका स्फुरण होगा, लोकमंगलकी चेतना जागरित होगी और देशमें पुनः सुख, शान्ति और समृद्धिका प्रसार होगा। आज दो सौ वर्षके सक्रिय परिश्रमके पश्चात् साधुबेला-तीर्थ विश्राम लेनेके लिये सो गया है। वह पुनः अँगड़ाई लेकर जाग उठेगा और उसके जागरणके साथ भारतका और भारत-वासियोंका भाग्य जाग उठेगा और इसके लिये हमें सत्य संकल्पके साथ सद्गुरु श्रीवनखण्डीजी महाराजसे यह विनति

करनी चाहिए कि हे सिद्ध महापुरुष ! आपके हाथकी लगाई हुई यह वाटिका दुष्टोंके हाथ विदलित हो रही है । एक बार पुनः अपनी अमोघ शक्ति प्रकट करके ऐसी चेतना भर दीजिए कि हम सफल वाणीसे साधुबेला-तीर्थको स्पर्श करके उसे जगा सकें और हमारी पुकारके साथ देववाणी भी उस प्रसुप्त तीर्थको उद्बोधन देते हुए पुकार उठे—जागो ! साधुबेला !! जागो !!!

—सम्पूर्ण—

परिशिष्ट १

उदासीन-सम्प्रदाय-परम्परा
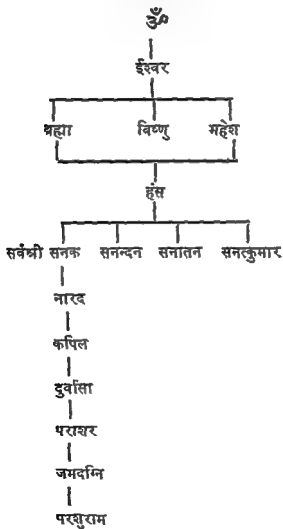
सर्वश्री परशुराम
|
विश्वामित्र
|
कुशिक
|
सुप्रभ
|
श्रीवर्धन
|
वत्समुनि
|
सुखदर्शन
|
कनक
|
भास्कर
|
महेन्द्रमुनि
|
मार्तण्ड
|
अरविन्द
|
मकरन्द
|
हेमाद्रि

सर्वश्री हेमाद्रि

|

तपोनिधि

|

सर्वेश्वर

|

स्वर्णबिन्दु

|

पद्माक्ष

|

रत्नमुनि

|

हरियश

|

चन्द्र

|

मतंग

|

चिमन

|

त्रिलोचन

|

प्रभाकर

|

दुःखमोचन

|

द्राभर

सर्वश्री द्रामर
|
प्रतापवान्
|
पद्म
|
सुखेन
|
चन्द्रगुप्त
|
श्रुति
|
माधवमुनि
|
आचरण
|
हरिनारायण
|
चन्द्रचूड़
|
हरदत्त
|
रमेश
|
कृपाराम
|
बाह्लीक
|
दिनेश

सर्वश्री दिनेश
|
निजानन्द
|
ब्रह्मानन्द
|
सच्चिदानन्द
|
हारीत
|
त्रिलोकराम
|
वररुचि
|
कुण्डल
|
सुरथ
|
सुचेत
|
उदयप्रकाश
|
स्वतः सिद्ध
|
लक्ष्मीदास
|
सुमेरदास

सर्वश्री सुमेरदास
|
हरिगभीर
|
रामऋषि
|
चतुर्भुज
|
भाष्यमुनि
|
रत्ताराम
|
अतीतमुनि
|
वेदमुनि
|
अविनाशीराम
|
श्रीचन्द्राचार्य

※ ※ ※

परिशिष्ट २

श्री श्रीचन्द्राचार्य्यजी

श्रीगुरुदयालजी

|
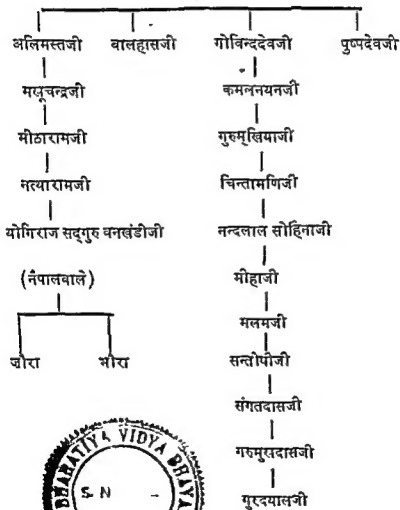
श्यामदासजी

|

भागतरामजी

|

रत्नदासजी

|

मण्डलेश्वर श्री मेलारामजी महाराज

|

श्री योगिराज सद्गुरु बनखंडीजी महाराज,
संस्थापक श्रीसाधुबेला-तीर्थ

× × ×

परिशिष्ट ३

योगिराज सद्गुरु वनखण्डीजी महाराज

- विष्णुदासजी
- स्वामी हरिनारायणदासजी
  - स्वामी जयरामदासजी
    - श्री हरिनामदासजी
      - स्वामी गणेशदासजी
- मोहनदासजी
- हरिप्रसादजी
  - अचलप्रसादजी
- सन्तदासजी